साहित्यालोचन
श्यामसुन्दरदास

साहित्यालोचन
श्यामसुन्दरदास

साहित्य-रत्न-माला

यों तो आजकल हिन्दी में बीसियों पुस्तकमालाएँ निकल रही हैं, पर ऐसी पुस्तकमालाएँ बहुत ही कम हैं जिनकी सभी पुस्तकें विषय, उनकी प्रतिपादन-शैली और भाषा आदि के विचार से उच्च कोटि के साहित्य में स्थान पा सकें। इसी अभाव की पूर्ति के लिये यह पुस्तकमाला प्रकाशित की जा रही है। इस पुस्तकमाला की सभी पुस्तकें सभी दृष्टियों से उच्च कोटि की और स्थायी साहित्य में परिगणित होने के योग्य होंगी। इसमें केवल लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों के लिखे हुए साहित्य, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि उपयोगी विषयों के अच्छे अच्छे ग्रन्थ ही प्रकाशित होंगे। साधारण अनुवाद या भरती की पुस्तकें इसमें नहीं रहेंगी। यह साहित्यालोचन इसी ग्रन्थमाला का पहला ग्रन्थ है। जो लोग १) प्रवेश शुल्क देकर स्थायी ग्राहकों में नाम लिखावेंगे, उनसे पुस्तकों का डाक व्यय न लिया जायगा।

रामचन्द्र वर्म्मा,

साहित्य-रत्न-माला कार्य्यालय,

बनारस सिटी।

Sahitya-ya-Lochana-

साहित्य-रत्न-माला—१

[संरक्षक—श्रीमान् ठाकुर कल्याणसिंह जी शेखावत बी० ए०
जागीरदार खाचरियावास (जयपुर)]

साहित्यालोचन

अर्थात्

साहित्य के अंगों और उपांगों का
विवेचन और निरूपण

लेखक

श्यामसुंदरदास, बी० ए०

(रायबहादुर, फेलो और अध्यापक काशी विश्वविद्यालय, सभापति
और स्थायी सभासद काशी नागरीप्रचारिणी सभा)

प्रकाशक

रामचंद्र वर्म्मा

साहित्य-रत्न-माला कार्यालय, काशी।

Sahity- ~~Ratan~~ mala Kariyala Kashi

चतुर्थ बार 1100 } सं० १९९२ वि० 1992 { मूल्य २)

प्रकाशक—रामचंद्र वर्मा,
साहित्य-रत्न-माला कार्यालय, काशी।

मुद्रक—मा० रा० काले,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस सिटी।

प्रकाशक का निवेदन

प्रायः पाँच छः वर्षों से मेरी इच्छा थी कि मैं कोई पुस्तक-माला निकालूँ। यों तो यह कोई बहुत कठिन काम नहीं था, पर मेरे जैसे आलसी, संतोषी और सब प्रकार की झंझटों से दूर रहकर अपनी अल्प योग्यता के अनुसार, और वह भी केवल जीविका-निर्वाह के उद्देश्य से, मातृ-भाषा की यत्किंचित् सेवा करनेवाले व्यक्ति के लिये अवश्य ही कठिन था। पुस्तकमाला और उसमें प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों के संबंध में मेरे जो अनेक उच्च विचार और आदर्श थे, वे मेरी कठिनता और भी बढ़ा देते थे और पुस्तकमाला का कार्य्य आरंभ करने में और भी बाधक होते थे। एक ओर पुस्तकमाला निकालने के लिये मेरी उत्सुकता बढ़ती जाती थी; और दूसरी ओर कठिनाइयों और बाधाओं का ढेर लगता जाता था। यहाँ तक कि अंत में मैं एक प्रकार से निराश सा हो गया और मैंने समझ लिया कि मेरे किए कुछ भी न हो सकेगा। होता भी कहाँ से? विचार थे बहुत ऊँचे, और साधनों का था बिलकुल टोटा। इसलिये मैंने सोच लिया था कि उच्चाकांक्षाओं का पीछा छोड़कर ज्यों त्यों अपना काम करते चलना ही अच्छा है। कहीं ऐसा न हो कि पुस्तकमाला के फेर में पड़कर साहित्य-सेवा का सौभाग्य भी खो बैठूँ।

पर लोग कहते हैं कि जिस काम की मन को लगन होती है, कभी न कभी उसके साधन भी आपसे आप आकर प्रस्तुत हो जाते हैं। बस ठीक यही बात इस पुस्तकमाला के प्रकाशन के संबंध में भी हुई। प्रायः पाँच मास हुए, श्रद्धेय बा० श्यामसुंदर दास जी ने यों ही मुझसे अपनी इस नवीन पुस्तक 'साहित्यालोचन' का जिक्र किया और उसकी कुछ हस्तलिखित प्रति भी मुझे दिखलाई। बस ऐसी उत्तम और (हिंदी में) अभूतपूर्व पुस्तक देखकर उसे प्रकाशित करने का लोभ मैं संवरण न कर सका। मैंने अपनी यह इच्छा डरते डरते बाबू साहब पर प्रकट की। मुझे डर केवल इस बात का था कि पुस्तकमाला के प्रकाशन-कार्य्य में मैं समर्थ हो सकूँगा या नहीं। बाबू साहब मुझ पर सदा से बहुत अधिक कृपा रखते आए हैं और मुझे अपने छोटे भाई के समान मानते आए हैं। आपने तुरंत बिना कुछ पूछे मेरी प्रार्थना स्वीकृत कर ली और मुझे इस पुस्तक के प्रकाशन की व्यवस्था करने की आज्ञा दी। मैंने भी ज्यों त्यों सब प्रबंध करके इस ग्रंथ-रत्न से अपनी साहित्य-रत्न-माला का आरंभ कर दिया है। मैं चाहता तो यह हूँ कि इस माला में आगे भी इसी कोटि के श्रेष्ठ और स्थायी ग्रंथ प्रकाशित हों और यह माला हिंदी-संसार में एक उच्च स्थान प्राप्त कर ले; पर इस आशा की पूर्त्ति हिंदी-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों और गुणग्राहक पाठकों की कृपा पर ही अवलंबित है।

इस पुस्तकमाला के प्रकाशन का बहुत कुछ श्रेय मेरे मान्य मित्र श्रीमान् ठाकुर कल्याणसिंह जी शेखावत बी० ए० जागीरदार खाचरियावास (जयपुर) को है; क्योंकि यह पुस्तकमाला आपकी आर्थिक सहायता से और आपके संरक्षण में निकल रही है। आप जयपुर और मारवाड़ रियासतों के ताजीमी सरदार और जयपुर के ताजीमी तथा दूसरे सरदारों में पहले ग्रेजुएट हैं। आप अच्छे विद्वान्, गुणग्राही, सदाचारी और प्रबन्ध-कुशल हैं। साहित्य और विशेषतः हिंदी-साहित्य से आपको बहुत प्रेम है और आपने हिंदी में समय-दर्शन, आनंद की पगडंडियाँ, जातियों को संदेश, एशिया में प्रभात, पूर्व और पश्चिम आदि कई ग्रन्थों का अनुवाद और रचना की है। अपनी रियासत में आपने अपनी प्रजा के कल्याण के लिये स्कूल, चिकित्सालय और अनाथालय स्थापित किया है। अपनी दयालुता के लिये आप बहुत प्रसिद्ध हैं, क्योंकि आपने कई बार प्लेग और हैजे आदि के समय स्वयं घर घर झोंपड़ी झोंपड़ी में जाकर रोगियों की सेवा-शुश्रूषा की है। आपसे हिंदी साहित्य के बहुत कुछ उपकार और वृद्धि होने की आशा है। ऐसे सज्जन की कृपा और सहायता से, आशा है, यह पुस्तकमाला मेरे विचारों के अनुसार शीघ्र ही हिंदी संसार में एक उच्च स्थान प्राप्त करेगी।

काशी
माघ कृष्ण ७
सं १९७९

निवेदक
रामचंद्र वर्मा।

भूमिका

बहुत दिनों से मेरे अनेक मित्रों का यह आग्रह था और स्वयं मेरी भी यह इच्छा थी कि मैं गद्य में कोई अच्छा ग्रंथ लिखूँ; परंतु अनेक कार्यों की झंझटों के कारण मुझे इतना अवकाश ही नहीं मिलता था कि मैं नित्य प्रति के कामों से समय बचा कर उसे किसी ग्रंथ के लिखने में लगाता। मेरा आठ वर्ष का लखनऊ का प्रवास तो इन झंझटों को बढ़ाने ही का कारण हुआ। जिन्हें इस बात का अनुभव होगा, वे जानते होंगे कि एक हेड मास्टर को, और विशेष कर एक ऐसे हेड मास्टर को जिसके स्कूल के साथ छात्रावास भी लगा हो, सवेरे से लेकर संध्या तक का समय किस प्रकार बिताना पड़ता है और अंत में रात्रि को वह कितना शिथिल और अकर्मण्य सा हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह स्वयं उस स्कूल के विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिये आदर्श हो जाता है और पाठशाला रूपी कुल का कुलपति माना जाता है। ऐसो स्थिति उसकी अपनी उन्नति की बाधक ही हो सकती है, सहायक नहीं। इस अवस्था में रहकर यदि मैं न तो अपनी इच्छा पूरी कर सका और न अपने मित्रों के आग्रह का ही पालन कर सका, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सन् १९२१ में मेरे काशी लौट आने पर पूज्यपाद पंडित मदनमोहन जी मालवीय ने मुझे काशी विश्व-विद्यालय में हिंदी

की पढ़ाई की व्यवस्था ठीक करने और उसे उन्नति तथा उत्तेजना देने के लिये आमंत्रित किया। अपने अनुकूल कार्य पाकर मुझे आनंद और संतोष हुआ। सन् १६२२ तक का समय तो सब व्यवस्था के ठीक करने में लग गया और गत जूलाई से एफ० ए०, बी० ए० और एम० ए० में हिंदी की पढ़ाई आरंभ करने का निश्चय हो गया। एम० ए० के पाठक्रम में तीन विषय ऐसे रखे गए जिनके लिये उपयुक्त पुस्तकें नहीं थीं। वे विषय थे भारतवर्ष का भाषा-विज्ञान, हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास, और साहित्यिक आलोचना। इन तीनों विषयों के लिये अनेक पुस्तकों के नामों का निर्देश कर दिया गया जिनकी सहायता से इन विषयों का पठन-पाठन हो सके; परंतु आधार-स्वरूप कोई मुख्य ग्रंथ न बताया जा सका। सब से पहले मैंने साहित्यिक आलोचना का विषय चुना और उसके लिये जिन पुस्तकों का निर्देश किया गया था, उन्हें देखना आरंभ किया। मुझे शीघ्र ही अनुभव हुआ कि इस विषय का भली भाँति अध्ययन करने के लिये यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को पहले आलोचना के तत्वों का आरंभिक ज्ञान करा दिया जाय। इसके लिये मैंने सामग्री एकत्र करना आरंभ किया और संपूर्ण ग्रंथ के परिच्छेदों का क्रम, विषय का विभाग आदि अपने मन में बनाकर उसे लिखना आरंभ किया। इधर मैं लिखता जाता था और उधर उसको पढ़ाता जाता था। इससे लाभ यह था कि मुझे साथ ही साथ इस बात का अनुभव होता जाता था कि

विद्यार्थियों को विषय के हृदयंगम करने में कहाँ कठिनता होती है और कहाँ अधिक विस्तार या संकोच की अपेक्षा है। इस अनुभव के अनुसार मैं लिखे हुए अंश को सुधारने में भी समर्थ होता था। इस प्रकार यह ग्रंथ क्रमशः प्रस्तुत हो गया और मुझे अपनी इच्छा पूरी करने तथा अपने मित्रों का आग्रह पालन करने का अवसर मिल गया।

इस पुस्तक के प्रस्तुत करने में मैंने जिन जिन पुस्तकों से सहायता ली है, उनके नाम आरम्भ में दे दिए गए हैं। उनके देखने से यह विदित हो जायगा कि इस ग्रंथ के प्रस्तुत करने में मुझे विशेष परिश्रम करना पड़ा है। मेरा उद्देश्य इस ग्रंथ को लिखने में यह रहा है कि भारतीय तथा युरोपीय विद्वानों ने आलोचना के संबंध में जो कुछ लिखा है, उसके तत्वों को लेकर इस रूप से सजा दूँ कि जिसमें हिंदी के विद्यार्थियों को किसी ग्रंथ के गुण-दोष की परख करने और साथ ही ग्रंथ-निर्माण या काव्य-रचना में कौशल प्राप्त करने अथवा दोषों से बचने में सहायता मिल जाय। इस दृष्टि से मैं कह सकता हूँ कि इस ग्रंथ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है। परंतु उस सामग्री को सजाने, विषय को प्रतिपादित करने तथा उसे हिंदी भाषा में व्यंजित करने में मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है। अतएव मैं कह सकता हूँ कि एक दृष्टि से यह ग्रंथ मौलिक और दूसरी दृष्टि से दूसरे ग्रंथों का निचोड़ है। सारांश यह है कि ग्रंथ की भाषा और विषय के प्रतिपादित करने का ढंग मेरा है; परंतु

विचारों के संग्रह में मैंने बिना किसी संकोच के अनेक ग्रंथों से अमूल्य सहायता ली है; और भारतीय तथा युरोपीय सिद्धांतों को मिलाने का यथाशक्ति उद्योग किया है।

मौलिकता का नाम लेकर आजकल बड़ा अन्याय और अत्याचार हो रहा है। मौलिक शब्द की ध्वनि तो चारों ओर सुन पड़ती है, पर यह समझ में नहीं आता कि मौलिकता से अभिप्राय क्या है। विचारों की मौलिकता और उन्हें व्यंजित करने की मौलिकता एक दूसरी से भिन्न हैं। साहित्य में मौलिकता से अभिप्राय विचार और शैली दोनों की व्यक्तिगत विशेषता से है। एक व्यक्ति कुछ विचार करता है और कुछ मत स्थिर करता है। दूसरा उन विचारों को और भी परिमार्जित और संस्कृत करके आगे बढ़ता और अपने अन्य विचारों की छाप से उन्हें नया रूप देने में समर्थ होता है। इसकी सच्ची कसौटी तो यह है कि उसने संसार के ज्ञान-भांडार को कुछ बढ़ाया या नहीं। यदि वह उसमें वृद्धि करने में समर्थ होता है, तो अवश्य वह अपनी सच्ची मौलिकता का परिचय देता है। शैली की मौलिकता विचारों की मौलिकता से भिन्न और सरल है। दूसरों के विचारों को लेकर अपने ढंग पर उन्हें सजाना और उन्हें अपनी विशेषता की छाप से अंकित कर अपनी ही व्यक्तिगत भाषा में व्यक्त करना शैली की मौलिकता है। अतएव किसी ग्रंथ की मौलिकता के संबंध में दोनों बातों का विचार करना आवश्यक है। जहाँ दोनों गुण वर्त्तमान हों, वहाँ तो कुछ आगा-

पीक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं है; पर जहाँ विवेचन का ढंग दूसरे का हो, विचारों की शृंखला दूसरे की हो, उनके सजाने का ढंग भी अपना न हो, और केवल भाषा में रूपांतर मात्र हुआ हो, वहाँ मौलिकता की झलक का भी मिलना असंभव है।

मेरे इस ग्रंथ में मौलिकता कितनी है तथा दूसरों की प्रतिछाया कितनी है और कहाँ तक मैं अपने उद्योग में सफल हुआ हूँ, इसका निश्चय करना विद्वानों का काम है। मुझे तो केवल इसी बात से संतोष हो जायगा, यदि यह ग्रंथ पथ-प्रदर्शक का काम देकर अन्य विद्वानों को इस विषय के उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखने के लिये उत्साहित कर सके। साहित्यिक आलोचना का यह प्रारंभिक ग्रंथ है। यह केवल उस गहन विषय के लिये प्रस्तावना का काम दे सकता है। इसके भिन्न भिन्न अध्यायों पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। मुझे आशा है कि हिंदी के प्रेमी विद्वान् साहित्य के इस अंग की पुष्टि की ओर अवश्य ध्यान देंगे।

इस ग्रंथ का अभी थोड़ा ही, लगभग तृतीयांश ही, लिखा गया था कि मेरे स्नेह-भाजन बाबू रामचंद्र वर्म्मा ने अपनी नवोदित साहित्य-रत्न-माला में इसे पहला मनका बना कर गूँथने का संकल्प प्रकट किया। मैंने उसी समय उनकी इच्छा की पूर्ति का निश्चय कर लिया; पर मैं यह नहीं जानता था कि "हाँ" कर देने ही में मुझे कितनी आपत्तियों और कठिना-

इयों का सामना करना पड़ेगा। उन्होंने गत नवंबर मास में इस ग्रंथ के लिखित अंश को लेकर छपवाना आरंभ कर दिया और शेष अंश के लिये तगादा होना आरंभ हो गया। इस तगादे ने क्रमशः विकट रूप धारण किया; और उधर समय के अभाव ने रुकावटें डालना आरंभ कर दिया। इस स्थिति में कई सप्ताह तक रहने के कारण मैं बाबू रामचंद्र वर्म्मा को धन्यवाद तो दे ही नहीं सकता; परंतु साथ ही अब जब कि यह ग्रंथ समाप्त हो गया है, मुझे इस बात का स्वीकार करने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं है कि यदि उनका कड़ा तगादा न होता, वे मुझे निरंतर उत्साहित न करते, सामग्री आदि का संग्रह करने में मेरी सहायता न करते, तो यह भी केवल संभव ही नहीं बल्कि एक प्रकार से निश्चित था कि यह ग्रंथ अभी कई महीनों तक समाप्त न होता। यहाँ पर एक निवेदन और कर देना उचित जान पड़ता है। जब मैंने इस ग्रंथ को लिखना आरंभ किया था, तब मैंने सोचा था कि मैं इसे लगभग २०० पृष्ठों में समाप्त कर दूँगा; पर ज्यों ज्यों इसकी तैयारी होती गई, त्यों त्यों इसका आकार बढ़ता गया और अंत में यह मेरे पूर्व-निश्चित संकल्प से दूना हो गया। फिर भी संचित सामग्री में से बहुत कुछ बच रहा और उसका उपयोग न हो सका। यदि सब सामग्री का पूरा पूरा उपयोग किया जाता, तो इस ग्रंथ का आकार इससे ड्योढ़ा तो अवश्य हो जाता। पर ऐसा करना मेरे उद्देश्य के अनुकूल न था। अब यदि

विज्ञ पाठक और समालोचक महोदय मुझे इस ग्रंथ की त्रुटियाँ बताकर इसके सुधारने का परामर्श देंगे, तो आशा है कि दूसरे संस्करण में, यदि इसका सौभाग्य इसे शीघ्र प्राप्त हो सका तो, उनसे लाभ उठाने में अपने को धन्य मानूँगा।

इस ग्रंथ के पहले चार अध्यायों को कृपापूर्वक पढ़कर और उन्हें सुधारने का परामर्श देकर पूज्य पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने मेरा बड़ा उपकार किया है; इसलिये मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ। यदि वे इसे छपने के पहले एक वेर आदि से अंत तक पढ़ जाते तो मैं अत्यंत उपकृत होता; पर न तो उनकी अस्वस्थता के कारण मुझे उन्हें इतना कष्ट देने का साहस ही हुआ और न बाबू रामचंद्र वर्म्मा इसके लिये आवश्यक अवकाश देने में ही सहमत हुए। फिर भी मैं कृतज्ञतापूर्वक इतना अवश्य स्वीकार करता हूँ कि श्रद्धेय द्विवेदी जी के परामर्शों से मैंने पूरा लाभ उठाया है और उनके अनुसार ग्रंथ के शेष अंश को प्रस्तुत करने का उद्योग किया है।

पंडित रामचंद्र शुक्ल को भी मैं धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता। उन्होंने पूर्वांश की तैयारी में मुझे उचित परामर्श देकर तथा एक वेर उसे पढ़कर मुझे उपकृत किया है।

यह इस ग्रंथ के आरंभ, प्रणयन तथा समाप्ति की कथा है। इस उद्योग में मैं कहाँ तक कृतकार्य हुआ हूँ, यह तो हिंदी के विद्वान् ही बतावेंगे; पर मैं इतना कहे बिना नहीं रह सकता कि मुझे अपनी कृति पर सर्वथा संतोष और आनन्द है। परंतु

वास्तविक आनंद और संतोष तभी हो सकता है जब यह दूसरों को भी संतुष्ट और आनंदित करने तथा विद्यार्थियों का उपकार करने में समर्थ हो। जगन्नियंता जगदीश्वर मेरी यह आशा और प्रार्थना भी पूरी करे।

काशी
माघ कृ० ७,
सं० १९७९ वि०

श्यामसुंदर दास।

विषय-सूची
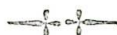
पहला अध्याय

कला का विवेचन

सृष्टि की उपयोगिता और सुंदरता—कला और उसके विभाग—ललित कलाओं का आधार—ललित कलाओं के आधार तत्व—वास्तु-कला—मूर्ति-कला—चित्र-कला—संगीत-कला—काव्य-कला—ललित कलाओं का ज्ञान—काव्य-कला की विशेषता—काव्य-कला में पुस्तकों का महत्व—काव्य का महत्व ... ... पृष्ठ १ से १८

दूसरा अध्याय

काव्य का विवेचन

काव्य की परिभाषा—काव्य और मानव जीवन—काव्य और मनोवृत्ति—काव्य के विषय—काव्य के विभाग—काव्य और व्यक्तित्व—ग्रंथ और ग्रंथकर्ता—समयानुक्रम रचना-प्रणाली—तुलनात्मक प्रणाली—जीवन-चरित—श्रद्धा—रचना-शैली ... ... पृष्ठ १९ से ४५

तीसरा अध्याय

साहित्य का विवेचन

साहित्य और जातीयता—जातीय साहित्य—साहित्य और काल की

प्रकृति—साहित्य का विकास—जातीय साहित्य का अध्ययन—साहित्य पर विदेशी प्रभाव—शैली और साहित्य—साहित्य-संबंधी शास्त्र ... पृष्ठ ४६ से ६७

चौथा अध्याय

कविता का विवेचन

कविता और पद्य—कविता के लक्षण—कविता का स्वरूप—कविता और वृत्त—कविता और विज्ञान—कवि-कल्पना में सत्यता—कविता और प्रकृति—कविता की व्यंजना शक्ति—कवियों के महत्व का आदर्श—कविता के विभाग ... ... पृष्ठ ६८ से ११३

पाँचवाँ अध्याय

गद्य-काव्य का विवेचन

नाटक आर उपन्यास—उपन्यास के तत्व—वस्तु—पात्र—वस्तु और पात्र का संबंध—कथोपकथन—उपन्यास और रस—देश और काल—उद्देश्य—जीवन की व्याख्या—उपन्यास में सत्यता—वास्तविकता—उपन्यास में नीति—आख्यायिका या कहानी—आख्यायिका का रूप—आख्यायिका-रचना के सिद्धांत—उद्देश्य या लक्ष्य—निबंध ... पृष्ठ ११४ से १६९

छठा अध्याय

दृश्य-काव्य का विकास

परिभाषा—उत्पत्ति—नाटकों का आरंभ—वीर-पूजा—भारतीय नाट्य-

साहित्य की सृष्टि—कठपुतली का नाच—सूत्रधार और स्थापक—छाया नाटक—भारतीय नाट्य-शास्त्र का विकास—भारतीय रंगशाला—भारतीय नाट्य-कला की कुछ बातें—नाट्य-शास्त्र की प्राचीनता—भारतीय नाट्य-कला का इतिहास—भारतीय नाट्य-कला पर यूनानी प्रभाव—यूनानी नाट्य-कला का विकास—यूनानी सुखांत नाटक—रोमन नाटक—यूरोप के नाटक—अँगरेजी नाटक—मिस्र के नाटक—चीन के नाटक—आधुनिक भारतीय नाटक—हिंदी नाटक—हिंदी रंगशाला ... पृष्ठ १७० से २२७

सातवाँ अध्याय

दृश्य-काव्य का विवेचन

नाटक और उपन्यास—नाटकों की विशेषता—नाटक के छः तत्व—वस्तु—पात्र—कथोपकथन—कथोपकथन के प्रकार—स्वगत कथन—आकाश-भाषित—संकलनत्रय—काल संकलन—स्थल संकलन—उद्देश्य—नाटक-रचना के सिद्धांत—कथावस्तु के विभाग—रूपक के भेद—उपरूपक

पृष्ठ २२८ से २७२

आठवाँ अध्याय

रसों का विवेचन

काव्य के तत्व—अंतःकरण की वृत्तियाँ—बुद्धि—कल्पना-तत्व—मनोवेग या भाव—भावों के प्रकार—इंद्रिय-जनित भाव—प्रज्ञात्मक भाव—गुणात्मक भाव—रस-निरूपण—स्थायी भाव—रसों तथा स्थायी भावों की संख्या—भावाभास तथा रसाभास—व्यभिचारी भाव—विभाव—अनुभाव

पृष्ठ २७३ से ३१२

नवाँ अध्याय

शैली का विवेचन

शैली का रूप—शब्दों का महत्व—वाक्यों की विशेषता—भारतीय शैली के आधार—अलंकारों का स्थान—पद-विन्यास—शैली के गुण—वृत्ति—उपसंहार ... ... पृष्ठ ३१३ से ३४२

दसवाँ अध्याय

साहित्य की आलोचना

आलोचना के कार्य्य—आलोचना का उद्देश्य—आलोचक के आवश्यक गुण—तुलनात्मक आलोचना—आलोचना और साहित्य-वृद्धि—आलोचना और उपयोगिता—मत-परिवर्तन—स्थायी साहित्य के गुण—उपसंहार...
पृष्ठ ३४३ से ३६९

अनुक्रमणिका ... ... १ से १५

साहित्यालोचन

साहित्यालोचन
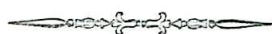
पहला अध्याय

कला का विवेचन

प्राकृतिक सृष्टि में जो कुछ देखा जाता है, किसी न किसी रूप में वह सभी उपयोग में आता है। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है जिसमें उपादेयता का गुण वर्तमान न हो। यह संभव है कि बहुत सी वस्तुओं के गुणों को हम अभी तक न जान सके हों। पर ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, हम उनके गुण अधिकाधिक जानते जाते हैं। प्राकृतिक पदार्थों में उपयोगिता के अतिरिक्त एक और भी गुण पाया जाता है। वह उनका सौंदर्य है। फल-फूलों, पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, नदी-नालों, नक्षत्र-तारों आदि सभी में हम किसी न किसी प्रकार का सौंदर्य पाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संसार में अनुपयोगिता और कुरूपता का अस्तित्व ही नहीं। उपयोगिता और अनुपयोगिता, सुरूपता और कुरूपता सापेक्षिक गुण हैं।

सृष्टि की उपयोगिता और सुंदरता

एक के अस्तित्व से ही दूसरे का अस्तित्व प्रकट होता है। एक के विना दूसरे गुण का भाव ही मन में उत्पन्न नहीं हो सकता। पर साधारणतः जहाँ तक मनुष्य की सामान्य बुद्धि जाती है, प्रकृति में उपयोगिता और सुंदरता चारों ओर दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थों में भी हम उपयोगिता और सुंदरता पाते हैं। एक झोंपड़ी को लीजिए। वह शीत से, आतप से, वृष्टि से, वायु से हमारी रक्षा करती है। यही उसकी उपयोगिता है। यदि उस झोंपड़ी के बनाने में हम बुद्धि-बल से अपने हाथ का अधिक कौशल दिखाने में समर्थ होते हैं तो वही झोंपड़ी सुंदरता का गुण भी धारण कर लेती है। इससे उपयोगिता के साथ-ही साथ उसमें सुंदरता भी आ जाती है।

कला और उसके विभाग

जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुंदरता आती है, उसकी "कला" संज्ञा है। कला के दो प्रकार हैं—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। उपयोगी कला में बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कला के अंतर्गत वास्तु-कला, मूर्त्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला—ये पाँच कला-भेद हैं। पहली अर्थात् उपयोगी कलाओं के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और दूसरी अर्थात् ललित कलाओं के द्वारा

उसके अलौकिक आनंद की सिद्धि होती है। दोनों ही उसकी उन्नति और विकास के द्योतक हैं। भेद इतना ही है कि एक का संबंध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक उन्नति से है और दूसरी का उसके मानसिक विकास से।

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो, वह सुन्दर भी हो। परंतु मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। वह सभी उपयोगी वस्तुओं को यथा-शक्ति सुन्दर बनाने का उद्योग करता है। अतएव बहुत से पदार्थ ऐसे हैं जो उपयोगी भी हैं और सुन्दर भी हैं, अर्थात् वे दोनों श्रेणियों के अन्तर्गत आ सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो शुद्ध उपयोगी तो नहीं कहे जा सकते, पर उनके सुन्दर होने में संदेह नहीं।

खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, रहने-बैठने, आने-जाने आदि के सुभीते के लिये मनुष्य को अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये उपयोगी कलाएँ अस्तित्व में आती हैं। मनुष्य ज्यों ज्यों सभ्यता की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों त्यों उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। इस उन्नति के साथ ही साथ मनुष्य का सौंदर्य-ज्ञान भी बढ़ता है और उसे अपनी मानसिक तृप्ति के लिये सुन्दरता का आविर्भाव करना पड़ता है। बिना ऐसा किए उसकी मनस्तृप्ति नहीं हो सकती। जिस पदार्थ के दर्शन से मन प्रसन्न नहीं होता, वह सुन्दर नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न देशों के लोग अपनी अपनी सभ्यता की कसौटी

के अनुसार ही सुन्दरता का आदर्श स्थिर करते हैं, क्योंकि सब का मन एक सा संस्कृत नहीं होता।

ललित कलाओं का आधार

ललित कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो वे जो नेत्रेंद्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं, और दूसरी वे जो श्रवणेंद्रिय के सन्निकर्ष से उस तृप्ति का साधन बनती हैं। इस विचार से वास्तु (मंदिर-निर्म्माण), मूर्त्ति (अर्थात् तक्षण-कला) और चित्र कलाएँ तो नेत्र द्वारा तृप्ति का विधान करनेवाली हैं और संगीत तथा श्रव्य काव्य कानों के द्वारा*। पहली कला में किसी मूर्त आधार की आवश्यकता होती है, पर दूसरी में उसकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। इस मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ही ललित कलाओं की श्रेणियाँ, उत्तम और मध्यम, स्थिर की गई हैं। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम रहेगा, उतनी ही उच्च कोटि की वह समझी जायगी। इसी भाव के अनुसार हम काव्य-कला को सब से ऊँचा स्थान देते हैं, क्योंकि उसमें मूर्त आधार का एक प्रकार से

---

* काव्य के दो भेद हैं—श्रव्य और दृश्य। रूपकाभिनय अर्थात् दृश्य काव्य आँखों का ही विषय है। कान और नेत्र दोनों से उसकी उपलब्धि होती अवश्य है, पर उसमें दृश्यता प्रधान है। शकुंतला को सामने देख और उसके मुँह से उसका वक्तव्य सुन, दोनों के योग से हृदय में जिस आनंद का अनुभव होता है, वह केवल पुस्तक में लिखा हुआ उसका वक्तव्य पढ़कर नहीं होता।

पूर्ण अभाव रहता है, और इसी के अनुसार हम वास्तु-कला को सब से नीचा स्थान देते हैं, क्योंकि मूर्त के आधार की विशेषता के बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं। सच पूछिए तो इस आधार को सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तु-कला को कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनंतर दूसरा स्थान मूर्ति कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है, परंतु मूर्तिकार किसी प्रस्तर-खंड या धातु-खंड को ऐसा रूप देता है जो उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह उस प्रस्तर-खंड या धातु-खंड में सजीवता की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है। मूर्ति-कला के अनंतर तीसरा स्थान चित्र-कला का है और उसका भी आधार मूर्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त अर्थात् साकार पदार्थ में लंबाई, चौड़ाई और मुटाई होती है। वास्तुकार अर्थात् भवन-निम्र्माणकर्त्ता और मूर्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिये मूर्त आकार के पूर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है। परंतु चित्रकार को अपने चित्र-पट के लिये लंबाई और चौड़ाई का ही आधार लेना पड़ता है, मुटाई तो चित्र में नाम मात्र ही को होती है। तात्पर्य यह कि ज्यों ज्यों हम ललित कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं, त्यों त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है। चित्रकार अपने चित्रपट पर किसी मूर्त पदार्थ का प्रतिबिंब अंकित कर देता है जो असली वस्तु के रूप-रंग आदि के समान ही देख पड़ता है।

अब संगीत के विषय में विचार कीजिए। संगीत में नाद का

परिमाण अर्थात् स्वरों का आरोह और अवरोह (उतार-चढ़ाव) ही उसका मूर्त आधार होता है। उसे सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न भिन्न रसों और भावों का आविर्भाव होता है। अन्तिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्य-कला का है। उसमें मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव शब्द-समूहों या वाक्यों से होता है, जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता; पर शब्द की रमणीयता आने से संगीत के सदृश ही नाद-सौंदर्य-रूप मूर्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्य कला में पाश्चात्य काव्य-कला की अपेक्षा नाद-रूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है। पर यह अर्थ की रमणीयता के समान काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। अर्थ की रमणीयता काव्य-कला का प्रधान गुण है और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे ललित कलाओं के संबंध में नीचे लिखी बातें ज्ञात होती हैं—(१) सब कलाओं में किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है। ये आधार ईंट-पत्थर के टुकड़ों से लेकर शब्द-संकेतों तक हो सकते हैं। इस लक्षण में अपवाद इतना ही है कि अर्थ-रमणीय काव्य-कला में इस आधार का अस्तित्व नहीं रहता। (२) जिन उपकरणों द्वारा इन कलाओं का सन्निकर्ष मन से होता है, वे चक्षुरिंद्रिय और

ललित कलाओं के आधार तत्त्व

कर्णेंद्रिय हैं। (२) ये आधार और उपकरण केवल एक प्रकार के मध्यस्थ का काम देते हैं जिनके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुननेवाले के मन से संबंध स्थापित करता है और अपने भावों को उस तक पहुँचा कर उसे प्रभावित करता है, अर्थात् सुनने या देखनेवाले का मन अपने मन के सदृश कर देता है। अतएव यह सिद्धांत निकला कि ललित कला वह वस्तु या वह कारीगरी है जिसका अनुभव इंद्रियों की मध्यस्थता द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियाँ प्राप्त करती हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि ललित कलाएँ मानसिक दृष्टि में सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।

इस लक्षण को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक ललित कला के संबंध में नीचे लिखी तीन बातों पर विचार करें—(१) उनका मूर्त आधार, (२) वह साधन जिसके द्वारा यह आधार गोचर होता है, और (३) मानसिक दृष्टि में नित्य पदार्थ का जो प्रत्यक्षीकरण होता है, वह कैसा और कितना है।

वास्तु-कला में मूर्त आधार निकृष्ट होता है अर्थात् ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि जिनसे इमारतें बनाई जाती हैं।

वास्तु-कला

ये सब पदार्थ मूर्त हैं, अतएव इनका प्रभाव आँखों पर वैसा ही पड़ता है जैसा कि किसी दूसरे मूर्त पदार्थ का पड़ सकता है। प्रकाश, छाया, रंग, प्राकृतिक स्थिति आदि साधन कला के सभी उत्पादकों को

उपलब्ध रहते हैं। वे उनका उपयोग सुगमता से करके आँखों के द्वारा दर्शक के मन पर अपनी कृति की छाप डाल सकते हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो उन्हें जीवित पदार्थों की गति आदि प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं होती; दूसरे उनकी कृति में रूप, रंग, आकार आदि के वे ही गुण वर्त्तमान रहते हैं जो अन्य निर्जीव पदार्थों में रहते हैं। यह सब होने पर भी जो कुछ वे प्रदर्शित करते हैं, उनमें स्वाभाविक अनुरूपता होने पर भी मानसिक भावों की प्रतिछाया प्रस्तुत रहती है। किसी इमारत को देखकर सज्ञान जन सुगमता से कह सकते हैं कि यह मंदिर, मसजिद या गिर्जा है अथवा यह महल या मकबरा है। विशेषज्ञ यह भी बता सकते हैं कि इसमें हिन्दू, मुसलमान अथवा यूनानी वास्तु-कला की प्रधानता है। धर्मस्थानों में भिन्न भिन्न जातियों के धार्मिक विचारों के अनुकूल उनके धार्मिक विश्वासों के निदर्शक कलश, गुंबद, मिहराबें, जालियाँ, झरोखे आदि बनाकर वास्तुकार अपने मानसिक भावों को स्पष्ट कर दिखाता है। यही उसके मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण है। परंतु इस कला में मूर्त पदार्थों का इतना बाहुल्य रहता है कि दर्शक उन्हीं को प्रत्यक्ष देखकर प्रभावित और आनंदित होता है, चाहे वे पदार्थ वास्तुकार के मानसिक भावों के यथार्थ निदर्शक हों चाहे न हों, अथवा दर्शक उनके समझने में समर्थ हों या न हों।

मूर्ति-कला में मूर्त आधार, पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी

आदि के टुकड़े होते हैं जिन्हें मूर्तिकार काट छाँटकर या ढाल-कर अपने अभीष्ट आकार में परिणत करता है।

मूर्त्ति-कला

मूर्तिकार की छेनी में असली सजीव या निर्जीव पदार्थ के सब गुण अन्तर्हित रहते हैं। वह सब कुछ, अर्थात् रंग, रूप, आकार आदि, प्रदर्शित कर सकता है; केवल गति देना उसकी सामर्थ्य के बाहर रहता है, जब तक कि वह किसी कल-पुर्जे का आवश्यक उपयोग न करे। परंतु ऐसा करना उसकी कला की सीमा के बाहर है। इसलिये वास्तुकार से मूर्त्तिकार की स्थिति अधिक महत्त्व की है। उसमें मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता है। मूर्तिकार अपने प्रस्तर-खंड या धातु-खंड में जीवधारियों की प्रतिछाया बड़ी सुगमता से संघटित कर सकता है। यही कारण है कि मूर्त्ति-कला का मुख्य उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुंदरता प्रदर्शित करना है।

चित्र-कला का आधार कपड़े, कागज, लकड़ी आदि का चित्रपट है, जिसपर चित्रकार अपने बुरुश या कलम की सहायता से भिन्न भिन्न पदार्थों या जीवधारियों के प्राकृतिक रूप, रंग और आकार आदि का अनुभव कराता है। परन्तु मूर्त्तिकार की अपेक्षा उसे मूर्त आधार का आश्रय कम रहता है। इसी से उसे अपनी कला की खूबी दिखाने के लिये अधिक कौशल से काम करना पड़ता

चित्र-कला

है। वह अपने बुरुश या कलम से, समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, लघुता, दूरी और नैकट्य आदि दिखाता है। वास्तविक पदार्थ को दर्शक जिस परिस्थिति में देखता है, उसी के अनुसार अङ्कन द्वारा वह अपने चित्रपट पर एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जिसे देखकर दर्शक को चित्रगत वस्तु असली वस्तु सी जान पड़ने लगती है। इस प्रकार वास्तुकार और मूर्त्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अपनी कला के ही द्वारा मानसिक सृष्टि उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। उसकी कृति में मूर्त्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। कोई ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य अंकित करने में चित्रकार को केवल उस घटना या दृश्य के बाहरी अंगों को ही जानना और अंकित करना आवश्यक नहीं होता, बल्कि उसे अपने विचार के अनुसार उस घटना या दृश्य को सजीवता देने और मनुष्य या प्रकृति की भाव-भंगी का प्रतिरूप आँखों के सामने खड़ा करने के लिये, अपना बुरुश चलाना और परोक्ष रूप से अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र सा प्रस्तुत करना पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस कला में मूर्तता का अंश थोड़ा और मानसिकता का बहुत अधिक होता है।

यहाँ तक तो उन कलाओं के संबंध में विचार किया गया, जो आँखों द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। अब अवशिष्ट दो ललित कलाओं, अर्थात् संगीत और काव्य पर विचार किया जायगा, जो कर्ण द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं।

इन दोनों में मूर्त आधार की न्यूनता और मानसिक भावना की अधिकता रहती है।

संगीत-कला

संगीत का आधार नाद है जिसे या तो मनुष्य अपने कंठ से या कई प्रकार के यंत्रों द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धान्तों के स्थिरीकरण में मनुष्य-समाज को अनंत समय लगा है। संगीत के सप्त स्वर इन सिद्धान्तों के आधार हैं। वे ही संगीत-कला के प्राण रूप या मूल कारण हैं। इससे स्पष्ट है कि संगीत-कला का आधार या संवाहक नाद है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भाव प्रकट करते हैं। संगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बड़ा विस्तृत है और वह प्रभाव अनादि काल से मनुष्य मात्र की आत्मा पर पड़ता चला आ रहा है। जंगली से जंगली मनुष्य से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव के वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिए, पशु-पक्षी तक उसका अनुशासन मानते हैं। संगीत हमें रुला सकता है, हमें हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनंद की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमें शोक-सागर में डुबा सकता है, हमें क्रोध या उद्वेग के वशीभूत करके उन्मत्त बना सकता है, शांत रस का प्रवाह बहाकर हमारे हृदय में शांति की धारा बहा सकता है। परंतु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही संगीत की भी सीमा है। संगीत द्वारा भिन्न भिन्न भावों या दृश्यों का

अनुभव कानों की मध्यस्थता से मन को कराया जा सकता है, उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की खड़खड़ाहट, पक्षियों का कलरव, हमारे कर्ण-कुहरों में पहुँचाया जा सकता है। परंतु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रचंड वेग, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट तथा समुद्र की लहरों के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुनकर उन्हें पहचान लें तो यह बात संगीत-कला की सीमा के बाहर है। संगीत का उद्देश्य हमारी आत्मा को प्रभावित करना है; और इसमें यह कला इतनी सफल हुई है जितनी, काव्य-कला को छोड़कर, और कोई कला नहीं हुई। संगीत हमारे मन को अपने इच्छानुसार चंचल कर सकता है, और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह कला वास्तु, मूर्ति और चित्र-कला से बढ़कर है। एक बात यहाँ और जान लेना अत्यंत आवश्यक है। वह यह कि संगीत-कला और काव्य-कला में परस्पर बड़ा घनिष्ट संबंध है। उनमें अन्योन्याश्रय-भाव है, एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।

ललित कलाओं में सब से ऊँचा स्थान काव्य-कला का है। इसका आधार कोई मूर्त पदार्थ नहीं होता। यह शाब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है।

काव्य-कला

मन को इसका ज्ञान चक्षुरिंद्रिय या कर्णेन्द्रिय द्वारा होता है। मस्तिष्क तक अपना प्रभाव पहुँचाने में इस कला के लिये किसी दूसरे साधन के अवलंबन की आवश्यकता नहीं

होती।) कानों या आँखों को शब्दों का ज्ञान सहज ही हो जाता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की घटनाओं और प्रकृति के बाहरी दृश्यों के जो काल्पनिक रूप इंद्रियों द्वारा मस्तिष्क या मन पर अङ्कित होते हैं, वे केवल भावमय होते हैं, और उन भावों के द्योतक कुछ सांकेतिक शब्द हैं। अतएव (भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री है, जिसके द्वारा काव्य-कला-विशारद दूसरे के मन से अपना संबंध स्थापित करता है। इस संबंध-स्थापना की वाहक या सहायक भाषा है जिसका कवि उपयोग करता है।

ललित-कलाओं का ज्ञान

अपने को छोड़कर अथवा अपने से भिन्न संसार में जितने वास्तविक पदार्थ आदि हैं, उनका विचार हम दो प्रकार से करते हैं। अर्थात् हम अपनी जाग्रत अवस्था में समस्त सांसारिक पदार्थों का अनुभव दो प्रकार से प्राप्त करते हैं—एक तो ज्ञानेंद्रियों द्वारा उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति से और दूसरे उन भाव-चित्रों द्वारा जो हमारे मस्तिष्क या मन तक सदा पहुँचते रहते हैं। मैं अपने बगीचे के बरामदे में बैठा हूँ। उस समय जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, उस स्थान का, पेड़ों का, फूलों का, फलों का, अर्थात् मेरे दृष्टि-पथ में जो कुछ आता है, उन सब का, मुझे साक्षात् अनुभव या ज्ञान होता है। कल्पना कीजिए कि इसी बीच में मेरा ध्यान किसी और सुन्दर बगीचे की ओर चला गया जिसे मैंने कुछ दिन पहले कहीं देखा था अथवा जिसकी कल्पना मैंने अपने मन में

ही कर ली। उस दशा में इन बगीचों में मेरे पूर्व अनुभवों या उनसे जनित भावों का संमिश्रण रहेगा। अतएव पहले प्रकार के ज्ञान को हम बाह्य ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष संबंध उन सब पदार्थों या जीवों से है जो मेरे अतिरिक्त वर्तमान हैं और जिनका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा होता है। दूसरे प्रकार के ज्ञान को हम आंतरिक ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका संबंध मेरे पूर्व-संचित अनुभवों या मेरी कल्पना शक्ति से है। ज्ञान का पहला विस्तार मेरी गोचर-शक्ति की सीमा से परिमित है; पर दूसरा विस्तार उससे अत्यंत अधिक है। उसकी सीमा निर्धारित करना कठिन है। यह मेरे पूर्व अनुभव ही पर अवलंबित नहीं, इसमें दूसरे लोगों का अनुभव भी सम्मिलित है; इसमें मेरी ही कल्पना शक्ति सहायक नहीं होती, दूसरों की कल्पना शक्ति भी सहायक होती है। जिन पूर्ववर्ती लोगों ने अपने अपने अनुभव अङ्कित करके उन्हें रक्षित या नियंत्रित कर दिया है, चाहे वे इमारत के रूप में हों, चाहे मूर्ति के, चाहे चित्र के और चाहे पुस्तकों के, सब से सहायता प्राप्त करके मैं अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकता हूँ। पुस्तकों द्वारा दूसरों का जो संचित ज्ञान मुझे प्राप्त होता है और जो अधिक काल तक मानव हृदय पर अपना प्रभाव जमाए रहता है, उसी की गणना हम काव्य या साहित्य में करते हैं। साहित्य से हमारा अभिप्राय उस ज्ञान-समुदाय से है जिसे साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्य की सीमा के अन्दर माना है।

हम पहले ही इस बात पर विचार कर चुके हैं कि किस ललित कला में कितना मूर्त्त आधार है और कौन किस मात्रा में मानसिक आधार पर स्थित है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि काव्य-कला को छोड़कर शेष चारों ललित कलाएँ बाह्य ज्ञान का आश्रय लेकर मानसिक भावनाएँ उत्पन्न करती हैं, केवल काव्य-कला आंतरिक ज्ञान पर पूर्णतया अवलंबित रहती है। अतएव काव्य का संबंध या आधार केवल मन है। एक उदाहरण देकर यह भाव स्पष्ट कर देना अच्छा होगा। मेरे सामने एक ऐतिहासिक घटना का चित्र उपस्थित है जिसे एक प्रसिद्ध चित्रकार ने अंकित किया है। मान लीजिए कि यह चित्र किसी बड़े युद्ध की किसी मुख्य घटना का है। यदि मैं उस घटना के समय स्वयं वहाँ उपस्थित होता तो जो कुछ मेरी आँखें देख सकतीं, वही सब उस चित्र में मुझे देखने को मिलता है। मैं उस चित्र में सिपाहियों की श्रेणीबद्ध पंक्तियाँ, रिसालों का जमघट, सैनिकों की तलवारों की चमचमाहट, उनके अफसरों की भड़कीली वर्दियाँ, तोपों की अग्निवर्षा, सिपाहियों का आहत होकर गिरना—यह सब मैं उस चित्र में देखता हूँ और मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं उस घटना के समय उपस्थित हो-कर जो कुछ देख सकता था, वह सब उस चित्रपट पर मेरी आँखों के सामने उपस्थित है। पर यदि मैं उसी घटना का वर्णन इतिहास की किसी प्रसिद्ध पुस्तक में पढ़ता हूँ तो स्पष्ट

काव्य-कला की विशेषता

ज्ञात होता है कि इतिहास-लेखक की दृष्टि किसी एक स्थान या समय की सीमा से घिरी हुई नहीं है। वह सब बातों का पूरा विवरण मेरे सम्मुख उपस्थित करता है। वह मुझे बतलाता है कि कहाँ पर लड़ाई हुई, लड़नेवाले दोनों दल किस देश और किस जाति के थे, उनकी संख्या कितनी थी, उनमें लड़ाई क्यों और कैसे हुई, उनके सेनानायकों ने अपने पक्ष की विजय-कामना से कैसी रणनीति का अवलंबन किया, कहाँ तक वह नीति सफल हुई, युद्ध का तात्कालिक प्रभाव क्या पड़ा, उसका परिणाम क्या हुआ, और अन्त में उस युद्ध ने लड़नेवाली दोनों जातियों, तथा अन्य देशों और उनके भावी जीवन पर क्या प्रभाव डाला। परंतु वह इतिहास-लेखक उस लड़ाई का वैसा हृदय-ग्राही और मनोमुग्धकारी स्पष्ट चित्र मेरे सम्मुख उपस्थित करने में उतना सफल नहीं हुआ जितना कि चित्रकार हुआ है। पर यह भाव, यह चित्रण तभी तक मुझे पूरा पूरा प्रभावित करता है जब तक मैं उस चित्र के सामने खड़ा या बैठा उसे देख रहा हूँ। वह मेरी आँखों से ओझल हुआ कि उसकी स्पष्टता का प्रभाव मेरे मन से हटने लगा। इतिहासकार की कृति का अनुभव करने में मुझे समय तो अधिक लगाना पड़ा, परंतु मैं जब चाहूँ तब अपनी कल्पना या स्मरण शक्ति से उसे अपने अन्तःकरण के सम्मुख उपस्थित कर सकता हूँ। अतएव साहित्य या काव्य का प्रभाव चित्र की अपेक्षा अधिक स्थायी और पूर्ण होता है। इसका कारण यही है कि चित्र में मूर्त आधार वर्तमान है

और वह बाह्य ज्ञान पर अवलंबित है; परंतु साहित्य में मूर्त आधार का अभाव है और वह अन्तर्ज्ञान पर अवलंबित है। संक्षेप में, हम चित्र को देखकर यह कहते हैं—"मैंने लड़ाई देखी।" पर उसका वर्णन पढ़कर हम कहते हैं—"मैंने उस लड़ाई का वर्णन पढ़ लिया।" या "उस लड़ाई का ज्ञान प्राप्त कर लिया।"

इन विचारों के अनुसार काव्य या साहित्य को हम महाजनों की भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं का एक लिखित भांडार कह सकते हैं, जो अनंत काल से भरता आता है और निरंतर भरता जायगा। मानव सृष्टि के आरंभ से मनुष्य जो देखता, अनुभव करता और सोचता-विचारता आया है, उस सबका बहुत कुछ अंश इसमें भरा पड़ा है। अतएव यह स्पष्ट है कि मानव जीवन के लिये यह भांडार कितना प्रयोजनीय है।

काव्य-कला में पुस्तकों का महत्व

मनुष्य के काव्य रूपी मानसिक जीवन में पुस्तकें बड़े महत्व की वस्तु हैं। बिना उनके काव्य का अस्तित्व ही लुप्त हो गया होता। यदि पुस्तकें न होतीं तो आज हम महर्षि वाल्मीकि, कविकुल-चूड़ामणि कालिदास, भवभूति, भारवि, भगवान् बुद्धदेव, मर्यादापुरुषोत्तम महाराज रामचंद्र आदि से कैसे बात-चीत करते, उनके कीर्ति-कलाप का ज्ञान कैसे प्राप्त करते, और उनके अनुभव तथा अनुकरण से लाभ उठाकर अपने जीवन को उन्नत और महत्वपूर्ण बनाने में कैसे समर्थ होते?

संसार का जो कुछ ज्ञान हम अपने पूर्व अनुभव और

काव्य-साहित्य के द्वारा प्राप्त करते हैं, वह हमें इस योग्य बनाता है कि हम इस मूर्त संसार का बाह्य ज्ञान भली भाँति प्राप्त करें और विविध कलाओं के परिशीलन या प्रकृति के दर्शन से वास्तविक आनंद प्राप्त करें तथा उसका मर्म समझें। संसार की प्रतीति ही हमें उसके मूर्त बाह्य रूप को पूरा पूरा समझने में समर्थ करती है।

काव्य का महत्व

(काव्य को हम मानव जाति के अनुभूत कार्यों अथवा उसकी अन्तर्वृत्तियों की समष्टि भी कह सकते हैं। जैसे एक व्यक्ति का अन्तःकरण उसके अनुभव, उसकी भावना, उसके विचार और उसकी कल्पना को, अर्थात् उसके सब प्रकार के ज्ञान को रक्षित रखता है और उसी रक्षित भांडार की सहायता से वह नए अनुभव और नई भावनाओं का तथ्य समझता है, उसी प्रकार काव्य जाति-विशेष का मस्तिष्क या अन्तःकरण है जो उसके पूर्व अनुभव, भावना, विचार, कल्पना और ज्ञान को रक्षित रखता है और उसी की सहायता से उसकी वर्तमान स्थिति का अनुभव प्राप्त किया जाता है।) जैसे ज्ञानेंद्रियों के सब सँदेसे बिना मस्तिष्क की सहायता और सहयोगिता के अस्पष्ट और निरर्थक होते, वैसे ही (साहित्य के बिना, पूर्व-संचित ज्ञान-भांडार के बिना, मानवी जीवन पशु-जीवन के समान होता।) उसमें वह विशेषता ही न रह जाती जिसके कारण मनुष्य मनुष्य कहलाने का अधिकारी है।

दूसरा अध्याय

काव्य का विवेचन

पहले अध्याय में हमने ललित कलाओं का संक्षेप में वर्णन करके यह समझाने का उद्योग किया है कि कलाओं के संबंध में काव्य का महत्व कितना है, और वह किस आधार पर स्थित है। इस अध्याय में हम काव्य-कला पर विशेष रूप से विचार करेंगे। इस कार्य को आरंभ करने के पहले हमें यह जान लेना आवश्यक है कि काव्य है क्या वस्तु, काव्य कहते किसे हैं।

हिन्दी में "काव्य" और "साहित्य" ये दोनों शब्द कभी तो एक ही अर्थ में और कभी भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं।

काव्य की परिभाषा

काव्य का साधारण अर्थ वह पुस्तक लिया जाता है जिसमें कविता हो या जो पद्य में हो। साहित्य से अर्थ उन सब पुस्तकों से लिया जाता है जो किसी भाषा में विद्यमान हों। परंतु पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से "साहित्य" शब्द अब ग्रन्थ-समुदाय के अर्थ में ही अधिकाधिक प्रयुक्त होता जा रहा है। वह अब अंगरेजी शब्द लिटरेचर का प्रायः समानार्थक हो रहा है। संस्कृत में यह शब्द काव्य ग्रंथों के समुदाय का ही बोधक

है और काव्य के अन्तर्गत कविता, नाटक, चंपू, गद्यात्मक आख्यिकाएँ आदि वे सभी पुस्तकें आ जाती हैं जिनमें काव्य या कवित्व के लक्षण पाए जाते हैं। जिन ग्रन्थों में काव्य के लक्षण, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, रीति, रस, भाव, अलंकार और गुण-दोष आदि का विवेचन रहता है, उन्हें साहित्य शास्त्र कहते हैं। इस पुस्तक का नामकरण यही बात ध्यान में रखकर किया गया है।

अच्छा तो अब विचार इस बात का करना है कि साहित्य शास्त्र में काव्य कहते किसे हैं। कोई आचार्य्य तो रमणीय अर्थ के प्रतिपादक वाक्य को काव्य कहते हैं और कोई रसात्मक वाक्य को। पर मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि जिस वाक्य, पद्य या उक्ति को सुनकर चित्त चमत्कृत हो उठे—जिसमें कुछ अनोखापन हो—वह काव्य है।

रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है, यह परिभाषा रसगंगाधर नामक ग्रन्थ की है। कुछ लोग अर्थ की रमणीयता के अन्तर्गत शब्द की रमणीयता (शब्दालंकार) को भी समझकर लक्षण का स्वीकार करते हैं। पर साहित्यदर्पण ग्रन्थ के कर्त्ता ने रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा है; क्योंकि रसों अर्थात् प्रबल मनोवेगों का व्यंजक वाक्य ही काव्य की आत्मा है। पिछले लक्षण को कुछ विस्तार देकर हम कह सकते हैं कि काव्य वह वाक्य या वाक्य-समुदाय है जिससे चित्त किसी रस या प्रबल मनोवेग से चत्कृत हो जाता है, अथवा

काव्य वह कला है जिसमें चुने हुए शब्दों के द्वारा कल्पना या मनोवेगों पर प्रभाव डाला जाता है। हमारे देश के पुराने विद्वानों की यह रीति रही है कि वे अपने विचार संक्षिप्त से संक्षिप्त रूप में अर्थात् सूत्र, कारिका आदि के रूप में प्रकट करते आए हैं। यद्यपि इन सूत्रों या कारिकाओं को याद रखने में सुगमता होती है, तथापि इनको हृदयंगम करने में विशेष विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता भी होती है। प्राचीन पश्चिमी विद्वान् भी ऐसे विषयों का निरूपण सूत्र-रूप में करते थे; परंतु धीरे धीरे वहाँ इस प्रणाली का अनुसरण कम होता गया। आजकल तो वहाँ विषय का प्रतिपादन विस्तारपूर्वक किया जाता है। पश्चिमी विद्वानों के अनुसार **काव्य के अंतर्गत वे ही पुस्तकें आती हैं जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की रीति की विशेषता के कारण मानव-हृदय को स्पर्श करनेवाली हों और जिनमें रूप-सौष्ठव का मूल तत्व, तथा उसके कारण आनंद का जो उद्रेक होता है, उसकी सामग्री विशेष प्रकार से वर्तमान हो।** अच्छा तो इस परिभाषा के अनुसार हम किस प्रकार के ग्रन्थों को काव्य के अन्तर्गत मान सकते हैं? रसादि प्रतिपादक शास्त्र के अनुसार 'साहित्य' शब्द का जो चिर-प्रतिष्ठित अर्थ है, उसे छोड़ कर यदि हम आजकल के अनुसार उससे उन सब ग्रन्थों का अर्थ लें जो किसी भाषा में विद्यमान होते हैं, तो हमें काव्य और साहित्य में अङ्गांगि-संबंध मानना पड़ेगा। सब विषयों के ग्रन्थों की गिनती साहित्य के

अन्तर्गत हो सकती है, परंतु समस्त साहित्य काव्य की पदवी पाने का अधिकारी नहीं हो सकता। अब देखना यह है कि वे कौन से गुण हैं जिनके कारण साहित्य का एक ग्रन्थ "काव्य" कहलाए जाने का अधिकारी होता है और दूसरा उस अधिकार से वंचित रह जाता है। क्या ज्योतिष, गणित, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के ग्रंथ काव्य में परिगणित हो सकेंगे? यह आवश्यक नहीं है कि जो साहित्य हो, वह काव्य भी हो। साधारण साहित्य में से चुनी चुनी रचनाएँ "काव्य" का गौरव प्राप्त करती हैं। ज्योतिष, गणित, व्याकरण आदि के ग्रन्थ "काव्य" की श्रेणी में परिगणित नहीं हो सकते, क्योंकि उनका एक मात्र उद्देश्य ज्ञान का प्रचार करना है। हाँ एक बात अवश्य है। कुछ कवि या ग्रन्थकार ऐसे भी हो गए हैं जिन्होंने वैद्यक और ज्योतिष के भी ग्रंथों में काव्य-कला का पुट दे दिया है। यह बात उन्होंने जान-बूझकर की है। उन्होंने कवित्वपूर्ण सरस रचना इसलिये की है कि लोग उनके ग्रंथ चाव से पढ़ें, उनसे पढ़नेवालों को अपने विषय की ज्ञान-प्राप्ति भी हो और साथ ही उनका मनोरंजन भी हो। लोलिंबराज-कृत वैद्यजीवन और वैद्यावतंस पुस्तकें ऐसी ही हैं। ये दोनों ही संस्कृत भाषा में हैं। ज्योतिष शास्त्र की भी दो एक पुस्तकें इसी ढंग की हैं। शास्त्र विशेष विषयक पुस्तकें उन्हीं लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकती हैं जो उन शास्त्रों के तत्वों को जानना चाहते हों। सबके लिये उनमें आकर्षिणी

शक्ति नहीं। परंतु काव्य-ग्रंथ सब पर एक सा प्रभाव डालते हैं। मनुष्य के मनुष्यत्व-गुण-संपन्न होने भर से ही काव्य उसके लिये विशेष आनंद देनेवाला होता है। काव्य के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी विशेष प्रकार के ज्ञान की अवगति करावे। उसके लिये सबसे आवश्यक और विशेष बात यही है कि वह अपने विषय तथा अपनी वर्णन-शैली से पढ़नेवालों के हृदय में उस आनंद का प्रवाह बहा दे जो रसानुभव या रस-परिपाक से उत्पन्न होता है। अथवा दूसरे शब्दों में इस तरह कह सकते हैं कि काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनंद या चमत्कार की सृष्टि करे।

काव्य और मानव जीवन

काव्य वास्तव में मानव-जीवन का एक चित्र है। उसका और मानव-जीवन का बड़ा घनिष्ठ संबंध है। किसी ग्रंथ को काव्य का पद इसी लिये प्राप्त होता है कि उसके पढ़ने से जीवन के साथ हमारा एक घनिष्ठ और नवीन संबंध उत्पन्न हो जाता है; और यही कारण है कि काव्य मनुष्य के हृदय पर इतना अधिक प्रभाव डालता है। सच पूछिये तो काव्य से वे ही बातें जानी जाती हैं जिनका अनुभव मनुष्यों ने स्वयं अपने जीवन में किया है, जिनपर उन्होंने स्वयं विचार किया है और जिनके संबंध में स्वयं उनके हृदय-पटल पर भावनाएँ अङ्कित हुई हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि काव्य में प्रधानतः भाषा के द्वारा मानव-जीवन की अभिव्यक्ति होती है। जीवन की

इसी अभिव्यंजना को साहित्य के सिद्धान्तों के अनुसार विविध प्रकार का मनोहारी रूप देने से उसमें मानव-जीवन पर मोहिनी डालने और उसे प्रभावित करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। पर यह बात न भूलनी चाहिए कि साहित्य के सिद्धान्तों के अनुसार विविध प्रकार का सुन्दर और मनोहारी रूप देना ऊपरी शृंगार के समान है। काव्य का प्रधान गुण तो उसमें मानव-जीवन का अभिव्यंजन, उसका प्रदर्शन और उसके स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण है। काव्य की आत्मा यही है; साहित्यिक ठाठ-बाट उसका शृंगार है, और भाषा उसका शरीर है। जैसे सुंदर से सुंदर निष्प्राण शरीर आकर्षण के स्थान पर घृणा का विषय हो जाता है, उसी प्रकार बिना जीवनाभिव्यंजन-रूपी प्राणों के काव्य की बाहरी सजावट मन को कभी मुग्ध नहीं कर सकती। यदि किसी घटना का वर्णन साहित्य शास्त्र में उल्लिखित सभी बाहरी गुणों से अलंकृत हो, पर उसमें वे बातें न हों जो मनुष्य का मर्म स्पर्श करनेवाली हैं, जो उसके हृदय में चुभकर तथा उसमें मनोवेगों को उद्वेलित करके विविध रसों का संचार करनेवाली हैं, तो वह काव्य निर्जीव होने के कारण काव्य पद का अधिकारी नहीं हो सकता। अतएव यह कहा जा सकता है कि काव्य की उत्पत्ति का कारण मानव-जीवन का अनुकरण है। इसलिये हमें मानव-जीवन में काव्य के मूल तत्वों को ढूँढ़ना चाहिए, अर्थात् उन मनोवृत्तियों का पता लगाना चाहिए जो काव्य के विविध अंगों और उपांगों के द्वारा व्यक्त

की जाती हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि काव्य के अंग और उपांग बनावटी नहीं हैं; वे प्राकृतिक आधार रखते हैं।

मनुष्य स्वभाव ही से यह चाहता है कि मैं अपने भाव और विचार दूसरों पर प्रकट करूँ। वह उन्हें अपने अंतःकरण में छिपा रखने में सदा समर्थ नहीं होता। साधारण तौर पर बिना उन्हें दूसरों पर प्रकट किए उसे चैन नहीं मिलता। अतएव हम कह सकते हैं कि मनुष्य में एक मनोवृत्ति ऐसी है जिसे हम "आत्माभिव्यंजन की वासना" कह सकते हैं। इस मनोवृत्ति से प्रेरित होकर जिस काव्य की रचना होती है, उसमें लेखक अपने भाव दूसरों पर प्रकट किए बिना नहीं रह सकता।

काव्य और मनोवृत्ति

अन्य लोगों के कार्य्य-कलाप, उनकी भावनाएँ, उनके राग-द्वेष उनके सांसारिक बंधन आदि की बातें जानने और समझने में भी मनुष्य को एक प्रकार का आनंदानुभव होता है। यह भी एक विशेष मनोवृति का परिणाम है, जिसे हम "मानव-व्यापार में अनुरक्ति" कह सकते हैं। इस मनोवृत्ति से प्रेरित होकर ऐसे काव्यों की रचना होती है जिनका उद्देश्य मनुष्यों का चरित्र-चित्रण होता है।

जो कुछ हमने देखा है अथवा जिस बात की हमने कल्पना की है, उसे हम दूसरों पर प्रकट करना चाहते हैं। इसी मनोवृत्ति का परिणाम वर्णनात्मक काव्य है।

जैसा कि पहले अध्याय में कहा जा चुका है, मनुष्य सौंदर्यो-

पासक है। वह सब बातों में सुंदरता की खोज करता और अपनी प्रत्येक वस्तु को सुंदर बनाने का उद्योग करता है। सौंदर्य संबंधी इस अनुराग से प्रेरित होकर वह अपने भावों, विचारों, कल्पनाओं और उनके वर्णनों आदि को सुंदर से सुंदर रूप देने का उद्योग करता है। यही मनोवृत्ति साहित्य शास्त्र का मूल आधार है। इसी की प्रेरणा से सौंदर्य-विधायक अलंकार आदि की उद्भावना या सृष्टि करनी पड़ती है।

मनुष्य जन-समाज में ही रहना चाहता है। उसकी प्रवृत्ति अपने ही सदृश लोगों से मिलने जुलने की होती है। उसे एकांत-वास पसंद नहीं। वह अपने ही समान विचार, स्वभाव और चरित्रवाले लोगों की खोज में रहता है और उन्हें ढूँढ ढूँढकर उनसे संपर्क करता है। अतएव जहाँ वह अपने भावों, विचारों, कल्पनाओं, मनोवेगों आदि को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है, वहाँ, साथ ही, वह दूसरों के भावों, विचारों, कल्पनाओं और मनोवेगों से भी अवगत होना चाहता है। समाज में आपस का यह आदान-प्रदान बराबर चलता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका सारांश यही है कि मनुष्य में चार ऐसी मनोवृत्तियाँ हैं जिनसे प्रेरित होकर वह भिन्न भिन्न प्रकार के काव्यों की रचना करने में समर्थ होता है। वे चार मनोवृत्तियाँ ये हैं—(१) आत्माभिव्यंजन की इच्छा, (२) मानव व्यापारों में अनुराग, (३) नित्य और काल्पनिक संसार में अनुराग और (४) सौंदर्य-प्रियता। चौथी, अर्थात्

सौंदर्य-प्रियता नामक मनोवृत्ति तो सब प्रकार के काव्यों में उपस्थित रहती है; पर शेष तीनों मनोवृत्तियाँ आपस में इतना मिल-जुल जाती हैं कि उनको अलग करके उनके आधार पर काव्य को भिन्न भिन्न अङ्गों और उपांगों में विभक्त करना कठिन होता है। मान लीजिए कि हम आगरे का ताज महल देखने गए। उसका वर्णन हम अपने मित्र से करने लगे। इस वर्णन में, उस इमारत को देख कर हमारे मन में जो विचार या भाव उत्पन्न हुए होंगे, उन्हें हम प्रकट करेंगे। उसकी कल्पना करनेवालों, उसके बनानेवालों, उसके कारीगरों के कौशल आदि अनेक बातों पर हमारा ध्यान जायगा और हम ये सब बातें अपने मित्र से कहेंगे। इस कार्य में सौंदर्य-प्रियता-रूपी मनोवृत्ति को छोड़कर शेष तीनों मनोवृत्तियों का ऐसा सम्मिश्रण हो जायगा कि उनका ठीक ठीक विश्लेषण करना बहुत कठिन होगा। जैसे मानव-जीवन में इन मनोवृत्तियों का सम्मिश्रण होता है, वैसे ही काव्य में भी यह सम्मिश्रण दिखलाई पड़ता है।

पर केवल मनोवृत्तियों के आधार पर ही काव्य के अङ्गों और उपांगों का निर्णय नहीं हो सकता। हमें यह भी देखना होगा कि काव्य किन किन विषयों का वर्णन करता है। मनुष्य के जीवन में वर्णन करने योग्य असंख्य बातें होती हैं। उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनकी गणना करना या उन्हें श्रेणीबद्ध करना एक प्रकार से

काव्य के विषय

कठिन ही नहीं किन्तु असंभव है। परंतु प्रधान प्रधान बातों को ध्यान में रखकर हम काव्य के विषयों के पाँच विभाग कर सकते हैं; यथा—(१) किसी व्यक्ति का आत्मानुभव अर्थात् किसी के निजी जीवन के बाह्य तथा आन्तरिक अनुभव में आनेवाली बातों की समष्टि, (२) मनुष्य मात्र का अनुभव अर्थात् जीवन-मरण, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, आशा-निराशा, प्रेम-द्वेष आदि ऐसी महत्वपूर्ण बातें जिनका संबंध किसी एक ही व्यक्ति से न हो कर सारे मनुष्य-समुदाय से होता है, (३) मनुष्यों का पारस्परिक संबंध अर्थात् सामाजिक जीवन और उसके सुख-दुःख आदि, (४) दृश्यमान प्राकृतिक जगत् और उससे हमारा संबंध और (५) मनुष्य द्वारा काव्य और कला का प्रादुर्भाव।

इस प्रकार मनोवृत्तियों और विषय के आधार पर हम काव्य-साहित्य को कई श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। इन

काव्य के विभाग

दोनों आधारों के अनुसार हम ये विभाग कर सकते हैं—(१) आत्माभिव्यंजन-संबंधी साहित्य, अर्थात् अपनी बीती या अपनी अनुभूत बातों का वर्णन। आत्मचिंतन या आत्मनिवेदन विषयक हृदयोद्गार, ऐसे शास्त्र, ग्रन्थ या प्रबंध जो स्वानुभव के आधार पर लिखे जायँ, साहित्यालोचन और कला-विवेचक रचनाएँ, सब इसी विभाग के अन्तर्गत हैं। (२) वे काव्य जिनमें कवि अपने अनुभव की बातें छोड़कर संसार की अन्यान्य बातें, अर्थात् मानव-जीवन

से संबंध रखनेवाली साधारण बातें लिखता है। इस श्रेणी के अन्तर्गत साहित्य की शैली पर रचे हुए इतिहास, आख्यायिकाएँ, उपन्यास, नाटक आदि हैं। (३) वर्णनात्मक काव्य। यद्यपि इस विभाग का कुछ अंश आत्मानुभव और आख्यायिका आदि के अन्तर्गत आ जाता है, तथापि यात्रा-वर्णनात्मक निबंध या कविताएँ इस श्रेणी में गिनी जा सकती हैं।

इस प्रकार मनोवृत्तियों तथा विषयों के आधार पर सब प्रकार के साहित्य को हम तीन मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं। यहाँ यह सिद्धांत ध्यान में रख लेना चाहिए कि कवि का काव्य मनुष्य के हृदय को तभी अपनी ओर खींच सकता है जब उसमें अनुरागजनक और कल्पना की वही सामग्री विद्यमान हो जो पाठक, श्रोता या द्रष्टा के हृदय में विशेष रूप से जाग्रत रहती है। अर्थात् कवि अपनी मानसिक प्रवृत्ति और कल्पना के सहारे जब कोई भाव प्रकट करता है और जब वह भाव हममें भी अपना प्रतिबिंब उत्पन्न करने में समर्थ होता है, तभी यह कहा जा सकता है कि वह काव्य प्रकृत काव्य है। मतलब यह कि कवि और काव्यलोलुप के हृद्गत भावों का तादात्म्य होने से ही कविता से यथेष्ट आनंद की प्राप्ति हो सकती है।

काव्य के भेदों पर विचार करते समय सौंदर्य-प्रियता की मनोवृत्ति के विषय में हम कह आए हैं कि यह मनोवृत्ति

सब प्रकार के काव्यों में अनुस्यूत रहती है। प्रत्येक काव्य के

काव्य के उपादान

दो मुख्य उपादान होते हैं—(१) जीवन-व्यापार के निरीक्षण द्वारा संचित वह सामग्री जो नाटक, उपन्यास, कविता, निबंध आदि का आधार होती है; और (२) वह कौशल जिसका प्रयोग लेखक या कवि उस सामग्री को काव्य-कला का रूप देने में करता है।

इनमें से दूसरा उपादान चार मूल तत्त्वों पर अवलंबित रहता है—(१) बुद्धि तत्त्व अर्थात् वे विचार जिन्हें लेखक या कवि अपने विषय-प्रतिपादन में प्रयुक्त और अपनी कृति में अभिव्यक्त करता है। (२) वे रागात्मक तत्त्व अर्थात् वे भाव जिनको उसका काव्य-विषय स्वयं उसके हृदय में उत्पन्न करता है और जिनका वह पाठकों के हृदय में संचार करना चाहता है। (३) कल्पना तत्त्व अर्थात् मन में किसी विषय का चित्र अङ्कित करने की शक्ति जिसे वह अपनी कृति में प्रदर्शित करके पाठकों के हृदयचक्षु के सामने भी वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। यही काव्य के आधार और प्राण हैं। परंतु कुछ शास्त्रकारों का मत है कि लेखक या कवि की विषय-सामग्री चाहे कैसी ही उत्तम क्यों न हो और उसके विचार, भावनाएँ और कल्पनाएँ चाहे कितनी परिपक्व और अद्भुत क्यों न हों, पर जब तक उसकी कृति में रूप-सौंदर्य न आवेगा, जब तक वह अपनी सामग्री को ऐसा रूप न दे सकेगा जो अनुक्रम, सौष्ठव, और प्रभावोत्पादकता के सिद्धांतों के अनुकूल हो, तब तक

उसकी कृति काव्य न कहला सकेगी। अतएव उसमें एक चौथे तत्त्व की भी आवश्यकता है। यह तत्त्व है (४) अलंकार आदि का रचना-चमत्कार जिसका निरूपण साहित्य-शास्त्र में किया गया है। कुछ शास्त्रकार इस तत्व के अभाव में भी हृदयाकर्षक काव्य की रचना संभव समझते हैं। वे कहते हैं कि यदि बात सरल और चमत्कारपूर्ण हो तो अलंकार आदि न होने पर भी वह हृदय पर प्रभाव डाल सकती है। स्वाभाविक सुंदरता को आभूषणों की आवश्यकता नहीं होती।

काव्य और व्यक्तिता

यदि काव्य का आधार मनुष्य-जीवन की अभिव्यंजना है और यदि इसी जीवन-अभिव्यंजना के कारण उसमें मर्मस्पर्शी शक्ति उत्पन्न होती है तो काव्य की प्रभावोत्पादक शक्ति का रहस्य जानने के लिये हमें उसके स्वांतस्थ रूप पर विचार करना होगा। मैथ्यू आर्नल्ड नामक लेखक का कथन है—"काव्य मनुष्य के जीवन की आलोचना है।" इसका यही अर्थ हो सकता है कि कवि की मानसिक कल्पना के अनुकूल जीवन की व्याख्या ही काव्य है। यदि यह ठीक है तो हमें पहले कवि या काव्य-व्याख्याता के संबंध में ही विचार करना होगा। फ्रांसीसी लोगों का कहना है कि कला वह जीवन है जो किसी की प्रकृति का आश्रय लेने से देख पड़ती है। अतएव कलावान् जो आदर्श*

* आदर्श का एक अर्थ दर्पण भी है।

Poetry is a criticism of life
M. Arnold

लोगों के सामने रखता है, उसमें वह अपनी ही व्यक्तिगत सत्ता का प्रतिबिंब झलकाता है।

जितनी रचनाएँ हैं, वे सब अपने रचयिता के मस्तिष्क और हृदय से ही उत्पन्न होती हैं। उनका रचयिता उनके प्रत्येक पृष्ठ में अदृश्य रूप से व्याप्त रहता है; उसके प्राण, उसका जीवन, उसका सर्वस्व, जिसके कारण उसकी महत्ता है, उनमें सर्वत्र पाया जाता है। अतएव किसी ग्रन्थ को पूरी तरह से समझने के लिये हमें पहले उसके रचयिता से परिचित होना चाहिए। रचना का महत्व रचयिता के महत्व ही के कारण होता है, क्योंकि रचयिता की प्रतिभा की छाप रचना में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। सच्चा प्रतिभाशाली लेखक पुराने से पुराने पिष्ट-पेषित विषय को भी इस ढंग से अपने पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर सकता है कि उसमें नवीनता और मौलिकता झलकने लगती है। उसमें विचारों की उत्तमता तथा नवीनता के साथ ही विषय-प्रतिपादन की शैली में भी अनोखापन दिखाई देने लगता है। इन्हीं कारणों से ऐसी रचना मन को मुग्ध कर लेती है। पर यह तभी हो सकता है जब ग्रन्थकार को उन सब बातों का, जिनके विषय में वह लिख रहा है, स्वयं अनुभव हो, उसने उनको अपने चर्म-चक्षुओं या हृदय की आँखों से देखा हो, और उन्हें भाषा द्वारा प्रकट करने में अपनी प्रतिभा के बल से उन पर नया प्रकाश डाला हो। रचयिता में यह शक्ति भी होनी चाहिए कि वह अपनी भाषा—अपनी शब्द-योजना—से हममें

भी उन्हीं विचारों और भावनाओं की तरंगावलि उत्पन्न कर दे, जिनके वशवर्ती होकर उसकी वाणी प्रस्फुटित और लेखनी चंचल हो उठती है। ग्रंथकार के ऐसे ही ग्रंथ वास्तव में "काव्य" पद के अधिकारी हो सकते हैं। वही उसके प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या स्वरूप के प्रतिबिंब होते हैं। अतएव किसी ग्रंथ पर विचार करना मानों उसके रचयिता पर—उसके साहित्यिक जीवन पर—विचार करना है।

परंतु कोई ग्रंथकर्त्ता बिना वास्तविक अनुभव प्राप्त किए अथवा बिना मानव-जीवन या जड़-चेतन जगत की सूक्ष्म से भी सूक्ष्म बातों को हृद्गत किए किसी विषय पर लिखकर सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। अनुभव अथवा अभीष्ट विषय का सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उसे स्वच्छंता से बिना भय या संकोच के, अपने विचारों को, स्पष्टतापूर्वक ठीक ठीक प्रकट करना चाहिए। जहाँ इस संबंध में कृत्रिमता आई और भाव कुछ के कुछ हो गए, वहाँ ग्रंथ स्थायी न होकर इस संसार में कुछ ही दिनों का पाहुना रह जाता है। हम इस बात की आशा नहीं कर सकते कि प्रत्येक ग्रंथकार में भावों का विकास, विचारों का गांभीर्य्य तथा अनुभवों का प्राचुर्य्य हो, परंतु हम यह आशा अवश्य कर सकते हैं कि उसमें उत्तम से उत्तम जो गुण है, उसे वह अच्छी तरह हमारे सामने रख दे।

इस प्रकार लिखे हुए किसी ग्रंथ को जब हम हाथ में लेकर ध्यानपूर्वक उसका अध्ययन प्रारंभ करते हैं, तब मानों उसके

कर्त्ता से एक प्रकार का घनिष्ट संबंध स्थापित करते हैं। वह हमारा साथी बन जाता है। उसके विचारों, भावों और हृद्गत वासनाओं आदि से हमारा दृढ़ संसर्ग स्थापित हो जाता है। इस प्रकार जब बंधुता का नाता स्थापित हो जाता है, तब हमें उसके संबंध में सब कुछ जानने का अधिकार हो जाता है; और वह भी हमको अपना समझकर बिना किसी प्रकार के संकोच या छल-कपट के जी खोलकर सब बातें हमसे कह डालता है। इस प्रकार उसके चरित्र, उसके विचार, उसकी आशा, उसकी निराशा, उसके गुणों, उसके दोषों और उसके अभावों से हम परिचित हो जाते हैं और उसका वास्तविक स्वरूप उसके ग्रंथ द्वारा हमारी आँखों के सामने आ जाता है।

ग्रंथकर्ता से संबंध स्थापित करने के अनंतर हमें उसके किसी एक ही ग्रंथ का अध्ययन करके संतोष न करना चाहिए।

ग्रंथ और ग्रंथकर्त्ता

उसके कुछ ही ग्रंथों को पढ़कर हम उसके विषय में पूरी पूरी अभिज्ञता नहीं प्राप्त कर सकते। कदाचित् आरंभ में किसी ग्रंथकर्ता का एक ही ग्रंथ पढ़कर हम उससे परिचित हो जायँ, परंतु इतने ही से संतोष करना ठीक नहीं है। हम तो उसकी प्रतिभा का पूरा पूरा चित्र अपने सामने उपस्थित करना चाहते हैं। इसके लिये आवश्यक यह है कि हम उसके सभी ग्रंथों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें, क्योंकि बिना ऐसा किए हम उसके मस्तिष्क के विकास, उसके

स्वभाव, उसके विचारों तथा उसके अनुभवों से पूर्णतया परिचित नहीं हो सकते। हाँ, यदि उसने एक ही ग्रंथ लिखा हो तो लाचारी है—बात ही दूसरी है। यह हो सकता है कि हम तुलसीदास का रामचरित मानस पढ़कर उसका रसास्वादन कर सकें और कवि की प्रतिभा से बहुत कुछ परिचित हो सकें; पर यह भी बहुत संभव है, बल्कि एक प्रकार से अनिवार्य भी है कि हम उसके संबंध की बहुत सी बातें जानने से वंचित रह जायँ। यदि हम कवि के समस्त ग्रंथों का अध्ययन करेंगे तो हम उसके भिन्न भिन्न ग्रंथों में उसकी प्रतिभा के भिन्न भिन्न रूपों के दर्शन कर सकेंगे और यह भी जान सकेंगे कि उसने भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न भावों से प्रेरित होकर कैसे अपने को अनेक रूपों में प्रकट किया है। इस प्रकार किसी कवि या ग्रंथकार के समस्त ग्रंथों के अध्ययन से हम उस कवि या लेखक की भिन्न भिन्न कृतियों को आपस में एक दूसरी से मिला सकेंगे, उनकी समता और विषमता या विभिन्नता जान सकेंगे, उनके विषय, उनके उद्देश्य, उनकी रचना की शैलियों और उनकी विषय-विवेचना की रीतियों से परिचित हो सकेंगे। ऐसा होने पर हम इस बात का भी अनुभव प्राप्त कर सकेंगे कि किस प्रकार एक ही व्यक्ति ने अपने जीवन के भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न मनोवृत्तियों से प्रेरित होकर अपना स्वरूप भिन्न भिन्न रूपों में व्यक्त किया है।

इस प्रकार के अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि हम

यह कार्य किसी निर्दिष्ट प्रणाली के अनुसार करें। इसमें संदेह नहीं कि सब से अधिक समुचित और सुगम प्रणाली वह है जिसमें ग्रंथों के आविर्भाव के समय को ध्यान में रखकर उनका अध्ययन किया जाता है; अर्थात् जिस क्रम से ग्रंथों का आविर्भाव हुआ हो, उसी क्रम से उनका अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन से वे ग्रन्थ ग्रंथकार के क्रम-विकसित मानसिक जीवन और कला-कौशल का सर्वांगपूर्ण और स्पष्ट चित्र हमारे सामने उपस्थित कर सकते हैं। तभी हमें उनमें ग्रंथकार के अनुभव के भिन्न भिन्न रूपों, उसके मानसिक और नैतिक विकासों के क्रमों, तथा उसके कौशल की वर्त्तमान पुष्टि का पूरा पूरा और शुद्ध इतिहास ज्ञात हो सकता है। सारांश यह कि इस प्रकार हमें उसकी प्रतिभा के क्रम-विकास का पूरा पूरा ज्ञान हो सकता है।

समयानुक्रम रचना-प्रणाली

आजकल कुछ लोगों में ऐसी धुन समाई हुई है कि वे किसी प्रतिभाशाली ग्रंथकार के लिखे पत्रों, चिटों तथा अपूर्ण लेखों आदि का संग्रह बड़े उत्साह और अध्यवसाय से करते हैं। यह धुन कहीं कहीं तो पागलपन की सीमा तक पहुँच जाती है। इस संबंध में इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि किसी ग्रंथकार की लेखनी से निकली हुई प्रत्येक चिट्ठी या चिट न कभी एक से महत्व की हुई है और न कभी हो ही सकती है। अतएव केवल महत्वपूर्ण वस्तुओं का संग्रह करना ही उचित

है। हिंदी के समस्त प्राचीन ग्रंथों का अभी तक प्रकाशन नहीं हुआ। कहना तो यह चाहिए कि अभी बहुत ही थोड़े प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो पाया है। इस अवस्था में पहले तो यह आवश्यक है कि जो ग्रन्थ मिलते जायँ, वे सब प्रकाशित होते जायँ; और किसी कवि या लेखक के जीवन से संबंध रखनेवाली जितनी सामग्री मिले, सब संगृहीत कर ली जाय, जिसमें वह ग्रन्थ और वह सामग्री काल-कवलित होने से बच जाय। इसके अनंतर अनुकूल समय आने पर उनकी जाँच-पड़ताल करके महत्वपूर्ण और उपयोगी वस्तुएँ, अनुपयोगी और अनावश्यक वस्तुओं से अलग कर ली जायँ।

तुलनात्मक प्रणाली

ग्रन्थों के अध्ययन में आनुपूर्व्य अर्थात् समयानुक्रम प्रणाली का अवलंबन करने में हमें पद पद पर कवि की कृतियों की पारस्परिक समानता या विभिन्नता पर विचार करना चाहिए और तदनुसार उसके महत्व और उसकी प्रतिभा को तुलनात्मक कसौटी पर कसना चाहिए। इसके अनंतर हमको उस कवि की तुलना ऐसे अन्य कवियों से करनी चाहिए जिन्होंने उसी या उन्हीं विषयों पर लेखनी चलाई हो, एक ही प्रकार की समस्याओं पर विचार किया हो और जो एक ही प्रकार की स्थिति में स्थित रहे हों; अथवा कारण-विशेष से जिन्हें हमारा मन एक दूसरे से अलग न कर सकता हो। जैसे, यदि हम तुलसीदास जी पर विचार करना चाहें तो हमारा मन हठात् सूरदास, केशवदास

और व्रजवासी आदि पर जायगा और हम उन्हें आपस में मिलाकर उनकी समानता या विभिन्नता का विचार कर सकेंगे। इस प्रकार हम सुगमता से तुलसीदासजी के महत्व का निर्णय कर सकेंगे; उनकी प्रतिभा और उनके काव्य-कौशल की माप भी हम अच्छी तरह कर सकेंगे। इसी प्रकार हम देव, भूषण और मतिराम को साथ साथ पढ़कर उनकी कृतियों के तारतम्य का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

हम यह बात पहले ही लिख चुके हैं कि किसी कवि के विषय में विचार करने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसकी मनोवृत्तियों को समझें, उसकी प्रवृत्तियों को जानें, उसके उद्देश्य से अवगत हों और उसकी कवित्व-शक्ति का अनुमान करें। सारांश यह कि उसके अंतःकरण का पूरा विश्लेषण करके उसकी आत्मा से परिचित हो जायँ। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिये तुलनात्मक प्रणाली ही सब से उत्तम साधन है।

किसी कवि या लेखक के विषय में आलोचनात्मक विचार करने के लिये उसका जीवनचरित जानना परम आवश्यक है।

जीवनचरित्र

बिना इसके हम यथार्थ आलोचन करने में असमर्थ होंगे। जब कोई ग्रन्थ हमारा ध्यान आकर्षित करता है, तब हमारे मन में यह बात जानने का कुतूहल आपसे आप उत्पन्न हो जाता है कि उसका कर्ता कौन है, वह कब हुआ, उसके सहयोगी और सहचर कौन कौन थे, उसने

अपने जीवन में किस प्रकार और कैसे कैसे उद्योग किए, कहाँ तक उसे सफलता या विफलता हुई और उसके ग्रंथों का उसके जीवन से कहाँ तक संबंध है। यदि इन सब बातों का ठीक ठीक पता लग जाय तो हमें उस कवि या लेखक के ग्रंथ अधिक रोचक और मनोरंजक जान पड़ें और हम उन्हें बड़े चाव से पढ़ें। अतएव किसी ग्रंथकार या कवि की कृति को सुचारु रूप से समझने और उससे आनन्द उठाने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसके जीवन की मुख्य मुख्य घटनाओं से परिचित हों। परंतु साथ ही यह भी आवश्यक है कि जीवनचरित विश्वसनीय हो और उसका उपयोग विवेक-पूर्वक किया जाय। बिना इन दोनों बातों के अभीष्ट-सिद्धि में वह हमारा सहायक नहीं हो सकता। जीवनचरितों में कभी कभी इतनी तुच्छ और अप्रासंगिक बातें लिख दी जाती हैं जिनका कुछ भी मूल्य नहीं होता और जो चरित-नायक के यथार्थ जीवन पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाल सकतीं। तुलसीदास जी के रामचरितमानस का महत्व जानने के लिये यह आवश्यक नहीं कि हम यह भी जान लें कि उन्होंने कितने मुर्दे जिला दिए थे अथवा उस प्रसिद्ध पिशाच से किस भाषा में बात-चीत की थी। ये ऐसी बातें हैं जो रामचरितमानस को समझने और उससे आनंद उठाने में हमारी सहायक नहीं हो सकतीं। पर हाँ, अपनी सहधर्मिणी के मायके चले जाने पर अत्यंत आसक्ति के कारण, उनका उसके पीछे पीछे दौड़ा जाना एक ऐसी घटना है

जिसका जानना बहुत आवश्यक है; क्योंकि गोस्वामीजी की पत्नी का यह कहना कि—

> लाज न लागति आपु को, दौरे आएहु साथ।
> धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहहुँ मैं नाथ॥
> अस्थि-चरम-मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
> वैसी जौ श्रीराम महँ, होति न तौ भव-भीति॥

वह काम कर गया जिससे गोस्वामी जी कुछ के कुछ हो गए—रामचंद्र जी के भक्त-शिरोमणि होकर रामायण की रचना की बदौलत हिंदी साहित्य में सर्वोच्च आसन पर जा विराजे। यदि वह मर्मभेदी बात उनकी पत्नी के मुँह से न निकलती और वह उनके प्रेम का वैसा ही बदला देती, तो अन्य लाखों करोड़ों मनुष्यों के सदृश तुलसीदास जी भी अपनी जीवन-यात्रा पूरी करके परलोकवासी हो जाते और उनका कोई नाम भी न जानता। पर होना तो कुछ और ही था। वह व्यंग्य तुलसीदास जी के हृदय में चुभ गया और उसने उन्हें संसार से विरक्त बनाकर राम-भक्ति में ऐसा लीन कर दिया कि वे रामचरित-मानस के भक्तिरस-प्रवाह में लोगों को मग्न करके अपने को अमर कर गए। कहने का तात्पर्य यह है कि (साहित्यालोचन में आलोचक के लिये यह परम आवश्यक है कि वह कवि या लेखक के जीवनचरित से अपने प्रयोजन की सारी वस्तुएँ निकाल ले और निस्सार को छोड़ दे। जीवनचरित को विवेक-पूर्वक काम में लाना इसी का नाम है।)

किसी कवि की कृति को अच्छी तरह समझने के लिये यदि उस कवि के प्रति श्रद्धा नहीं तो कम से कम सहानुभूति तो अवश्य ही होनी चाहिए। बिना श्रद्धा के कवि के

श्रद्धा

अंतस्तल या आत्मा तक पहुँचकर उससे अवगत होने और उसके गुण-दोष जानने में मनुष्य समर्थ नहीं हो सकता। यह आवश्यक नहीं कि जितने ग्रंथ हम पढ़ें, सभी के रचयिताओं के प्रति हममें सहानुभूति या श्रद्धा हो। यह मानना ही पड़ेगा कि संसार में रुचि-वैचित्र्य भी कोई वस्तु है; और इसे मान लेने पर यह कहना असंभव हो जायगा कि सभी बड़े बड़े कवियों से हमारी सहानुभूति होनी चाहिए। किसी को वीर-रसात्मक काव्य के अध्ययन से जितना आनंद मिलता है, उतना शृंगार-रसात्मक काव्य से नहीं मिलता। यदि कोई रसिक भूषण से अधिक सहानुभूति और उनमें अधिक श्रद्धा रखता हो और विहारी को उपेक्षा की दृष्टि से देखता हो तो यह कोई दोष की बात नहीं। यह उसका रुचि-वैचित्र्य है जो उसमें एक से स्नेह और दूसरे से औदासीन्य या उपेक्षा उत्पन्न कराता है। अतएव यह आशा करना व्यर्थ है कि सब लोग सभी कवियों या ग्रन्थकारों की कृतियों से एक से आनंद की प्राप्ति कर सकेंगे। पर यह अत्यंत आवश्यक है कि जिस ग्रंथ का हम अध्ययन करना चाहते हों, उसके रचयिता से सहानुभूतिपूर्वक अपना परिचय आरंभ करें; और यदि क्रमशः हमारी सहानुभूति श्रद्धा में परिवर्तित हो जाय तो यह समझना चाहिए कि हम उसकी आलोचना के

अधिकारी हो गए। पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह श्रद्धा कहीं अंध विश्वास का रूप न धारण कर ले; क्योंकि अपनी आँखें खोलकर हम संसार में पथ-प्रदर्शक बनने के अधिकारी न हो सकेंगे। इसी लिये समालोचन-कार्य में हमें विवेकपूर्वक अग्रसर होना चाहिए।

रचना-शैली

(किसी कवि या ग्रंथकार की रचना-शैली भी उसकी कृति को समझने में हमारी सहायक होती है) कुछ लोगों की समझ में साहित्य शास्त्र के सिद्धांत जानना चुने हुए लोगों का ही काम है, सबका काम नहीं। यदि यह सम्मति ठीक हो तो भी साहित्य के अंग प्रत्यंग की जानकारी प्राप्त किए बिना भी हम लेखन-शैली के आधार पर ही किसी कवि या ग्रंथकार से विशेष परिचित हो सकते हैं। प्रायः देखा जाता है कि हम किसी कवि का कोई छंद अथवा किसी ग्रंथकार का कोई वाक्य सुनते ही कह बैठते हैं कि अमुक दोहा बिहारी के अतिरिक्त दूसरे का हो ही नहीं सकता, अथवा अमुक वाक्य अमुक लेखक का ही है। अच्छा तो वह कौन सी बात है, वह कौन सा गुण है, जिसके कारण हम ऐसा कहने में समर्थ होते हैं? इस संबंध में पहली बात तो यह है कि जब हम ऐसा कहते हैं, तब हमारा ध्यान उस कवि या लेखक के भावों या विचारों पर नहीं जाता; केवल उन भावों या विचारों को प्रकट करने का ढंग ही हम से ऐसा कहलाता है। हम अपने किसी मित्र या संबंधी की वाणी सुनते ही उसे पहचान लेते हैं। परिचितों की आवाज में एक

विशेषता होती है जिससे हम पूर्णतया अभिज्ञ होते हैं। चाहे हम उस विशेषता का विश्लेषण करने में समर्थ हों या न हों, पर उसे हम पहचान अवश्य सकते हैं और अपने मन में दूसरों की आवाज से उसकी विभिन्नता स्थिर कर सकते हैं। वाणी की वह विभिन्नता हमें अपने मित्र या संबंधी की आवाज पहचानने में समर्थ करती है। इसी प्रकार किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्य-रचना या विचार-व्यंजना का ढंग हमें बतला देता है कि वह कौन है। हमें इन सब बातों में उसका जो व्यक्तित्व दिखाई देता है, उसी से हम कह देते हैं कि यह पद या वाक्य दूसरे का हो ही नहीं सकता। इसी का नाम लेखन-शैली या रीति है।

एक विद्वान् ने रचना-शैली को विचारों का परिच्छद कहा है। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि परिच्छद शरीर से अलग रहता है, वह अपना निज का अस्तित्व रखता है; उसकी स्थिति उस व्यक्ति से भिन्न होती है। जिस प्रकार मनुष्य से उसके विचार अलग नहीं हो सकते, उसी प्रकार विचारों को व्यक्त करने का ढंग भी उनसे अलग नहीं हो सकता। अतएव शैली को विचारों का परिच्छद न कहकर यदि हम उन विचारों का दृश्यमान रूप कहें, तो बात कुछ अधिक संगत हो सकती है। भाषा का प्रयोग तो सभी लोग करते हैं, पर प्रतिभावान् की भाषा कुछ निराले ढंग की होती है। वह उसके भावों की क्रीत दासी सी होती है और उसे वह अपने विचार प्रकट करने के लिये अपनी इच्छा के अनुसार, अपनी विशेषता के अनुरूप एक विशेष प्रकार के साँचे में ढाल

लेता है। उसके भावों, विचारों, मनोवृत्तियों तथा कल्पनाओं का जमघट और अनुक्रम, उपमा, अनुप्रास आदि अलंकारों का प्रयोग, उसकी सूझ, गंभीरता, निपुणता आदि उद्भावनाएँ और मन की तरंगें, जो उसके मस्तिष्क से भाषा का रूप धारण करके प्रकट होती हैं, उसकी शैली पर विशेषता की छाप लगा देती हैं।

भिन्न भिन्न लेखकों और कवियों की रचनाओं में भिन्न भिन्न विशेषताएँ होती हैं। अतएव किसी कवि या ग्रंथकार की आलोचना करते समय उसकी लेखन-शैली अर्थात् भाव-व्यंजना के ढंग पर भी विचार करना पड़ता है। एक ही ग्रंथकार की रचनाओं में भी, समय पाकर, शैली बदल जाती है। प्रायः देखा जाता है कि किसी कवि की प्रारंभ की कृतियों में शब्दों का बाहुल्य और भावों की न्यूनता होती है; मध्यावस्था में दोनों—शब्द-प्रयोग और भाव—प्रायः बराबर हो जाते हैं; और उत्तर अवस्था में शब्दों की कमी और भावों की अधिकता हो जाती है। प्रारंभ में प्रायः यह देखा जाता है कि कवि अपनी भाषा बड़ी सावधानी से सजाता है—थोड़े से भावों को बड़े विस्तार के साथ लिखता है। अर्थात् वह शब्दाडंबर का अधिक सहारा लेता है। परंतु अन्तिम अवस्था में उसके वाक्य गठे हुए होते हैं। उनमें थोड़ी भी न्यूनाधिकता करने से भाव बदल जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि भावों और शब्दों की दौड़ में भाव आगे निकले जाते हैं और शब्द पीछे रहे जाते हैं। इससे यह अर्थ न निकालना चाहिए कि उत्तर-कालीन भाषा में शिथिलता आ जाती

है, उसमें ओज नहीं रहता या वह भाव-व्यंजना में असमर्थ सी हो जाती है। नहीं, भाषा तो प्रतिभावान् लेखक की क्रीत दासी है; वह उसकी आज्ञा की वशवर्तिनी रहने में ही अपना सौभाग्य समझती है। अतएव किसी कवि की शैली की विवेचना से हम उसके मस्तिष्क का विकास समझने, उसके भाव जानने तथा उसके कला-कौशल का यथेष्ट अनुभव करने में समर्थ होते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका आशय यही है कि किसी कवि या ग्रंथकार की रचना की विवेचनापूर्ण समीक्षा करने में हमें नीचे लिखी बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ—

(१) समस्त ग्रंथों का अध्ययन किया जाय।

(२) यह अध्ययन उनके निर्म्माण-काल के क्रम से हो।

(३) इस अध्ययन में तुलनात्मक प्रणाली का अवलंबन किया जाय।

(४) कवि के विश्वसनीय जीवनचरित का विवेकपूर्वक उपयोग किया जाय।

(५) कवि के प्रति सहानुभूति और श्रद्धा हो। और

(६) ध्यानपूर्वक उसकी शैली का अनुशीलन किया जाय।

किसी कवि या ग्रंथकार की कृति पर इस प्रकार विचार करने से हम उसके मानसिक विकास का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और उसके गुणों तथा दोषों से अच्छी तरह परिचित हो सकते हैं।

तीसरा अध्याय

साहित्य का विवेचन

साहित्य और जातीयता

पिछले अध्याय में हम यह बतला चुके हैं कि किस प्रकार ग्रंथों के अध्ययन से हम ग्रंथकार की समीक्षा करके उसके मानसिक विकास का वृत्तांत जान सकते हैं। इस अध्याय में हम इस बात का निरूपण करेंगे कि ग्रंथकार के ग्रंथों के अध्ययन से हम उसके देश और उसके देशवासियों का बहुत कुछ समकालीन इतिहास भी जान सकते हैं। किसी साहित्य का अध्ययन करते करते हमें इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है कि यदि हमें उस साहित्य का क्रम बद्ध इतिहास अवगत हो जाता तो बड़ी बात होती—हम उसका और भी अधिक गहरा अध्ययन कर सकते। बात यह है कि साहित्य और उसके इतिहास में अन्योन्याश्रय संबंध है। एक के ज्ञान के लिये दूसरे का ज्ञान भी आवश्यक है। किसी प्रतिभाशाली ग्रंथकार की स्थिति अपने ही काल और अपने ही व्यक्तित्व से सीमाबद्ध नहीं होती। वह उनसे भी आगे बढ़ जाती है; यहाँ तक कि वह पीछे की भी ख़बर लेती है। उसका संबंध भूत और भविष्य से भी होता है। समय की शृंखला में कवि या ग्रन्थकार बीच की कड़ी के समान

होता है। जिस प्रकार श्रृंखला में आगे और पीछे की कड़ियाँ बीचवाली कड़ियों से संलग्न रहकर उस श्रृंखला का अस्तित्व बनाए रहती हैं, उसी प्रकार प्रतिभाशाली ग्रंथकार अपने पूर्ववर्ती ग्रंथकारों का फल-स्वरूप और उत्तरवर्ती ग्रंथकारों का फूल-रूप होता है। जैसे फूल के अनंतर फल का आगम होता है, वैसे ही ग्रंथकार भी एक का फल और दूसरे का फूल होता है। भूत और भविष्य के इस संबंध-ज्ञान की कृपा से हम वर्तमान ग्रंथकारों की कृतियों के द्वारा उनके समकालीन तथा पूर्ववर्ती ग्रंथकारों तक भी पहुँच जाते हैं। अन्त में इस प्रकार चलते चलते हम उनके जातीय साहित्य तक पहुँच सकते हैं। वहाँ तक पहुँचने पर हम इस बात का अनुभव करने लगते हैं कि वह जातीय साहित्य भी कुछ सत्ता रखता है और वह सत्ता सजीव सी है। क्योंकि ज्यों ज्यों जीता जागता प्राणी प्राकृतिक नियमों के वशीभूत होकर विकास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं को पार करता हुआ उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है, त्यों त्यों जातीय साहित्य भी उन्नति करता जाता है। अतएव किसी साहित्य के अध्ययन में ऐतिहासिक दृष्टि से हमें दो बातों पर विचार करना पड़ता है—एक तो उसके परंपरागत जीवन पर, अर्थात् उसके जातीय भाव पर; और दूसरे उस जीवन के परिवर्तनशील रूप पर, अर्थात् इस बात पर कि वह जातीय जीवन किस प्रकार भिन्न भिन्न समयों के भावों को अपने में अन्तर्हित करके उन्हें व्यंजित करता है। अतएव किसी जाति के काव्य-समूह या साहित्य के

अध्ययन से हम यह जान सकते हैं कि उस जाति या देश का मानसिक जीवन कैसा था और वह क्रमशः किस प्रकार विकसित हुआ।

जातीय साहित्य

पहले हमें यह जानना चाहिए कि जब हम किसी देश के जातीय साहित्य के इतिहास का उल्लेख करते हैं, तब उससे हमारा तात्पर्य क्या होता है। अर्थात् जब हम भारतीय आर्य जाति का साहित्य, यूनानी साहित्य, फ्रांसीसी साहित्य, या अँगरेजी साहित्य आदि वाक्यांशों का प्रयोग करते हैं, तब हम किस बात को व्यंजित करना चाहते हैं। कुछ लोग कहेंगे कि इन वाक्यांशों का तात्पर्य यही है कि उन उन भाषाओं में कौन कौन से लेखक हुए, वे कब कब हुए, उन्होंने कौन कौन से ग्रंथ लिखे, उन ग्रंथों के गुण-दोष क्या हैं और उनके साहित्यिक भावों में क्या क्या परिवर्त्तन हुए। यह ठीक है; पर जातीय साहित्य में इन बातों के अतिरिक्त और भी कुछ होता है। जातीय साहित्य केवल उन पुस्तकों का समूह नहीं कहलाता जो किसी भाषा या किसी देश में विद्यमान हों। जातीय साहित्य जाति-विशेष के मस्तिष्क की उपज और उसकी प्रकृति के उन्नतिशील तथा क्रमगत अभिव्यंजन का फल है। संभव है कि कोई लेखक जातीय आदर्श से दूर जा पड़ा हो और उसकी यह विभिन्नता उसकी प्रकृति की विशेषता से उत्पन्न हुई हो; परंतु फिर भी उसकी प्रतिभा में स्वाभाविक जातीय भाव का कुछ न कुछ अंश वर्तमान रहेगा ही। उसे वह सर्वथा छोड़

नहीं सकता। यदि स्वाभाविक जातीय भाव किसी काल में वर्तमान कुछ ही चुने हुए स्वनाम-धन्य लेखकों में पाया जायगा, तो हम कह सकेंगे कि उस काल के जातीय साहित्य की वही विशेषता थी। जब हम कहते हैं कि अमुक काल के भारतीय आर्यों, यूनानियों या फ्रांसीसियों का जातीय भाव ऐसा था, तब हमारा यह तात्पर्य नहीं होता कि उस काल के सभी भारतीयों, यूनानियों या फ्रांसीसियों के विचार, भाव या मनोवेग एक से थे। उससे हमारा यही तात्पर्य होता है कि व्यक्तिगत विभिन्नता को छोड़कर जो साधारण भाव किसी काल में अधिकता से वर्तमान होते हैं, वे ही भाव जातीय प्रकृति के व्यंजक या बोधक होते हैं और उन्हीं को जातीय भाव कहते हैं, चाहे उन्हें कोई दोष समझे चाहे गुण। उन्हीं जातीय भावों का विवेचनापूर्वक विचार करके हम इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि अमुक काल में अमुक जाति के जातीय भाव ऐसे थे। उन्हीं के आधार पर हम किसी जाति की शक्ति, उसकी त्रुटि और उसकी मानसिक तथा नैतिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा इस बात का अनुभव करते हैं कि उस जाति ने संसार की मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति में कहाँ तक योग दिया। मध्य काल अर्थात् सन् ईसवी की दसवीं से चौदहवीं शताब्दियों के बीच युरोप में किसी नवयुवक की शिक्षा तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती थी जब तक वह युरोप के सभी मुख्य मुख्य देशों में पर्य्यटन न

कर आता था। इसका उद्देश्य यही था कि वह अन्य देशों के निवासियों, उनकी भाषाओं, उनके रीति-रवाज तथा उनकी सार्वजनिक संस्थाओं आदि का ज्ञान प्राप्त कर ले जिसमें पारस्परिक तुलना से वह अपने जातीय गुण-दोषों का ज्ञान प्राप्त कर सके और अपने शील-स्वभाव तथा व्यवहार को परिमार्जित और सुन्दर बना सके। साहित्य का अध्ययन भी एक प्रकार का पर्य्यटन या देश-दर्शन ही है। उसके द्वारा हम अन्य देशों और जातियों के मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन से परिचय प्राप्त करते और उनसे निकटस्थ संबंध स्थापित करके उनके उपार्जित ज्ञान-भांडार के रसास्वादन में समर्थ होते हैं। देश-दर्शन के लिये की जानेवाली साधारण यात्रा और साहित्यिक यात्रा में बड़ा भेद है। साधारण यात्रा तो हम किसी निर्दिष्ट काल में ही कर सकते हैं, पर साहित्यिक यात्रा के लिये काल का कोई बन्धन नहीं। यह यात्रा हम चाहे जिस काल में कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि हम किसी भी जाति की, किसी भी काल की विद्वन्मंडली से, जब चाहें, परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिये किसी प्रकार का अवरोध या बन्धन नहीं है।

इस प्रकार दूसरी जातियों के साहित्य के इतिहास का अध्ययन करके हम उस जाति की प्रतिभा, उसकी प्रवृत्ति, उसकी उन्नति आदि के क्रमिक विकास का इतिहास जान सकते हैं। इस दशा में साहित्य इतिहास का सहायक और व्याख्याता हो जाता है (इतिहास हमें यह बताता है कि किसी जाति ने किस

प्रकार अपनी सांसारिक सभ्यता बढ़ाई और वह क्या क्या करने में समर्थ हुई। साहित्य बताता है कि जाति विशेष की आंतरिक वासनाएँ, भावनाएँ, मनोवृत्तियाँ तथा कल्पनाएँ क्या थीं, उनमें क्रमशः कैसे परिवर्तन हुआ, सांसारिक जीवन के उतार-चढ़ाव का उन पर कैसा प्रभाव पड़ा और उस प्रभाव ने उस जाति के मनोविकारों और मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन को नए साँचे में कैसे ढाला। साहित्य ही से हमें जातियों के आध्यात्मिक, मानसिक और नैतिक विकास किंवा उन्नति का ठीक ठीक पता मिलता है।

साहित्य और काल की प्रकृति

उसी काल के बहुत से कवियों या लेखकों की कृतियों के साधारण अध्ययन से भी हमें इस बात का पता लग जाता है कि कुछ ऐसी साधारण बातें हैं जो उन सब की कृतियों में एक सी पाई जाती हैं, चाहे और अनेक बातों में विभिन्नता ही क्यों न हो। उनके अध्ययन से ऐसा प्रकट होता है कि विभिन्न होने पर भी उनमें कुछ समता है। हम पहले ही यह बात लिख चुके हैं कि जब हम तुलसीदास के ग्रंथों पर विचार करते हैं, तब हमारा मन हठात् सूरदास, केशवदास, व्रजवासीदास आदि के ग्रंथों पर चला जाता है। तब हम इन सब की तुलनात्मक जाँच करने और इनकी समता या विभिन्नता का ज्ञान प्राप्त करने में लग जाते हैं। यह संभव है, और कभी कभी देखने में भी आता है, कि एक ही वंश या माता-पिता की संतति में जहाँ प्रायः कुछ

बातें समान होती हैं, वहाँ कोई ऐसी भी संतति जन्म लेती है जिसमें एक भी गुण सब के जैसा नहीं होता। उसमें सभी बातों में औरों से भिन्नता पाई जाती है। यह बात किसी निर्दिष्ट काल के किसी विशेष ग्रंथकार में भी हो सकती है। पर साधारणतः उस काल के अधिकांश ग्रंथकारों में कोई न कोई सामान्य गुण प्रायः होता ही है। इसी सामान्य गुण को हम उस काल की प्रकृति या भाव कह सकते हैं।

हिंदी साहित्य का इतिहास ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह विदित होता है कि हम उसे भिन्न भिन्न कालों में ठीक ठीक विभक्त नहीं कर सकते। उसके साहित्य का इतिहास एक बड़ी नदी के प्रवाह के समान है, जिसकी धारा उद्गम स्थान में तो बहुत छोटी होती है, पर आगे बढ़कर और छोटे छोटे टीलों या पहाड़ियों के बीच में पड़ जाने पर वह अनेक धाराओं में बहने लगती है। बीच बीच में दूसरी छोटी छोटी नदियाँ कहीं तो आपस में दोनों का संबंध करा देती हैं और कहीं कोई धारा प्रबल वेग से बहने लगती है और कोई मंद गति से। कहीं खनिज पदार्थों के संसर्ग से किसी धारा का जल गुणकारी हो जाता है और कहीं दूसरी धारा के गँदले पानी या दूषित वस्तुओं के मिश्रण से उसका जल अपेय हो जाता है। सारांश यह कि जैसे एक उद्गम से निकलकर एक ही नदी अनेक रूप धारण करती है और कहीं पीनकाय तथा कहीं क्षीणकाय होकर प्रवाहित होती है और जैसे कभी कभी जल की एक धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती

और अनेक भूभागों से होकर बहती है, वैसे ही हिन्दी साहित्य का इतिहास भी आरंभिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा है। प्रारंभ में कवि लोग स्वतंत्र राजाओं के आश्रित होकर उनके कीर्तिगान में लगे और देश के इतिहास को कविता के रूप में लिखते रहे। समय के परिवर्तन से साहित्य की यह स्थूल धारा क्रमशः क्षीण होती गई, क्योंकि उसका जल खिंचकर भगवद्-भक्ति रूपी एक अन्य धारा में जाने लगा। यह भगवद्-भक्ति रूपी धारा रामानंद और वल्लभाचार्य के अवरोध के कारण दो धाराओं में विभक्त होकर रामभक्ति और कृष्ण-भक्ति के रूप में परिवर्तित हो गई। फिर आगे चलकर केशवदास के प्रतिभा-प्रवाह ने इन दोनों धाराओं का रूप बदल दिया। जहाँ पहले भाव-व्यंजना तथा विचारों के प्रत्यक्षीकरण पर विशेष ध्यान रहता था, वहाँ अब साहित्य-शास्त्र के अंग-प्रत्यंग पर जोर दिया जाने लगा। रामभक्ति की साहित्य-धारा तो तुलसीदास के समय में खूब ही उमड़ चली। उसने अपने अमृतोपम भक्ति-रस के द्वारा देश को आप्लावित कर दिया और उसके सामने मानव-जीवन का सजीव आदर्श उपस्थित कर दिया। साहित्य-शास्त्र की धारा उसमें अपना पानी न मिला सकी। पर कृष्ण-भक्ति की धारा में उसका पानी बड़े वेग से मिलता गया। अतएव उस धारा का रूप ही कुछ का कुछ—यहाँ तक कि किसी अंश में अपेय तक—हो गया। कवियों को कृष्ण-लीला के आक्षेप-योग्य अंश के अतिरिक्त और कोई

विषय ही न मिलने लगा, जिस पर वे अपनी लेखनी चलाते। बात यहाँ तक बिगड़ी कि कवियों को नायिका-भेद और नख-शिख आदि का वर्णन करने में ही अपनी सारी शक्ति लगाने में प्रयत्नशील होना पड़ा। इसी बीच में मुसलमानों की राज्यधारा के साथ विलासिता और शृंगार-रसप्रियता का एक और नया प्रवाह उसमें आ मिला। इस प्रकार तीन छोटी छोटी धाराओं के मेल से बनी हुई एक बहुत बड़ी धारा ने कविता-सरिता के रूप में आकाश-पाताल का अन्तर कर दिया। भावों की व्यंजना, विचारों का प्रत्यक्षीकरण, अंतःकरण का प्रतिबिंब कविता में न झलकने लगा। बलवत् लाए गए अलंकारों ने कविता-नदी को कठिनता से अवगाहन योग्य बना दिया—उन्होंने उसे विशेष जटिल कर दिया। जो पहले भाव-व्यंजना आदि के सहायक थे, वे अब स्वयं स्वामी बन बैठे। फल यह हुआ कि कविता की स्वाभाविकता जाती रही और वह अपने आदर्श आसन से गिर गई। कवि नायिकाओं का रूप-रंग वर्णन करने में ही अपना कौशल दिखाने लगे। वे आंतरिक भावों की विवृत्ति न कर सके; वे चरित्र-चित्रण और भावप्रदर्शन करना भूल गए। स्थूल दृष्टि के सामने जो कुछ आया, उसे शब्दाडंबर से लपेटने में ही वे अपनी कवित्व शक्ति की चरम सीमा मानने लगे। इस प्रकार भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न प्रभावों और कारणों के पंजे में पड़कर साहित्य का रूप बदलता रहा; पर कविता-सरिता की धाराएँ बराबर बहती ही रहीं।

जिस काल में जो गुण या विशेषत्व प्रबल रहता है, वही

उस काल की प्रकृति या भाव कहलाता है। इस भाव या प्रकृति को हम किसी निर्दिष्ट काल के कवियों की कृति के अध्ययन से निर्धारित कर सकते हैं। पर इस बात का हमें ध्यान रखना चाहिए कि हिंदी साहित्य का इतिहास निर्दिष्ट कालों में कठिनता से बाँधा जा सकता है। साहित्य का जो प्रवाह आरंभ से बहा, वह बहता ही गया। भिन्न भिन्न कालों में उसके रूप में परिवर्तन तो हुआ, पर प्रवाह का मूल एक ही सा बना रहा।

किसी निर्दिष्ट काल की प्रकृति जानने में हमें कवि-विशेष ही की कृति पर अवलंबित न होना चाहिए, चाहे वह कवि कितना ही बड़ा, कितना ही प्रतिभाशाली और काव्य-कला के ज्ञान से कितना ही संपन्न क्यों न हो। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह कवि भी तत्कालीन सामाजिक जीवन और सांसारिक परिस्थिति के प्रभाव से बचा नहीं रह सकता। उसकी सत्ता स्वतंत्र नहीं हो सकती। वह भी जाति के क्रमिक विकास की शृंखला के बंधन के बाहर नहीं जा सकता। यह बात ध्यान में रखने से ही हम उसके ग्रन्थों के अध्ययन से जातीय विकास का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। भूषण और हरिश्चन्द्र के ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करके हम जान सकते हैं कि उनके समयों की स्थिति और तत्कालीन जातीय सत्ता में कितना अन्तर था।

अतएव कवि अपने समय की स्थिति के सूचक होते हैं। उनकी कृतियाँ उनके समय का प्रतिबिंब दिखाने में आदर्श का

काम देती हैं। उनके आश्रय से हम अपने अनुसंधान में अग्रसर हो सकते हैं और उन्हें आधार मानकर साहित्य के इतिहास को भिन्न भिन्न कालों में विभक्त कर सकते हैं। यह काल-विभाग अपने अपने समय के कवियों के विशेष विशेष गुणों के कारण स्पष्टतापूर्वक निर्दिष्ट किया जा सकता है। कविता के विषय, विषय-प्रतिपादन की प्रणाली, भावव्यंजना के ढंग आदि की ही गणना गुण-विशेषों में है। वे ही एक काल के कवियों को दूसरे काल के कवियों से पृथक् कर देते हैं। जैसे प्रत्येक ग्रन्थ में उसके कर्त्ता का आंतरिक रूप प्रच्छन्न रहता है और प्रत्येक जातीय साहित्य में उस जाति की विशेषता छिपी रहती है, वैसे ही किसी काल में साहित्य में परोक्ष रूप से उस काल की विशेषता भी गर्भित रहती है। किसी काल के सामाजिक जीवन की विशेषता अनेक रूपों में व्यंजित होती है: जैसे राजनीतिक संघटन, धार्मिक विचार, आध्यात्मिक कल्पनाएँ आदि। इन्हीं रूपों में साहित्य भी एक रूप है जिस पर अपने काल की जातीय स्थिति की छाप रहती है। उसका विचार-पूर्वक अध्ययन करने से वह छाप स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

साहित्य का विकास

इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि किसी कवि या ग्रन्थकार पर तीन मुख्य बातों का प्रभाव पड़ता है। वे ही उसके कृतिजात रूप को स्थिर करने में सहायक होती हैं। वे तीन बातें हैं—जाति, स्थिति और काल। जाति से हमारा तात्पर्य किसी जन-समुदाय के

स्वभाव से है; स्थिति से तात्पर्य्य उस सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और प्राकृतिक अवस्था से है जो उस जन-समुदाय पर अपना प्रभाव डालती है; और काल से तात्पर्य्य उस समय के जातीय विकास की विशेषता से है। स्मरण रहे कि यद्यपि ये तीनों ही बातें जातीय साहित्य के विकास और ग्रंथकारों के विशेषत्व के उत्पादन में साधारणतः सहायक हो सकती हैं और होती भी हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं कि सभी ग्रंथकार इन्हीं तीन शक्तियों के अधीन या उनसे प्रेरित होकर ग्रंथ-रचना करते हैं। क्योंकि यदि हम यह मान लेंगे तो किसी कवि या ग्रंथकार की व्यक्तिगत सत्ता अथवा विशेषता का सर्वथा लोप हो जायगा; और जहाँ उसका लोप हुआ, तहाँ वास्तविक काव्य का भी लोप हो गया समझिए। साधारण लेखकों की अपेक्षा प्रतिभाशाली लेखकों के लेखों में कुछ विशेष प्रकार के गुण पाए जाते हैं। अतएव यदि पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धांत सर्वत्र चरितार्थ हो सकेगा, तो महाकवियों और प्रख्यात लेखकों की विशिष्टता ही नष्ट हो जायगी। यह अवश्य सच है कि साधारण श्रेणी के ग्रंथकार या कवि अपने समय की प्रकृति या स्थिति के द्योतक होते हैं, पर सच्चे प्रतिभावान् लेखक या कवि के लिये यह बात आवश्यक नहीं है। संभव है कि उसमें वह प्रकृति या स्थिति भी लक्षित होती हो, पर उसकी विशेषता तो इसी में है कि वह किसी अभिनव प्रकृति, स्थिति या भाव का निर्माता हो, उस पर अपना प्रभाव डालकर उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करने में समर्थ हो और अपनी

अलौकिक मानसिक शक्ति से उसे नया रंग-रूप देने—उसे नए साँचे में ढालने—में सफल हो। यही उसकी विशेषता, यही उसका गौरव और यही उसकी प्रतिभा का साफल्य है।

ऊपर कहे हुए सिद्धांत के अनुसार ग्रंथकार पर काल, स्थिति और जाति की प्रकृति का प्रभाव तो स्वीकृत किया जाता है, पर उस प्रकृति पर ग्रंथकार के प्रभाव की उपेक्षा की जाती है। इससे इस सिद्धांत में दोष आ जाता है। सारांश यह कि प्रतिभाशाली ग्रंथकार या कवि अपने काल, जाति और स्थिति की प्रकृति द्वारा निर्मित ही नहीं होता, वह उसका निर्माण भी करता है। वह केवल उनसे प्रभावान्वित होनेवाला ही नहीं, उन पर प्रभाव डालनेवाला भी है। ग्रंथकार या कवि की विशेष सत्ता की उपेक्षा न की जानी चाहिए, किंतु उसे ध्यान में रखकर साहित्य के विकास का रूप या इतिहास प्रस्तुत करना चाहिए।

जिस प्रकार किसी ग्रंथकर्ता की कृतियों के अध्ययन में तुलनात्मक और आनुपूर्व्य प्रणालियों के अनुसरण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार किसी जाति के साहित्य के अध्ययन में भी हमें उन्हीं प्रणालियों के अनुसरण की आवश्यकता है। विना इन प्रणालियों का अवलंबन किए काम नहीं चल सकता, तथ्यांश जाना ही नहीं जा सकता। जब हम किसी निर्दिष्ट काल के साहित्य का मिलान किसी दूसरे निर्दिष्ट काल के साहित्य से करते हैं,

जातीय साहित्य का अध्ययन

तब हम उन दोनों में प्रायः कुछ बातें तो समान और कुछ विभिन्न पाते हैं। आपस में उनका मिलान करना और उस मिलान का ठीक ठीक फल समझना हमारा कर्तव्य है। समय के प्रभाव से विचारों, भावों और आदर्शों में परिवर्तन हो जाता है; साथ ही उन्हें प्रदर्शित या व्यंजित करने के ढंग में भी परिवर्तन हो जाता है। कभी कभी तो ऐसा जान पड़ने लगता है कि हमारे पूर्व ग्रंथकारों और हममें बड़ा अन्तर हो गया है। साहित्य का अध्ययन यहीं काम देता है। उसी से इस परिवर्तन का अन्तर और उस अन्तर का कारण समझ में आता है। वही हमें यह जानने में समर्थ करता है कि उन परिवर्तनों के आधारभूत कौन कौन से कारण या अवस्थाएँ हैं और विभिन्न होने पर भी कैसे वे एक ही विचार-शृंखला की कड़ियाँ हैं, जिनपर, निरंतर काम में न आने से, जंग सा लग गया है और जो जीर्ण सी प्रतीत होती हैं।

साहित्य पर विदेशी प्रभाव

जब दो जातियों में परस्पर संबंध हो जाता है—चाहे वह संबंध मित्रता का हो, चाहे अधीनता का हो, चाहे व्यवहार या व्यवसाय का हो—तब उनमें परस्पर भावों या विचारों आदि का विनिमय होने लगता है। जो जाति अधिक शक्तिशालिनी होती है, उसका प्रभाव शीघ्रता से पड़ने लगता है; और जो कम शक्तिशालिनी या निःसत्व होती है, अथवा जो चिर काल से पराधीन होती है, अथवा जिसकी सभ्यता विकसित होकर दब जाती है, वह शीघ्रता

से प्रभावान्वित होने लगती है। पराधीन जातियों में मानसिक दासत्व क्रमशः बढ़कर इतना व्यापक हो जाता है कि शासित लोग शासकों की नकल करने में ही अपने जीवन की कृतकृत्यता समझते हैं। अविकसित जातियाँ दूसरी जातियों की सभ्यता का मर्म समझने में समर्थ नहीं होतीं। उनपर तो शारीरिक शक्ति का ही अधिक प्रभाव पड़ता है। सम-शक्तिशालिनी जातियों में यह विनिमय परस्पर हुआ ही करता है; अथवा यह कहना चाहिए कि जो बात जिस जाति में स्पृहणीय या उत्कृष्ट होती है, उसे दूसरी जाति ग्रहण कर लेती है। इन बातों को ध्यान में रखकर हम किसी साहित्य के अध्ययन से यह जान सकते हैं कि कहाँ तक किस जाति के साहित्य पर विदेशी प्रभाव पड़ा है। भारत-वर्ष के पश्चिमी अंचल में पहले-पहल यूनानियों का आगमन हुआ और वह आगमन बहुत समय तक होता रहा। अतएव उनकी सभ्यता और कारीगरी का प्रभाव यहाँ की ललित कलाओं पर बहुत अधिक पड़ा। जहाँ यूनानियों का प्रभाव अधिक व्यापक और स्थायी था, वहाँ की ललित-कला के रूप में विशेष परिवर्तन हुआ। उस समय के उस परिवर्तन के अवशिष्ट चिह्न अब तक, विशेष करके मूर्त्तियों में, दिखाई पड़ते हैं। गांधार प्रदेश में मिली हुई पुरानी मूर्त्तियाँ यूनानी प्रभाव से अधिक प्रभावान्वित पाई जाती हैं। उनकी काट-छाँट तथा आकृति में जो सुन्दरता दृष्टि-गोचर होती है, वह दक्षिण या मध्य भारत में निर्म्मित मूर्तियों में नहीं दिखाई पड़ती। मुसलमानों के राजत्व-काल में

भारतवासियों पर उनका भी प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव सैंकड़ों वर्षों तक बराबर पड़ता ही गया। फल यह हुआ कि वह अधिक स्थायी और व्यापक हुआ। और वस्तुओं या विषयों पर पड़े हुए इस प्रभाव की विशेष विवेचना हम नहीं करते, हम केवल अपनी काव्य-कला ही का निदर्शन करते हैं। उसकी स्थूल विवेचना से भी हमें यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि उसमें शृंगार रस का जो इतना आधिक्य है, वह बहुत कुछ उसी प्रभाव का फल है। अँगरेजों के आगमन, संपर्क और सत्ता का प्रभाव तो उससे भी बढ़कर पड़ा। हमारे गद्य-साहित्य का विकास तो उन्हीं के संसर्ग का प्रत्यक्ष प्रमाण है। हमारे विचारों, मनोभावों, आदर्शों और संस्थाओं पर भी उन्होंने अपने प्रभाव की स्थायी छाप लगा दी। उन्होंने तो यहाँ तक हमारी सभ्यता पर छापा मारा कि जिधर देखिए, उधर ही उनका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। बात यह थी कि हमारी जाति कुछ समय पहले से ही सुषुप्तावस्था में पड़ी थी। इस कारण यह प्रभाव अधिक शीघ्रता से दूर दूर तक व्यापक हो गया। जब जाग्रति के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे, तब एक ओर तो इस प्रभाव का अवरोध होने लगा और दूसरी ओर उसके पृष्ठपोषक उसे स्थायी बना रखने के लिये उद्योगशील होने लगे। साहित्य का अध्ययन करनेवाले, उसका मर्म्म समझनेवाले तथा उसके विकास का सच्चा स्वरूप पहचाननेवाले के लिये यह परम आवश्यक है कि वह विदेशी प्रभाव की विवेचना करे और देखे कि यह प्रभाव साहित्य पर

किस प्रकार पड़ा और किस प्रकार उसने यहाँ के लोगों के आदर्शों, विचारों, मनोभावों और लेखन-शैली में परिवर्तन कर दिया। उसे यह भी देखना और बताना चाहिए कि इस परिवर्तन के कारण हमारे काव्य या साहित्य में कहाँ तक चारुता या विरूपता आई। अतएव साहित्य के अध्ययन में यह भी आवश्यक है कि हम उन जातियों के साहित्य के इतिहास से अभिज्ञता प्राप्त करें जिनसे हमारा संबंध हुआ है। बिना ऐसा किए हमारा विवेचन अपूर्ण और अल्पोपयोगी होगा।

शैली और साहित्य

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, लेखन-शैली विचारों के प्रकाशन का बाहरी रूप है; अथवा यह कहना चाहिए कि वह भाषा के प्रयोग का व्यक्तिगत विशेष ढंग है। समय पाकर जैसे विचारों में परिवर्तन हो जाता है, वैसे ही उनको व्यक्त करने की शैली या ढंग में भी परिवर्तन होता है। साहित्य की अंतरात्मा पर समय, स्थिति, संपर्क आदि का प्रभाव पड़ने पर जैसे उनमें परिवर्तन हो जाता है, वैसे ही उसे प्रकट करने के ढंग में भी परिवर्तन होना अनिवार्य है। किसी निर्दिष्ट काल का कोई ग्रंथकार या कवि, उस काल की विशेषता के कारण, अपने भावों या विचारों को उस काल की प्रकृति या परिस्थिति के प्रभाव से अछूता नहीं रख सकता। इस दशा में उन विचारों या भावों के व्यक्तीकरण का ढंग भी उस प्रभाव की पहुँच की सीमा के बाहर नहीं रह सकता। उसे भी अपना रूप बदलना ही पड़ता है। जैसे किसी

कवि की कृति की अंतरात्मा पर, चाहे उस पर उसकी व्यक्तिगत सत्ता की छाप कितनी ही गहरी क्यों न पड़ी हो, उस काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, वैसे ही उसकी रचना का बाहरी रूप भी उसके प्रभाव से नहीं बच सकता। इस सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिये हम उदाहरणवत् लल्लूलाल और हरिश्चंद्र के गद्य उपस्थित करते हैं। इन दोनों के गद्य को ध्यानपूर्वक पढ़कर विवेकशील पाठक स्पष्ट देख सकते हैं कि दोनों की लेखन-शैली में कितना अंतर है। यह सच है कि लल्लूलाल ने ब्रज भाषा के पद्य और ब्रज मंडल की बोली का सहारा लेकर गद्य लिखने का प्रयत्न किया है और हरिश्चंद्र को लल्लूलाल के पीछे के और अपने से ७०-८० वर्ष पहले के गद्य के विकसित रूप का सहारा मिला है। पर यहाँ हमारा उद्देश्य उन कारणों पर विचार करना नहीं है जिनसे इन दोनों के गद्य में इतना अंतर हो गया है। हम तो केवल यह दिखाना चाहते हैं कि दोनों की गद्य-शैली ने किस तरह भिन्न भिन्न रूप धारण किए। लल्लूलाल की कृति बहुत पहले की है, और उस पर कविता का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उस समय तो वह अपना रूप स्थिर करने में लगी हुई थी, पर हरिश्चंद्र के समय में उस रूप में कुछ कुछ स्थिरता आ गई थी। वह परिमार्जित हो चली थी; उसमें प्रौढ़ता और शक्ति-संपन्नता के चिह्न दिखाई देने लगे थे; वह भाव-व्यंजना में अधिक समर्थ हो चली थी। उसी रूप से अनुप्राणित और प्रभावान्वित

होकर हरिश्चंद्र ने गद्य-लेखन की उस शैली की अवधारणा की है जिसे हम उनकी पुस्तकों में पाते हैं। यह विवेचन इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि शैली का आनुपूर्व्य और तुलनात्मक अध्ययन भी साहित्य की स्थिति-विवेचना में सहायक हो सकता है।

साहित्य-संबंधी शास्त्र

अब तक हमने काव्य और साहित्य के विषय में इस दृष्टि से विचार किया कि वह किस प्रकार विचारों, भावों, मनोवेगों या कल्पनाओं का व्यंजक और किस प्रकार लेखक की अंतरात्मा का बाहरी रूप है। हम यह भी देख चुके हैं कि साहित्य और काव्य के उत्पादन में कौन कौन सी अवस्थाएँ या कारण सहायक होते हैं और हमें किस प्रकार उनका अध्ययन या उनकी आलोचना करनी चाहिए। लेखन-शैली के विषय में भी जो कुछ लिखा गया है, वह भी इसी लिये कि किस प्रकार वह उस अध्ययन या आलोचना की आधारभूत हो सकती है। आरंभ में यह भी कहा जा चुका है कि काव्य के अंतर्गत वे ही पुस्तकें मानी जाती हैं जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की विशिष्ट रीति के कारण मानव-हृदय को स्पर्श करनेवाली हों और जिनमें लोकोत्तर आनंद देनेवाले तथा मनोमोहक मूल तत्वों की सामग्री विशेष रूप से वर्तमान हो। इस भाव को अधिक स्पष्ट करने के लिये यह भी लिखा जा चुका है कि जीवन व्यापार के निरीक्षण द्वारा जिस संचित सामग्री को कवि

कौशल द्वारा काव्य-कला का रूप देता है, वह बुद्धितत्व, रागात्मक-तत्व और कल्पना-तत्व पर अवलंबित रहने के अतिरिक्त एक चौथे तत्व को भी आश्रित रहती है। वही तत्व उस सामग्री को ऐसा रूप देता है जो क्रम, चारुता और प्रभावोत्पादकता के सिद्धान्तों के अनुकूल होता है। बिना इन तत्वों का आश्रय लिए कवि की कृति में चारुता और मनोमोहकता नहीं आ सकती, चाहे उसकी सामग्री कैसी ही उत्तम क्यों न हो और उसके विचार, भावनाएँ और कल्पनाएँ कितनी ही परिपक्व और अश्रुतपूर्व क्यों न हों। इस रचना-चमत्कार के विषय में आगे चलकर विशेष विवेचना की जायगी। तथापि यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि जिस प्रकार अन्यान्य ललित कलाओं के सिद्धान्तों और नियमों के अनुसार प्रस्तुत सामग्री को उन कलाओं का मूर्त रूप दिया जाता है, उसी प्रकार काव्य-कला को भी निर्दिष्ट नियमों और सिद्धान्तों का अनुसरण करना पड़ता है। तभी काव्य में सुंदरता आती है और तभी वह सुंदरता आनन्द का उद्रेक करने में समर्थ होती है। इन नियमों और सिद्धान्तों का समावेश अलंकार आदि के रूप में "साहित्य शास्त्र" में होता है। यह शास्त्र अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि वृत्तियों तथा अलंकार, रस, रीति और गुण-दोष आदि का वर्णन करता है।

कुछ विद्वान साहित्य-शास्त्र का स्वतंत्र अध्ययन आवश्यक, उपयोगी और मनोरंजक बताते हैं। पर हमें तो यहाँ उक्त शास्त्र

के अनुसार प्रस्तुत की गई कृतियों के अध्ययन के संबंध में ही विचार करना है। हमें तो यही देखना है कि शास्त्र की सहायता से आनंद का उद्रेक करने में काव्य कहाँ तक समर्थ होता है। साहित्य-शास्त्र के नियम काव्य-रचना के सहायक मात्र हैं, वे काव्य के आधार नहीं। काव्य के मूल रूप की सत्ता उनसे अलग और स्वतंत्र है। इस बात को भूलकर साहित्य-शास्त्र का विश्लेषण ही अपना मुख्य कर्त्तव्य मान लेना, मानों किसी उद्यान की सुंदरता का अनुभव न करके यह बात जानने में लग जाना है कि माली ने किन किन नियमों के परिपालन से उसे सुंदरता का रूप दिया है। साधारण लोगों के लिये तो उस सुंदरता का अनुभव करना ही मुख्य बात है; माली की कला का विवेचन गौण है। इसी प्रकार मानव-हृदय पर ललित-कलाओं का जो प्रभाव पड़ता है और उसके कारण आनंद का जो अनुभव होता है, वही मुख्य है; और वही जानना भी चाहिए। रहा इस बात का जानना कि किन किन उपायों का अवलंबन करके कौन कला सफल और उन्नत हो सकी है, गौण बात है। हाँ, जो किसी विशेष कला का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों अथवा जिनमें सहज प्रतिभा वर्तमान हो, वे उस कला के नियमों और सिद्धान्तों का अध्ययन करके उसका चूड़ांत ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अपने को विशेषज्ञ बना सकते हैं। जैसे किसी तैयार की हुई वस्तु और उसके तैयार होने की विधि में जो अन्तर है, वही काव्य और साहित्य-शास्त्र में भी अन्तर है। यह दूसरी बात

है कि किसी तैयार की हुई वस्तु को देखकर हम यह जानने के लिये उत्सुक हों कि वह कैसे तैयार की गई है। तब तो हमें उस कारखाने में जाना पड़ेगा जिसमें वह बनी होगी और उसके निर्माण की सभी प्रक्रियाओं को एक एक करके देखना होगा। इसी प्रकार किसी काव्योत्पादक के कारखाने की देख-भाल—उन कल-पुर्जों की जाँच, जिनकी सहायता से काव्य प्रस्तुत होता है—हम में से विशेष प्रवृत्ति के कुछ ही लोगों के लिये आवश्यक हो सकती है। पर इस तरह की जाँच-पड़ताल सहृदयों के लिये—काव्य रस के लोलुप रसिक मधु-व्रतों के लिये भी विशेष मनोरंजक होगी, इसमें संदेह है। अतएव काव्य-कला को रीति, अलंकार आदि बाहरी बातों अथवा उनके विवेचन ग्रंथों में ढूँढ़ना भूल है।

चौथा अध्याय

कविता का विवेचन

कविता और पद्य

हम यह कह चुके हैं कि काव्य के अंतर्गत वे ही पुस्तकें आती हैं जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की रीति के कारण मानव हृदय को स्पर्श करनेवाली हों और जिनमें रूप-सौष्ठव का मूल तत्व तथा उसके द्वारा आनंद का उद्रेक करने की शक्ति विशेष रूप से वर्तमान हो। इस लक्षण का विवेचन करने पर यह स्पष्ट होता है कि काव्य में दो बातें मुख्य हैं—एक तो विषय और उसके प्रतिपादन की रीति का मानव हृदय को स्पर्श करनेवाली होना; और दूसरे रूप-सौष्ठव और उसके द्वारा आनंद का उद्रेक होना। ये दोनों गुण गद्य और पद्य दोनों में हो सकते हैं। हमारे भारतीय शास्त्रकारों ने मुख्यतया पद्य में ही इन गुणों का होना माना है। साधारणतः काव्य शब्द से पद्य ही का बोध होता है। जहाँ उन्हें गद्य का निर्देश करना आवश्यक हुआ है, वहाँ उन्होंने "गद्य-काव्य" पद का प्रयोग किया है। इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि पद्य-काव्य की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है, तथापि वे यह बात भी मानते थे कि गद्य में भी काव्य के लक्षण आ सकते हैं। यह युग गद्य का है, अतएव काव्य के अन्तर्गत हमें पद्य-काव्य और गद्य-काव्य दोनों मानने चाहिएँ। पद्य का दूसरा नाम कविता है जिसमें मनोविकारों पर प्रभाव

डालनेवाला तथा मानव-हृदय-स्पर्शी पद्यमय वर्णन होता है। बिना काव्य का भी पद्य होता है, पर वह केवल पिंगल के नियमानुसार नियमित मात्राओं या वर्णों का वाक्य-विन्यास होता है। अतएव कविता और पद्य में यह भेद है कि पहले में काव्य के लक्षणों सहित दूसरा वर्तमान रहता है और दूसरे में पहले का रहना आवश्यक नहीं है; अर्थात् कविता पद्यमय अवश्य होगी, पर पद्य के लिये काव्यमय होना आवश्यक नहीं है। जितने पद्य रचे जाते हैं, सब कविता कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। जिनमें काव्य के गुण होंगे, वे ही कविता कहला सकेंगे। शेष को "पद्य" में ही परिगणित होने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

कविता के लक्षण

पश्चिमीय विद्वानों ने कविता का लक्षण भिन्न भिन्न प्रकार से किया है। जानसन का मत है—"कविता पद्यमय निबंध है"। मिल्टन के अनुसार "कविता वह कला है जिसमें कल्पना शक्ति विवेक की सहायक होकर सत्य और आनंद का परस्पर सम्मिश्रण करती है।" कारलायल के अनुसार "कविता संगीतमय विचार है।" रस्किन का कहना है—"कविता कल्पना शक्ति द्वारा उदात्त मनोवृत्तियों के श्रेष्ठ आलंबनों की व्यंजना है।" कारथाय कहता है—"कविता वह कला है जो संगीतमय भाषा में काल्पनिक विचारों और भावों की यथार्थ व्यंजना से आनंद का उद्रेक करती है।" वाट्स डेटन का कहना है—"कविता मनोवेगमय और संगीतमय भाषा में मानव अंतःकरण की मूर्त और कला-

त्मक व्यंजना है।" संस्कृत साहित्यकारों ने कविता (काव्य) को "रमणीय अर्थ का प्रतिपादक" अथवा "रसात्मक वाक्य" कहा है।) पर इन सब लक्षणों से हमारा संतोष नहीं होता। हमारी समझ में "कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है।) राग से हमारा अभिप्राय प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल में रहनेवाली अंतःकरण-वृत्ति से है। जिस प्रकार निश्चय के लिये प्रमाण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिये भी कुछ विषयों का बाह्य या मानस प्रत्यक्ष अपेक्षित होता है। ये ही हमारे रागों या मनोवेगों के, जिन्हें साहित्य में भाव कहते हैं, विषय हैं। कविता उन मूल और आदिम मनोवृत्तियों का व्यवसाय है जो सजीव सृष्टि के बीच सुख-दुःख की अनुभूति से विरूप परिणाम द्वारा अत्यंत प्राचीन कल्प में प्रकट हुई और मनुष्य जाति आदि काल से जिनके सूत्र से शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव करती चली आई है। वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़, पशु, पक्षी, अनंत आकाश, नक्षत्र आदि तो मनुष्य के आदिम सहचर हैं ही; पर खेत, पगडंडी, हल, झोंपड़े, चौपाए आदि भी कुछ कम पुराने नहीं हैं। इनके द्वारा प्राप्त रागात्मक संस्कार मानव अंतःकरण में दीर्घ परंपरा के कारण मूल रूप से बद्ध हैं। अतएव इनके द्वारा भी सच्चा रस-परिपाक पूर्णतया संभव है।

रागों या वेग स्वरूप मनोवृत्तियों का सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करके कविता मानव-जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है। यदि इन वृत्तियों को समेटकर मनुष्य अपने अन्तःकरण के मूल रागात्मक अंश को सृष्टि से किनारे कर ले, तो फिर उसके जड़ हो जाने में क्या सन्देह रहा? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूमकर बहनेवाले नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह झरते हुए झरनों, मंजरी से लदी हुई अमराइयों, पटपर के बीच खड़े झाड़ों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनंदोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह स्वयं न खिला, यदि सुन्दर रूप देख पवित्र भाव से मुग्ध न हुआ, यदि दीन-दुःखी का आर्त नाद सुन न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमलाया, यदि हास्य की अनूठी उक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह ही क्या गया? ज्यों ज्यों मनुष्य के व्यापार का क्षेत्र जटिल और सघन होता गया, त्यों त्यों सृष्टि के साथ उसके रागात्मक संबंध के विच्छेद की आशंका बढ़ती गई। ऐसी स्थिति में बड़े बड़े कवि ही उसे सँभालते आए हैं।

ऊपर जो कुछ गया है, उससे स्पष्ट है कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मिका प्रकृति का सामंजस्य ही कविता का लक्ष्य है। वह जिस प्रकार प्रेम, क्रोध,

करुणा, घृणा आदि मनोवेगों पर सान चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करती है, उसी प्रकार जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उनका उचित संबंध स्थापित करने का भी उद्योग करती है। इस बात का निश्चय हो जाने पर वे सब मत-भेद दूर हो जाते हैं जो काव्य के नाना लक्षणों और विशेषतः रस आदि के भेद-प्रतिबंधों के कारण चल पड़े हैं। ध्वनि-संप्रदायवालों का नैयायिकों से उलझना या आलंकारिकों का रस-प्रतिपादकों से झगड़ना एक पतली गली में बहुत से लोगों का धक्कमधक्का करने के समान है। "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" में कुछ लोगों को जो अव्याप्ति दिखाई पड़ी है, वह नौ भेदों के कारण ही हुई। रस के नौ भेदों की सीमा के अंदर शृंगार के उद्दीपन विभाव के संबंध में सृष्टि के बहुत थोड़े से अंश के वर्णन के लिए, उन्हें जगह दिखाई पड़ी। हमारे पिछले खेवे के हिंदी कवियों ने तो उतने ही पर संतोष किया। रीति के अनुसार "षट् ऋतु" के अंतर्गत कुछ इनी गिनी वस्तुओं को लेकर कभी नायिका को हर्ष से पुलकित करके और कभी विरह से व्याकुल करके चलते हुए।"

कविता के स्वरूप का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके तत्वों को जानने और समझने का उद्योग करें। बिना ऐसा किए उसका सम्यक् ज्ञान होना कठिन है। हम पहले कह चुके हैं कि काव्य जीवन की एक प्रकार की व्याख्या है जो व्याख्याता के मन में अपना रूप धारण करती है। अर्थात्

कविता का स्वरूप

व्याख्याता जीवन के संबंध में अपने जैसे विचार स्थिर करता है, उन्हीं का स्पष्टीकरण काव्य है। अब प्रश्न यह होता है कि जीवन की व्याख्या में वह कौन सा तत्व है जो उसे कवितामय बनाता है। 'कवितामय' शब्द से हमारा तात्पर्य 'रागात्मक और कल्पनात्मक' है। अर्थात् जिस वाक्य में कल्पना और मनोवेगों का बाहुल्य हो, वह कविता कहलावेगा। इस विचार से यदि किसी व्यक्ति, पुस्तक, चित्र या विचार में हम इन दोनों तत्वों को स्पष्ट देखें, तो उसे हम कवितामय कह देंगे। अतएव जीवन की कवितामय व्याख्या से हमारा तात्पर्य जीवन की उन घटनाओं, अनुभवों या समस्याओं से होता है जिनमें रागात्मक या कल्पनात्मक तत्वों का बाहुल्य हो। कविता की यह विशेषता है कि जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली जिस किसी बात से उसका संसर्ग होगा, उसमें मनोवेग अवश्य वर्तमान होंगे तथा कल्पना-शक्ति से वह प्रस्तुत सत्ता को काल्पनिक सत्ता का और काल्पनिक सत्ता को वास्तविक सत्ता का रूप दे देगी। इसका तात्पर्य यह है कि एक तो कविता में मनोवेगों (भावों) और रागों की प्रचुरता होगी; और दूसरे कल्पना का प्राबल्य इतना अधिक होगा कि वास्तविक वस्तुएँ कल्पनामय बन जायँगी; और जो कल्पनामय हैं, अर्थात् जिनकी उत्पत्ति कवि के अंतःकरण में हुई है, वे वास्तविक जान पड़ने लगेंगी।

परंतु केवल इन्हीं दोनों गुणों के कारण कविता का स्वरूप स्थिर नहीं होगा। हम यह नहीं कह सकते कि जहाँ मनोवेगों

और कल्पना की प्रचुरता हुई, वहाँ कविता का प्रादुर्भाव भी हुआ। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि ये दोनों तत्व अत्यंत आवश्यक हैं; और जिस वाक्य में ये न होंगे, वह कविता न कहला सकेगा। परंतु इनके अतिरिक्त कुछ और भी है। गद्य में भी ये रागात्मक और कल्पनात्मक गुण वर्तमान हो सकते हैं, पर ऐसा गद्य कवितामय कहलावेगा, कविता नहीं। गद्य और कविता में कुछ भेद है। प्रायः ऐसा होता है कि गद्य भी कवितामय हो सकता है और कविता भी गद्यमय हो सकती है। अब यह जानना आवश्यक हुआ कि दोनों में भेद क्या है। वह गुण जो कविता में ऊपर कहे हुए दो तत्वों के अतिरिक्त आवश्यक है, वही है जो गद्य और पद्य का भेद निर्धारित करता है। गद्य और पद्य में मुख्य भेद उनके रूप का, उनकी भाव-व्यंजना के ढंग का, उनकी भाषा के रंग-ढंग का है। सरल शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि पद्य में लय संयुक्त भाषा या वृत्त की भी आवश्यकता है जो कविता का बाह्य रूप है। उसकी अंतरात्मा मनोवेग और कल्पना है। इस अध्याय में हम कविता और पद्य के कुछ साधारण भेद के विषय में लिख चुके हैं। जिस वाक्य में कविता का बाह्य रूप अर्थात् लय-मय भाषा या वृत्त ही होगा, उसकी अंतरात्मा अर्थात् मनोवेगों और कल्पना का बाहुल्य न होगा, वह पद्य के नाम से ही पुकारा जा सकेगा; कविता के महत्वपूर्ण नाम का वह अधिकारी न होगा। अतएव जहाँ केवल कल्पना और मनोवेग ही हों, वहाँ समझना

चाहिए कि कविता की अन्तरात्मा अपने बाह्य रूप के बिना ही वर्तमान है; और जहाँ केवल वृत्त हो, वहाँ समझना चाहिए कि उसका बाह्य रूप, अन्तरात्मा के बिना, खड़ा किया गया है। सारांश यह है कि कविता में, वास्तविक कविता में, बाह्य रूप और अन्तरात्मा दोनों का पूर्ण संयोग आवश्यक और अनिवार्य है।

कविता और वृत्त

कुछ लोगों का कहना है कि कविता के लिये वृत्त की आवश्यकता नहीं है। उनका कहना है कि वृत्त एक प्रकार का परिधान है; वह कविता का भूषण है, उसका मूल तत्व नहीं है; उसके बिना भी कविता हो सकती है और हुई है। यह सच है कि गद्य में भी कविता के लक्षण उपस्थित रह सकते हैं; पर वह कविता नहीं है, वह गद्य है। यह और बात है कि हम उसमें उन गुणों की विशेषता देखकर उसे "कवितामय गद्य" की उपाधि दें; पर है वह वास्तव में गद्य ही। बिना वृत्त के कविता न आज तक कहीं मानी गई है और न मानी जाती है। फिर यह बात भी विचारणीय है कि मानव जीवन में संगीत का भी एक विशेष स्थान है। प्रकृति ही संगीतमय है। मंद मंद वायु के संचार, झरनों की कलकल ध्वनि, पत्तों की सरसराहट, नदियों के प्रवाह, पक्षियों के कलरव, यहाँ तक कि समुद्र-गर्जन में भी संगीत है जिससे मनुष्य की आत्मा को आनंद और सन्तोष प्राप्त होता है। इसे कविता से अलग करना मानों उसके रूप, उसके महत्व और उसके प्रभाव को

बहुत कुछ कम कर देना है। कुछ लोग वृत्त को एक प्रकार का बंधन मानते हैं और कहते हैं कि इसकी यह बेड़ी काट दो, इसे मुक्त कर दो, यह स्वतंत्र होकर अपना कार्य करे। परंतु जो लोग कविता के प्रेमी हैं, जिन्होंने उसके अमृत रस का आस्वादन किया है, जो उसकी मिठास का अनुभव कर चुके हैं, वे मुक्त कंठ से कहते हैं कि उसकी संगीतमय भाषा का गंभीर और आह्लादकारी प्रभाव उसके महत्व को बढ़ाता, उसे मधुर और मनोहारी बनाता तथा मानव-हृदय में अलौकिक आनंद का उद्रेक करता है। अतएव कविता का संगीतमय बाह्य रूप नष्ट करना मानों कविता की शक्ति को नष्ट करना है।

केवल इतना ही नहीं है। सृष्टि के प्रारंभ से सभी गंभीर और मर्मव्यापी भावों को मनुष्य ने संगीतमय भाषा में ही व्यंजित किया है। यह गंभीरता और मर्मस्पर्शिता जितनी ही अधिक होगी, संगीत उतना ही उन्नत और मधुर होगा। अतएव कविता और वृत्त या संगीत का संबंध बहुत पुराना और स्थायी है। इस संबंध के कारण हम कभी कभी इस संसार को भूलकर एक दूसरे ही अलौकिक आनंद-लोक में जा विराजते हैं, हमारे मनोवेग उत्तेजित हो उठते हैं, हमारे भावों में अद्भुत परिवर्तन हो जाता है और हमारी कल्पना कवि की कल्पना का अनुसरण करती हुई, जहाँ जहाँ वह ले जाता है, चली जाती है और अपनी सत्ता को भूलकर उसकी सत्ता में लीन हो जाती है।

अतएव कविता को संगीत या वृत्त से अलग करना उसके एक प्रधान गुण को छोड़ देना है।

हम यह बतला चुके हैं कि कविता मनोवेगों और कल्पनाओं द्वारा होनेवाली जीवन की व्याख्या है। इसे भली भाँति समझने के लिये कविता और विज्ञान के मुख्य भेद को जान लेना आवश्यक है। विज्ञान का संबंध संसार के प्राकृतिक तत्वों या भूतार्थों से है। अर्थात् वह उन वस्तुओं पर विचार करता है जो भौतिक वास्तविकता से संबंध रखती हैं। वैज्ञानिक भौतिक वस्तुओं के रूप में आकर रचना, गुण, स्वभाव और संबंध पर विचार करता, उन्हें परस्पर मिलाता, उनका वर्गीकरण करता तथा उन कारणों या क्रियाओं का पता लगाता है जिनके अधीन होकर वे अपना वर्तमान रूप धारण करती हैं। इस प्रकार विज्ञान का प्रत्येक आचार्य जगत् के इस बाह्य रूप का विषयात्मक विचार करता है और एक एक प्राकृतिक तत्व को मिलाकर पहले सादृश्य के बल पर कई वर्ग स्थापित करता और फिर कई छोटे छोटे वर्गों से एक बड़ा वर्ग स्थापित करता है। इस प्रकार वह सृष्टि में अनेकता और अस्तव्यस्तता के स्थान पर एकता और क्रमशीलता स्थापित करने का उद्योग करता है। अतएव विज्ञान का उद्देश्य पदार्थों की क्रमबद्ध, बुद्धि-संगत और सहेतुक व्याख्या करना है जिसके अंतर्गत उनका गुण, उद्भव और इतिहास सम्मिलित रहता है, और जो कार्य-कारण-संबंध तथा प्राकृतिक नियमों के आधार

कविता और विज्ञान

पर की जाती है। इसके अतिरिक्त जो कुछ बच जाता है, उससे विज्ञान का न कोई संबंध है और न प्रयोजन।

परंतु यह स्पष्ट है कि इस वैज्ञानिक व्याख्या के अनंतर जो कुछ बच रहता है, उससे हमारा बड़ा घनिष्ट संबंध है। हम संसार के नित्य-व्यवहार में देखते हैं कि पदार्थों या घटनाओं के वास्तविक रूप से हम आकर्षित नहीं होते, वरन् उनका बाह्य रूप और हमारे मनोवेगों पर उनका प्रभाव हमें विशेष आकर्षित करता है। जब हम विज्ञान के अध्ययन में लगे रहते हैं, तब हम समस्त सृष्टि को प्राकृतिक घटनाओं की एक समष्टि समझते हैं, जिनकी जाँच करना, जिनका वर्गीकरण करना और जिनका कारण ढूँढ़ निकालना हमारा कर्तव्य होता है। परंतु हम अपने नित्य-व्यवहार में इन घटनाओं को इस दृष्टि से नहीं देखते। विज्ञान के उन घटनाओं का पूरा पूरा समाधान करनेवाला कारण बता देने पर भी हम उनकी अद्भुतता और सुंदरता से भी प्रभावित होते हैं। कैसी ही स्पष्ट वैज्ञानिक व्याख्या क्यों न हो, वह हमारे इस प्रभाव को निर्मूल नहीं कर सकती, उलटे वह उसके बढ़ाने ही का कारण होती है। इसी असाधारण बात में हमें कविता के मूल और उसकी शक्ति का पता लगता है। साधारणतः हमें सृष्टि की अद्भुतता और सुंदरता का अनुभव अस्पष्ट और कुंठित सा होता है। पर जब हमारी संवेदना उत्तेजित हो उठती है, तब यही अनुभव बहुत स्पष्ट और प्रभावोत्पादक हो जाता है और

हम में आनंद, आश्चर्य, कृतज्ञता, आदर-भाव आदि का उद्रेक करता है। ऐसी ही चित्त-वृत्ति से कविता का प्रादुर्भाव होता है और वह सांसारिक पदार्थों को रागात्मक तथा आध्यात्मिक भावना से रंजित करके हमारे सम्मुख उपस्थित करती है। इस दृष्टि से कविता विज्ञान के प्रतिकूल तथा अनुकूल दोनों होती है।

ऊपर हमने कविता और विज्ञान के संबंध में जो कुछ लिखा है, उसे स्पष्ट और मनोनिविष्ट करने के लिए हम यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं। जब हम किसी बगीचे में जाते हैं, तब भिन्न भिन्न ऋतुओं में होनेवाले रंग-बिरंगे मनोहर फूलों को देखकर उनके नाम माली से पूछते हैं। वह किसी का नाम गुलाब, किसी का कमल और किसी का जूही, चमेली या हरसिंगार बताता है। विज्ञान-विशारद हमें बतावेगा कि यह फूल इस श्रेणी का है, इसकी उत्पत्ति इस प्रकार से होती है, इसमें सुगंधि ऐसे आती है, इसके गर्भ, केसर और पराग का इतिहास इस प्रकार है। इसमें संदेह नहीं कि जो कुछ वैज्ञानिक कहेगा, वह अत्यंत ही अद्भुत और मनोरंजक होगा; परंतु हम जिस दृष्टि से उन फूलों को देखते हैं, वह कुछ और ही है। उसकी सुन्दरता और मधुरता का अनुभव करने के लिए हमें कवि का आश्रय लेना पड़ेगा। वही हमारे लिये यह काम कर सकता है। मैथ्यू आर्नल्ड का कहना है—"कविता की महती शक्ति इस में है कि वह वस्तुओं का वर्णन इस प्रकार करती है कि हममें उनके विषय में एक अद्भुत, पूर्ण, नवीन और गहरी भावना

उत्तेजित हो जाती है। इस प्रकार वह उनसे हमारा संबंध स्थापित करती है। हमें इस बात का पता नहीं लगता कि वह भावना भ्रमात्मक है अथवा वास्तविक है; अथवा वह हमें वस्तुओं की वास्तविक प्रकृति या गुणों का ज्ञान कराती है या नहीं। हमें तो इस बात से काम है कि कविता हममें इस भावना को उत्तेजित करती है; और इसी में उसकी महत्ता है। विज्ञान पदार्थों की इस भावना को वैसा उत्तेजित नहीं करता, जैसा कि कविता करती है।" देखिये इन्हीं फूलों में से किसी किसी फूल को चुनकर कवि क्या कहते हैं—

"खिला है नया फूल उपवन में।
सुखी हो रहे हैं सब तरुवर, वेलें हँसती मन में॥
रूप अनूठा लेकर आया मृदु सुगंधि फैलाई।
सबके हृदय-देश में अपनी प्रभुता-ध्वजा उड़ाई॥"

"अहो कुसुम कमनीय, कहो क्यों फूले नहीं समाते हो?
कुछ विचित्र ही रंग दिखाते मंद मंद मुसकाते हो॥
हम भी तो कुछ सुनें, किस लिए इतना है उल्लास तुम्हें।
बात बात में खिल खिलकर तुम किस की हँसी उड़ाते हो॥
कैसी हवा लगी यह तुमको क्षणिक विभव में भूलो मत।
अभी सवेरा है, कुछ सोचो अवसर व्यर्थ गँवाते हो॥"

"ग्रीष्म काल के अंत समय की यह कलिका है अति प्यारी।
विकसी हुई अकेली शोभा पाती इसकी छवि न्यारी॥

> कलियाँ और खिली थीं जो सब, थीं इसकी सखियाँ सारी।
> सो सब कुम्हला गईं देखिए, सूनी है उनकी क्यारी॥
> 'सुख दुख दोनों आते जाते इस जग में बारी बारी।'
> इन कलिकाओं से सूचित है विधि-विपाक यह संसारी॥"

भारतवासी मात्र ग्रीष्म के ताप की प्रचंडता और वर्षा के शान्तिमय सुखद प्रभाव का अनुभव करते हैं। वैज्ञानिक तो हमें इतना ही बतावेगा कि बाहर अमुक दिन ताप इतनी डिग्री और छाया में इतनी डिग्री था; और गत वर्ष की अपेक्षा इतना कम या अधिक था। पर कवि कहेगा—

> "प्रलय प्रचंड चंडकर की किरन देखो
> बेहर उदंड नवखंड धुमलति है।
> आँटि के कराही रतनाकर को तैल जैसो
> नैन कवि जल की लहर उछलति है।
> ग्रीषम की कठिन कराल ज्वाल जागी यह
> काल व्याल मुखहू की देहँ पिघलति है।
> लूका भयो आसमान भूदर भमूका भयो
> भभकि भभकि भूमि दावा उगलति है॥"
> "जीवन को त्रासकर ज्वाला को प्रकासकर
> भोर ही ते भासकर आसमान छायो है।
> धमक धमक धूप सूखत तलाव कूप
> पौन कौन जौन भौन आगि में नचायो है।

तकि थकि रहे जकि सकल बिहाल हाल
ग्रीषम अचर चर खचर सतायो है।
मेरे जान कान्हू वृषभान जग-मोचन को
तीसरो त्रिलोचन को लोचन खुलायो है ॥"

वर्षा के संबंध में वैज्ञानिक विद्वान् यह कहेगा कि मौसिमी हवा इतने वेग से चली आ रही है; वह इस दिशा की ओर जा रही है और उसके कारण अमुक अमुक प्रांतों में वर्षा होने की संभावना है; अथवा इन इन स्थानों में इतने इंच पानी बरसा। पर कवि कहेगा—

"सुखद सीतल सुचि सुगंधित पवन लागी वहन।
सलिल बरसन लग्यो, वसुधा लगी सुखमा लहन ॥
लहलही लहरान लागीं सुमन बेली मृदुल।
हरित कुसुमित लगे झूमन बृच्छ मंजुल विपुल ॥
हरित मनि के रंग लागी भूमि मन को हरन।
लसति इंद्रवधून अवली छटा मानिक वरन ॥
बिमल बगुलन पाँति मनहुँ बिसाल मुक्तावली।
चंद्रहास समान चमकति चंचला त्यों भली ॥
नील नीरद सुभग सुरधनु वलित सोभाधाम।
लसत मनु बनमाल धारे ललित श्री घनस्याम ॥
कूप कुंड गँभीर सरवर नीर लग्यो भरन।
नदी नद उफनान लागें, लगे झरना झरन।

रटत दादुर विविध लागे रुचन चातक वचन।
कूक छावत मुदित कानन लगे केकी नचन॥
मेघ गरजत मनहुँ पावस भूप को दल सबल।
विजय दुंदुभि हनत जग में छीनि ग्रीसम अमल॥"

इससे प्रकट है कि कवि की कल्पना हमारे सुख-दुःख आदि की भावनाओं का जितना सुंदर और प्रभावोत्पादक तथा सच्चा चित्र खींच सकेगी, उतना वैज्ञानिक की कार्य-सीमा के बाहर है।

कवि-कल्पना में सत्यता

यह कहना कि कवि की कल्पना में सत्यता का अभाव रहता है, सर्वथा अनुचित है। सत्यता का जो अर्थ साधारणतः लिया जाता है, उसे कविता में ढूँढ़ना ठीक न होगा। वह तो केवल विज्ञान में मिल सकता है। कविता में सत्यता से अभिप्राय उस निष्कपटता से है, जो हम अपने भावों या मनोवेगों का व्यंजन करने में, उनका हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे प्रत्यक्ष करने में तथा उनके कारण हम में जो सुख-दुःख, आशा-निराशा, भय-आशंका, आश्चर्य-चमत्कार, श्रद्धा-भक्ति आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, उनको अभिव्यक्त करने में प्रदर्शित करते हैं। अतएव कविता में सत्यता की कसौटी यह नहीं हो सकती कि हम वस्तुओं का वास्तविक रूप खोलकर दिखाएँ, किंतु इस बात में होती है कि उन वस्तुओं की सुंदरता, उनका रहस्य, उनकी

मनोमुग्धकारिता आदि का हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे कविता की दृष्टि से स्पष्ट प्रकट करके दिखावें। यही कविता द्वारा जीवन की-मानव जीवन और प्राकृतिक जीवन की-कल्पना और मनोवेगों के रूप में व्याख्या है। परंतु यह बात न भूलनी चाहिए कि कवि का संबंध वस्तुओं की सुंदरता, उनके भीतरी रहस्य और उनकी मनोमुग्धकारिता से है; इस कारण कवि जो चाहे, लिखने के लिये स्वतंत्र है। उसके लिये प्राकृतिक घटनाओं का, वस्तुओं की वास्तविक स्थिति आदि का कोई प्रतिबंध नहीं है। यह सच है कि कवि हमें वस्तुओं के गूढ़ भाव का परिचय, हमारे और उनके परस्पर संबंध को कल्पना और मनोवेगों से रंजित करके कराता है; परंतु हम यह बात नहीं सह सकते कि वह हमें अँधेरे में ढकेल दे और वस्तुओं के विकृत रूप से हमें परिचित करावे। उसका सांसारिक ज्ञान और प्राकृतिक अनुभव स्पष्ट, सच्चा और स्थायी होना चाहिए; और जिन घटनाओं या बातों को वह उपस्थित करे, उनके संबंध में उसके सिद्धांत निष्कपटता तथा सचाई की नींव पर स्थित हों। जहाँ इसका अभाव हुआ, वहाँ कविता की महत्ता बहुत कुछ कम हो गई।

श्रीपति कवि लिखते हैं—"गोरी गरबीली तेरे गात की गुराई आगे चपला निकाई अति लागत सहल सी।" चपला की चमक प्रसिद्ध है। उस चमक या द्युति से गात की कांति की उपमा न देकर "गात की गुराई" को उपमा देना अनुचित है।

भिखारीदास जी कहते हैं—"कंज सकोच गड़े रहे कीच में

मीनन बोरि दियो दह तीरन ।" कमल के फूल और पत्ते सदा पानी के ऊपर रहते हैं, उनकी नाल अवश्य पानी के नीचे जमीन में गड़ी रहती है। आँखों की उपमा कमल के फूल या उसकी पँखुरियों से दी जाती है, कमल के समूचे पौधे से नहीं। संकोच के मारे कमल को अपना वह अंग छिपाना था जो आँख की टक्कर का नहीं था; पर उसे तो वह ऊपर ही रखता है। अतएव ऐसी उक्ति प्रकृति-निरीक्षण के प्रतिकूल होने से ग्राह्य न होनी चाहिए।

गोसाईं तुलसीदासजी ने कहा है—

"फूलै फलै न बेंत, जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जौ गुरु मिलहिं विरंचि सम॥"

पहले तो बेंत फलता और फूलता है। फिर सुधा का गुण जीवन-दान देना या अमर करना माना जाता है। उसके बरसने से कोई पौधा यदि सूखा हुआ हो, तो हरा-भरा हो सकता है, या सदा जीवित रह सकता है, पर अपनी जाति या अपना गुण नहीं बदल सकता। गोस्वामीजी ने कवि-पद्धति के अनुसार बेंत का न फूलना-फलना लिखा है, पर यह बात प्रकृति के विरुद्ध है। इसी प्रकार चकोर का आग खाना, चंद्रकांतमणि का जल टपकाना आदि कवि-कल्पित बातें हैं जिनका व्यवहार कविजन केवल अंध-परंपरा के कारण करते आते हैं। हमारी समझ में अब इस परंपरा को छोड़कर प्रकृति का अनुसरण करना उचित

और संगत होगा। प्रकृति के विरुद्ध बातें यदि कवि-पद्धति के अनुसार हों, तो वे कवि की परतंत्रता सूचित करती हैं; पर जहाँ कवि-प्रथा का अनुसरण भी नहीं है, वहाँ वैसी उक्तियाँ कवि की अज्ञानता, उच्छृंखलता या प्रकृति की अवहेलना ही सूचित करती हैं। जैसे बिहारी-सतसई के कर्त्ता ने यह दोहा लिखा है—

"सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौं, धर धरहर हिय नारि॥"

जिन्हें इस बात का अनुभव है कि किस ऋतु में कौन कौन धान्य उत्पन्न होते हैं या पकते हैं, वे कहेंगे कि कपास पहले होती है और सन पीछे उखाड़ा जाता है। पर बिहारीलाल जी ने सन के पीछे कपास का होना बताया है। इस संबंध में इतना ही कहना बहुत होगा कि कवि ने अपने या दूसरों के अनुभव से काम नहीं लिया, और इस प्रकार प्रकृति के साथ अन्याय कर डाला। शृंगार-सतसई के कर्ता ने यही भाव इस दोहे में इस प्रकार दिखाया है—

"कित चित गोरी जो भयो, ऊख रहरि के नास।
अजहूँ अरी हरी हरी जहँ तहँ खरी कपास॥"

और अरहर के कट जाने पर भी कपास के पौधों का जहाँ तहाँ हरा रहना वर्णन किया है जो ठीक ही है।

कवि देवजी ने रसविलास में "कसमीर की किसोरी" का वर्णन करते हुए लिखा है—"जोबन के रंग भरी ईंगुर से अंगनि पै एँड़िन लौं आँगी छाजै छबिन की भीर की।" ऐसा जान पड़ता है कि कवि जी ने किसी से सुन लिया होगा कि काश्मीर की युवतियों का रंग बहुत लाल होता है। ईंगुर से अच्छा लाल रंग कवि जी के ध्यान में न आया होगा। इसलिए उन्होंने उसके अङ्गों की उपमा ईंगुर से दे दी। यदि अमेरिका के रेड इंडिन के रंग की उपमा ईंगुर से दी जाती तो उपयुक्त हो सकता था। पर 'कसमीर की किसोरी' के अङ्ग की अपमा ईंगुर से देना सर्वथा अनुचित और अनुपयुक्त है। हाँ, यदि उनके कोमल कपोलों की उपमा किसी अच्छे गहरे लाल रंन से देते तो हो सकता था; पर वह भी सर्वथा ठीक न होता। उसकी उपमा गहरे गुलाबी रंग या सेब की ललाई से देना उपयुक्त ओर प्रकृति-संगत होता।

यह सब कहने का तात्पर्य इतना ही है कि कवि को अपनी कल्पना के आगे प्रकृति का गला घोंटने या कम से कम उसके सर्वथा प्रतिकूल बातें कहने का अधिकार नहीं है।

यहाँ पर हम कवियों के प्रकृति के चित्र-चित्रण के दो एक अच्छे उदाहरण देकर यह दिखाना चाहते हैं कि उन्होंने प्रकृति के अनुभव और निरीक्षण के साथ अपनी कल्पना को भी कैसे सुचारु रूप से सज्जित किया।

शरद् ऋतु का वर्णन करते हुए सेनापति कहते हैं—

"कातिक की राति थोरी थोरी सियरात सेना-
पति को सुहाति सुखी जीवन के गन है।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानों मोती अनगन है।
उदित विमल चंद चाँदनी छिटकि रही
राम कैसो जस अध अरध गगन है।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब
मानहुँ जगत छीरसागर मगन है॥"

देखिए, पंडित रामचंद्र शुक्ल ने बुद्धचरित में वसंत का कैसा सुंदर वर्णन किया है—

.....................वन बाग तड़ाग लसै चहुँ ओर।
लसै नव पल्लव सों लहिरें लहिकै तरु मंद समीर झकोर॥
कहूँ नव किंशुकजाल सों लाल लखात घने बनखंड के छोर।
परैं जहँ खेत सुनात तहाँ अमलीन किसानन को कल-रोर।
लिए खरिहानन में सुथरे पथ-पार पयार के ढूह लखात।
मढ़े नव मंजुल मौरन सों सहकारन अंगन माहिं समात।
भँरी छवि सों छलकाय रहे, मृदु सौरभ लै बगरावत वात।
चरैं बहु ढोर कछारन में जहँ गावत ग्वाल नचावत गात।
लदे कलियान औ फूलन सों कचनार रहे कहुँ डार नवाय।
भरो जहँ नीर धरा रस भीजि कै दीन्ही है दूब की गोट चढ़ाय।
रह्यो कल-गान विहंगन को अति मोद भरो चहुँ ओर सों आय।

कहूँ लघु जंतु अनेक, भगैं पुनि पास की झाड़िन को झहराय।
डोलत हैं वहु भृंग पतंग सरीसृप मंगल मोद मनाय।
भागत झाड़िन सों कढ़ि तीतर पास कहूँ कछु आहट पाय।
बागन के फल पै कहुँ कीर हैं भागत चोंच चलाय चलाय।
धावत हैं धरिबे हित कीटन चाष घनी चित चाह चढ़ाय।
कूक उठै कबहूँ कल कंठ सों कोकिल कानन में रस नाय।
गीध गिरैं छिति पै कछु देखत, चील रही नभ में मँड़राय।
श्यामल रेख धरे तन पै इत सों उत दौरि के जाति गिसाय।
निर्मल ताल के तीर कहूँ वक वैठे हैं मीन पै ध्यान लगाय।
चित्रित मंदिर पै चढ़ि मोर रह्यो निज चित्रित पंख दिखाय।
ब्याह के बाजन बाजन की धुनि दूर के गाँव में देति सुनाय।
वस्तुन सों सब शांति समृद्धि रही बहु रूपन में दरसाय।
देखि इतो सुख-साज कुमार रह्यो हिय में अति ही हरखाय।"

वर्षा में नदियों के बढ़ने का कैसा सुंदर वर्णन पंडित श्रीधर पाठक करते हैं—

"बहु वेग बढ़े गदले जल सों
तट-रूख उखारि गिरावती हैं।
करि घोर कुलाहल व्याकुल ह्वै
थल-कोर-करारंन ढावती हैं।
मरजादहि छाँडि चलीं कुलटा
सम विभ्रम-भौंर दिखवती हैं।

इतराति उतावरी बावरी सी
सरिता चढ़ि सिंधु को धावती हैं।"

वे ही कवि "काश्मीर सुखमा" में प्रकृति का वर्णन कैसे सुंदर शब्दों में करते हैं—

"प्रकृति इहाँ एकांत, बैठि, निज रूप सँवारति।
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति॥
विमल-अंबु-सर मुकुरन महँ मुखबिंब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आप ही तन मन वारति॥
सजति, सजावति, सरसति, हरसति, दरसति प्यारी।
वहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्तरसारी॥
विहरति विविध-विलास-भरी जोवन के मद सनि।
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति, बनि ठनि॥
मधुर मंजु छविपुंज छटा छिरकति वनकुंजन।
चितवति, रिझवति, हँसति, उसति, मुसकाति, हरति मन॥

× × × ×

हिमसैननि सों घिर्‌यो अद्रिमंडल यह रूरौ।
सोहत द्रोनाकार सृष्टि-सुखमा सुख पूरौ॥
बहु विधि दृश्य अदृश्य कला-कौशल सों छायौ।
रच्छन निधि नैसर्ग मनहुँ विधि दुर्ग बनायौ॥

कविवर बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर मरघट का वीभत्स-पूर्ण वर्णन कैसा अच्छा करते हैं—

"कहुँ सुलगति कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई॥
विविध रंग की उठति ज्वाल दुर्गंधनि महकति।
कहुँ चरबी सों चटचटाति कहुँ दहदह दहकति॥
कहुँ फूकन हित धर्‍यो मृतक तुरतहिं तहँ आयो।
पर्‍यो अंग अधजर्‍यो कहूँ कोऊ करखायो॥
कहूँ स्वान एक अस्थिखंड लै चाटि चिचोरत।
कहुँ कारी महि काक ठोर सों ठोंकि टटोरत॥
कहुँ शृगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत।
कहुँ कोउ शव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत॥
जहँ तहँ मज्जा मांस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे॥
हरहरात इक दिस पीपल को पेड़ पुरातन।
लटकत जामें घंट घने माटी के बासन॥
वर्षा ऋतु के काज औरहू लगत भयानक।
सरिता बहति सबेग करारे गिरत अचानक॥
ररत कहूँ मंडूक कहूँ झिल्ली झनकारैं।
काक मंडली कहूँ अमंगल मंत्र उचारैं॥"

देखिए बाबा दीनदयाल गिरि ने चंद्रमा पर कैसी अच्छी अन्योक्ति कही है—

"मैलो मृग धारे जगत नाम कलंकी जाग।
तऊ कियो न मयंक तुम सरनागत को त्याग॥

सरनागत को त्याग कियो नहिं ग्रसे राहु के।
लिये हिये में रहो तजो नहिं कहे काहु के॥
बरनै दीनदयाल जोति मिस सो जस फैलो।
हौ हरि को मन सही कहैं नर पामर मैलो॥"
"पूरे जदपि पियूख तें हर-सेखर आसीन।
तदपि पराये बस परे रहो सुधाकर छीन॥
रहो सुधाकर छीन कहा है जो जग बंदत।
केवल जगत बखान पाय न सुजान अनंदत॥
बरनै दीनदयाल चंद हौ हीन अधूरे।
जौं लगि नहिं स्वाधीन कहा अमृत तें पूरे॥"

इन उदाहरणों से यह प्रकट है कि कवि ने अपने आत्मानुभव से काम लिया है और अपने प्रत्यक्ष ज्ञान को अपनी कल्पना संवेदना और बुद्धि से रंजित करके एक ऐसा चित्र उपस्थित किया है जो मन पर अपना प्रभाव डालकर भिन्न भिन्न रसों का संचार करता हुआ कविता के रूप को प्रत्यक्ष उपस्थित करता है। इस प्रकार के ज्ञान और इसे निष्कपटतापूर्वक प्रकट करने की पटुता को 'कवि-कल्पना में सत्यता' का नाम दिया जाता है। परंतु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कवि केवल वही बातें नहीं कहता, जिनका प्रत्यक्षीकरण उसकी इंद्रियों को होता है अथवा जो उसके मनोवेगों को उत्तेजित करती हैं। वह इसके आगे बढ़ जाता है और अपनी कल्पना से काम लेकर प्रकृति का ऐसा वर्णन करता है जो यद्यपि

विज्ञान के प्रतिकूल नहीं होता, पर पग पग पर उसका अनुसरण भी न करके उसे अपनी विशेष छाप से, अपने विशेष भाव से रंजित करता है। इसी को प्रकृति का कवितामय चित्रण कह सकते हैं।

वैज्ञानिक बातों का उपयोग भी कवि अपने ढंग पर करता है। किसी वनस्थली को देखकर मन में अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। संसार परिवर्तनशील है। इस कारण वनस्थली में जहाँ पहले वृक्ष थे, वहाँ अब खुला मैदान हो गया है: जहाँ मैदान थे, वहाँ पेड़ लग गए हैं; जहाँ पहले छोटी छोटी नदियाँ बहती थीं, वहाँ अब सूखे नाले हैं; जहाँ सुंदर हरे भरे मैदान थे, वहाँ नदियाँ बहने लगी हैं। इन बातों में थोड़े ही समय में परिवर्तन हो जाता है, पर पहाड़ों के नष्ट हो जाने या नए पहाड़ों के बनने में बहुत अधिक समय लगता है। इसी भाव को कवि भवभूति ने रामचंद्रजी के मुँह से कैसे अच्छे शब्दों में कहलाया है—

"सोहत हो प्रथम जहाँ पैसरि श्रोत मंजु
तहीं अब विपुल पुलिन हरसावै है।
विरल हो प्रथम विपिन तहाँ घनो भयो
जहाँ घनो तहाँ अब विरल दिखावै है।
बहु दिन पाछें विपरीत चिन्ह देखन सों
यह कोऊ भिन्न वन शंक जिय आवै है।

जहाँ के तहाँ पै किंतु अचल अचल हेरि
'सोई पंचवटी' बिसवास ये दृढ़ावै है ।।"

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने चित्रकूट में पय-स्विनी नदी का वर्णन किया है—

"रघुबर कहेउ लखन भल घाटू ।
करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू ।।
लखन दीख पय उतर करारा ।
चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा ।।
नदी पनच सर सम दम दाना ।
सकल कलुष कलसाउज नाना ।।
चित्रकूट जनु अचल अहेरी ।
चुकइ न घात मार मुठ भेरी ।।
अस कहि लखन ठाँव दिखरावा ।
थल बिलोकि रघुबर मन भावा ।।"

इससे यह प्रकट होता है कि नाले का धनुषाकार रूप देख-कर कवि अपने विचारों को रोक न सका और वह नाले का वर्णन भूलकर अपने भाव दिखाने में, अपने विचार प्रकट करने में लग गया। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि कवि के विचारों तथा भावों के लिये चारों ओर सामग्री प्रस्तुत है; और यद्यपि उसका उपयोग या अनुभव करने में कवि की ज्ञानेंद्रियाँ ही उसकी सहायक हैं, तथापि वे वहीं जायँगी, जहाँ

अनुकूल सामग्री उपस्थित होगी और जहाँ कवि को अपनी कल्पना उत्तेजित करने तथा उस कल्पना को खेलने-कूदने का पूरा अवकाश मिल सकेगा। इससे यह सिद्धांत निकलता है कि कवि जितना बड़ा होगा, वह उतना ही गंभीर विचार करने-वाला, तत्वज्ञ या दार्शनिक होगा। अतएव जितने नए विचार संसार में उत्पन्न होंगे या जितनी नई वैज्ञानिक खोज होगी, सब उसके लिए आवश्यक और मनोमुग्धकारी होगी। सबका प्रभाव उस पर पड़ेगा और सबको वह अपने साँचे में ढालने का उद्योग करेगा। मनुष्यों की आशाओं, मनोरथों, उद्देश्यों आदि पर इन विचारों या खोजों का भला-बुरा जो कुछ प्रभाव पड़ेगा, सब पर उसका ध्यान जायगा; और चाहे वह अपनी कविता में उनका प्रत्यक्ष उल्लेख न करे, पर फिर भी उसकी कविता किसी न किसी और सूक्ष्म से सूक्ष्म रीति पर उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सकेगी। अतएव यह कहना कि विज्ञान की बातों से कवि का संबंध नहीं है, उचित नहीं है। वह उसके व्यापक प्रभाव से बच नहीं सकता। यदि कवि दार्शनिक विचारों का मनुष्य हुआ, तो वह विज्ञान की बातों का विरोध किये बिना न रह सकेगा। आजकल जब कि नित्य नए आविष्कार और अनुसंधान हो रहे हैं और विचारों का बवंडर सा चल रहा है, कविता और विज्ञान में यदि कुछ विरोध देख पड़े तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। विचारों के विकास में मनोवेग बुद्धि के साथ साथ नहीं बने रहते। वे पीछे रह जाते हैं।

इसका परिणाम यह होता है कि कवि साधारणतः पुराने विचारों का कट्टर पक्षपाती बना रहता है। उसे नए तथा अपरिचित विचारों से एक प्रकार की घृणा सी हो जाती है। ज्ञान या विद्या के मनोवेगों के रूप में परिवर्तित होने में समय की अपेक्षा होती है। यह काम सहसा नहीं हो सकता। अतएव किसी प्रतिभाशाली कवि की एक बड़ी पहचान यह है कि वह इस परिवर्तन का अनुभव करे, उसकी शक्ति का अनुमान करे और वैज्ञानिक ज्ञान का आध्यात्मिक अर्थ समझकर उसे चरितार्थ करने में सहायक हो।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह तात्पर्य्य निकलता है कि वह कवि जो दार्शनिक नहीं है अथवा वह दार्शनिक जो कवि नहीं है, उन दोनों ही को इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिए कि जो कुछ सिद्धांत वे स्थिर करते हों और उस सिद्धांत के लिये जो कारण वे उपस्थित करते हों, वे दोनों ही दृढ़ नींव पर स्थित हों। इसमें संदेह नहीं कि कवि को अपनी कल्पना का प्रयोग करने में बहुत कुछ स्वतंत्रता होती है। वह उसके द्वारा सौंदर्य की सृष्टि करके हममें आनन्द का उद्रेक करना चाहता है। पर ज्यों ही वह उपदेश देने में प्रवृत्त होता है, त्यों ही हमें इस बात की अपेक्षा होती है कि उसके उपदेश केवल भावना को आकर्षित करनेवाले और मन को स्पर्श करनेवाले ही न हों, वे बुद्धि को भी सन्तुष्ट करें।

हिंदी काव्य में इस प्रकार की रचना का बाहुल्य है। अन्यो-

क्तियों को इसी प्रकार की रचना के अन्तर्गत गिनना चाहिए। उपदेश देने की इस इच्छा ने हिंदी साहित्य में इतना उत्कट रूप धारण किया है कि कवियों को प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन करने में भी इस प्रवृत्ति ने अपने पथ से भ्रष्ट कर दिया। गोस्वामी तुलसीदास जी में भी यह बात बहुत पाई जाती है। रामचरितमानस के किष्किंधा कांड में वर्षा और शरद् का जो वर्णन दिया है, वह इन ऋतुओं का प्राकृतिक वर्णन न होकर उपदेश का भांडार हो गया है। दो ही एक उदाहरण यथेष्ट होंगे। यथा—

"दामिन दमक रही घन माहीं।
खल की प्रीति जथा थिर नाहीं॥"
"छुद्र नदी भरि चली तोराई।
जस थोरहु धन खल बौराई॥"
"उदित अगस्त पंथ जल सोखा।
जिमि लोभहि सोखइ संतोषा॥"
"बूँद अघात सहैं गिरि कैसे।
खल के वचन संत सहँ जैसे॥"

उपदेश देने और प्रकृति का वर्णन करने में बड़ा अन्तर है। उपदेश देना बुरा नहीं, परन्तु प्राकृतिक वर्णन में उसी का बाहुल्य होने से उस वर्णन का उद्देश्य नष्ट हो जाता है। उपदेश देने और कविता में दार्शनिक बातों के लाने में इस बात का ध्यान रखना

चाहिए कि वहाँ कल्पना मनमाना काम न करने पावे। जो बातें दार्शनिक सिद्धांत की हैं, जिनमें मनोविज्ञान आदि शास्त्रों के तत्वों का समावेश है, उनको कवि अपनी कल्पना के अनुसार जैसा चाहे, वैसा रूप नहीं दे सकता। उन सिद्धांतों को सामने रखकर उनके अनुकूल कल्पना को अपना कर्तव्य पालन करने में स्वतंत्रता देना सर्वथा उपयुक्त होगा। अतएव यह बात सिद्ध हुई कि कवि-कल्पना में विज्ञान का स्थान सहायक का है, विरोधी शत्रु का नहीं। कवि प्रत्येक प्रकार की सत्यता का उपयोग कर सकता है, यदि वह उसे सुंदर रूप देकर कविता के गुणों से विभूषित कर सके। एक विद्वान् का कथन है कि संसार में कोई ऐसा सत्य नहीं है जिसे मनुष्य जान सकता हो, पर जो कविता के रूप में उपस्थित न किया जा सकता हो; चाहे वह प्रकृति के व्यापार का कोई चित्र हो, या बुद्धि की कोई विभावना हो, या मानव-जीवन से संबंध रखनेवाली कोई घटना हो, या मनोविकारों का कोई तथ्य हो, या कोई नैतिक भावना हो या आध्यात्मिक जगत् की झलक हो। इनमें से हर एक विषय कविता के रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है। आवश्यकता इतनी ही है कि वह केवल ऐंद्रिय ज्ञान का विषय न हो, या बुद्धि का एक प्रत्यय मात्र न हो जिसका मन में किसी प्रकार ग्रहण हो जाय; किंतु उसे उन स्थितियों से निकलकर कल्पना के सजीव तथा मूर्त्तिमान रूप में प्रत्यक्ष होना चाहिए। 'इस प्रकार सजीव होकर वह मनुष्य के

भावात्मक कविता में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कवि अपनी अंतरात्मा में प्रवेश करता है और बाहरी जगत को अपने अंतःकरण में ले जा कर अपने भावों से रंजित करता है। पर बाह्य-विषयात्मक कविता में वह आप बाहरी जगत में जा मिलता है और वहीं से प्रेरित होकर अपनी कविता का विषय ढूँढ़ता है। फिर वह उसे अपनी कला का उपादान बनाता है और अपनी अंतरात्मा को, जहाँ तक हो सकता है, उससे अलग रखता है। अपनी अंतरात्मा को अलग रखने से हमारा तात्पर्य केवल यही है कि वह अपनी कविता-सृष्टि में अपने आपको उसी प्रकार छिपाए रहता है, जिस प्रकार जगन्नियंता जगदीश्वर इस जगत में अपने आपको अदृश्य रखता है। उसका अनुभव प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष रूप में होता है। बाह्य-विषयात्मक कविता में कवि अंतर्हित रहता है, पर भावात्मक कविता में वह प्रत्यक्ष हो जाता है।

हमारे यहाँ इस प्रकार की कविता के दो विभाग किए गए हैं—एक श्रव्य और दूसरा दृश्य। जिस कथा या कहानी आदि के सुनने से आनंद का उद्रेक होता है, उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। उसमें कवि स्वयं वक्ता बनकर अपनी प्रतिपाद्य कथा कह चलता है। दृश्य काव्य वह है जिसमें कवि स्वयं कुछ नहीं कहता; जो कुछ उसे कहना होता है, उसे वह उस कथा के पात्रों से कहलाता है। पहले प्रकार की कविता के उदाहरण रासो, पदमावती, रामायण आदि हैं; और दूसरे प्रकार की कविता

में रूपकों की गिनती की जाती है जिन्हें साधारण बोल-चाल में नाटक कहते हैं। ये दोनों प्रकार की कविताएँ बाह्य-विषयात्मक कविता के अंतर्गत मानी जाती हैं।

अनादि काल से सभी जातियों में भिन्न भिन्न घटनाओं को लेकर गीत बनाए और गाए जाते हैं। हमारे यहाँ इसका सब से अच्छा उदाहरण आल्हा है, जिसमें आल्हा और ऊदल की लड़ाइयों का वर्णन है। ऐसी गीतात्मक कथा-कहानियों में यह विशेषता होती है कि नायक के बल, वीरता, युद्ध-कौशल आदि का ऐसा वर्णन होता है जिसमें अलौलिकता की मात्रा अधिक रहती है। ऐसी कविता में पद पद पर प्रेम, घृणा, दया आदि साधारण भावनाओं का प्रभाव देख पड़ता है। कवि को जो कुछ कहना होता है, उसे वह चटपट कह डालता है, घुमाव-फिराव में वह नहीं उलझता। कहीं कहीं तो वह सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का भी वर्णन करता है; पर बड़े बड़े वर्णनों या प्राकृतिक दृश्यों का चित्र खींचने में ही वह अपना समय प्रायः नहीं लगाता। उसका मुख्य उद्देश्य उत्तेजक भाषा में नायक की कृतियों का वर्णन करना रहता है। ऐसे गीतात्मक काव्यों में जब किसी ऐसे वीर पुरुष की चरितावली का वर्णन होता है, जिसकी पूजा समस्त जाति करती है और जिसका चरित उस जाति की पौराणिकता का विशेष अङ्ग हो जाता है, तब वे वीर-काव्य या महाकाव्य कहलाते हैं। फिर उनमें गीतात्मकता का भाव शेष नहीं रह जाता; वे एक प्रकार से कवि की विद्वत्ता और

निपुणता के आदर्श होते हैं। रामायण और महाभारत इस प्रकार की कविता के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

इस प्रकार बाह्य विषयात्मक कविता चार मुख्य उपभागों में विभक्त की जा सकती है—छंदोबद्ध आख्यान, रूपक, गीतात्मक काव्य और महाकाव्य। इनमें से रूपकों के विषय में आगे चलकर विशेष रूप से लिखा जायगा।

कविता की अंतरात्मा का विवेचन यहाँ समाप्त होता है। उसके बाह्य रूप के साधनों के विषय में हम आगे चलकर विशेष रूप से लिखेंगे और छंद, वृत्ति, रीति, अलंकार आदि का भी विवेचन करेंगे। यहाँ हम केवल इतना कह देना चाहते हैं कि हमारी भारतीय कविता में विशेष रूप से रसों के संचार का उद्देश्य ही सब कवियों के सामने रहा है और इसी के परिपाक से कविता का महत्व स्थापित किया गया है। इस संबंध में कवियों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी रस का इतनी अधिक मात्रा में संचार न हो कि पढ़नेवाले का मन उससे ऊब जाय, घबरा जाय या उद्विग्न हो उठे। सुचारु रूप से उसका प्रयोग वांछनीय है जिसमें यह वास्तव में अलौकिक आनंद का उद्रेक कर सके। इस संबंध में विशेष ध्यान करुण और हास्य रस का रखना चाहिए। करुण की मात्रा इतनी अधिक न होनी चाहिए कि वह मन को विह्वल कर दे; और हास्य ऐसा न होना चाहिए जो अशिष्ट या अश्लील जान पड़े।

पाँचवाँ अध्याय

गद्य-काव्य का विवेचन

गद्य-काव्य के अंतर्गत उपन्यास, कथा-कहानियाँ और निबंध विशेष रूप से आते हैं; अतएव इस अध्याय में हम इन्हीं के विषय में विचार करेंगे।

हम पहले लिख चुके हैं कि मनुष्य एक ओर तो अपने भावों या विचारों को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है और दूसरी

नाटक और उपन्यास

ओर अन्य मनुष्य के जीवन, उनके कार्य, उनकी भावनाओं, उनके राग-द्वेष, उनके सांसारिक बंधन आदि के जानने और समझने में एक प्रकार का अनुराग रखता है। यह भी एक मनोवृत्ति का परिणाम है जिसे हम मानव व्यापार की अनुरक्ति कह सकते हैं। इस मनोवृत्ति से प्रेरित होकर ऐसे काव्यों की रचना होती है जिनका उद्देश्य मनुष्यों का चरित्र-चित्रण होता है। इन्हीं प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर भिन्न भिन्न प्रकार के काव्यों, जैसे वीर काव्य, गीति काव्य, उपन्यास आदि की उत्पत्ति, सामाजिक तथा कलात्मक स्थिति के परिवर्तन-शील रूपों के अनुसार, होती है। नाटक और उपन्यास में बड़ा भारी भेद यह है कि नाटक का रूप रंगशाला के प्रतिबंधों के अनुसार बहुत कुछ स्थिर करना पड़ता है; अर्थात् वह नाट्यकला और काव्य-कला का एक प्रकार का मिश्रण है। पर उपन्यास में

ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है। वह इस प्रकार के प्रतिबंधों से स्वतंत्र रहता है। उसकी रंगशाला उसी में रहती है। उसके भाव तथा उसकी वस्तु तो उसमें रहती ही है, साथ ही वेष-भूषा, दृश्य-पट और नाट्य-कला के अन्य उपचार भी उसी के अंतर्गत होते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि नाटक जिन नियमों से जकड़े रहते हैं, उनसे उपन्यास पूर्णतया स्वतंत्र हैं। परंतु नाटक के दृश्य काव्य होने से उसमें जो सजीवता या प्रत्यक्षानुभव की छाया रहती है, वह उपन्यास में नहीं हो सकती। दृश्य तथा श्रव्य काव्य का अंतर इन्हीं दोनों—नाटक और उपन्यास—में स्पष्ट हो जाता है। अतएव उपन्यास में, उसके दृश्य काव्य न होने के कारण, जो सजीवता और प्रत्यक्षानुभव का अभाव रहता है, उसे वह नाट्य-कला के नियमों से स्वतंत्र होने के कारण अन्य उपायों से पूरा कर लेता है। इस विचार से हम यह भी कह सकते हैं कि नाटक काव्य-कला का कष्टसाध्य और उपन्यास सरल रूप है। कुछ लोगों का तो कहना है कि नाटक लिखने के पहले उस कला से पूर्णतया अभिज्ञ होना तथा रंगशाला को आवश्यकताओं और उसके प्रतिबंधों का भली भाँति जानना आवश्यक है; परंतु उपन्यास के लिये इन बातों की आवश्यकता नहीं। उसके लिये तो कलम, दावात, कागज, कुछ अवकाश और थोड़े से धैर्य की ही आवश्यकता है। इस कथन में चाहे उपन्यास की अपेक्षा नाटक को अधिक महत्व दिया गया हो, परंतु इसमें संदेह नहीं कि नाटकों के संबंध में विवेचन का आदर्श स्थिर करना उतना

कठिन नहीं है जितना उपन्यासों के विषय में है। फिर भी विवेचन करके उपन्यासों के संबंध में हम कुछ नियम निर्धारित कर सकते हैं।

उपन्यास के तत्व

पहले तो उपन्यासों का संबंध घटनाओं और व्यापारों से, अर्थात् उन बातों से होता है जो सहन या संपादित की जाती हैं। इन्हीं को हम "उपन्यास-वस्तु" कहते हैं। दूसरे ये घटनाएँ और व्यापार मनुष्यों के आश्रित होते हैं: अर्थात् उन बातों को सहने या करनेवाले मनुष्य होते हैं जो व्यापार की शृंखला को स्थिर रखते हैं। इन्हें "पात्र" कहते हैं। उन पात्रों का आपस में वार्तालाप तीसरा तत्व है जिसे "कथोपकथन" कहते हैं और जिसका चरित्र-चित्रण से बड़ा घनिष्ट संबंध है। ये सब व्यापार या घटनाएँ किसी समय या स्थान में होनी चाहिएँ, जहाँ और जिसमें पात्रों को अपना कार्य करना तथा सुख-दुःख भोगना पड़ता है। इसे "देश-काल" कहते हैं। यह चौथा तत्व है। पाँचवाँ तत्व "शैली" और छठा "उद्देश्य" है। प्रत्येक उपन्यास में लेखक को जीवन संबंधी अपने विचारों को परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में प्रकट करना पड़ता है। इसके निमित्त उसे अपने विचारों के अनुसार घटनाओं का क्रम-स्थापन, पात्रों के राग-भाव आदि का प्रदर्शन तथा वस्तु-निर्देश इस प्रकार से करना पड़ता है जिसमें यह अपने सांसारिक भाव और जीवन के लक्ष्य प्रकट कर सके। अतएव उपन्यास के छः तत्व होते हैं; यथा—वस्तु, पात्र, कथोपकथन,

देश-काल; शैली और उद्देश्य। इनमें से शैली को छोड़कर हम शेष पाँचों तत्वों पर क्रमशः विचार करेंगे। "शैली" को हम इसलिये छोड़ देते हैं कि एक तो हम इसका स्वतंत्र विवेचन आगे करेंगे; और दूसरे यह तत्व सब प्रकार के काव्यों में वर्तमान रहता है। गद्य-काव्य में इसके लिये कोई विशेष स्थान नहीं है।

वस्तु

वस्तु-तत्व का विचार आरंभ करते ही हमें यह जानने की आवश्यकता होती है कि किस उपन्यास की सामग्री कहाँ से ली गई है; अर्थात् जीवन की व्याख्या करने में उसके किन किन उपादानों का उपयोग हुआ है। सांसारिक जीवन अनेक अवस्थाओं में विभक्त है। राजा-महाराज से लेकर साधारण से साधारण व्यक्ति तक अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। यद्यपि उनमें अवस्था के अनुसार अनेक बातों में भेद रहता है, पर संसार में मनुष्य मात्र एक ही प्रकार के रागों, भावनाओं और विचारों आदि से प्रेरित होता है। उन्हें एक ही प्रकार का कहने में हमारा तात्पर्य यही है कि मनुष्य मात्र में सुख-दुःख, स्नेह-घृणा, दया-क्रूरता, ईर्ष्या-द्वेष आदि के भाव और जीवन के साधारण प्रश्न जैसे दरिद्रता, संपन्नता, स्वास्थ्य, रोग, मित्रता, शत्रुता आदि की अवस्थाएँ समय समय पर उपस्थित होती रहती हैं और अपना-अपना प्रभाव दिखाकर जीवन को सुखमय या दुःखमय बनाती अथवा उसमें उलट-फेर करती हैं। अतएव हमें पहले यह विचार करना पड़ता है कि किसी उप-

न्यास में जीवन की किस अवस्था का चित्र खींचा गया है और उसमें किन-किन उपादानों का उपयोग किया गया है। साधारणतः देखने की बात यह होती है कि कहीं उसमें जीवन की साधारण और तुच्छ बातों की ओर तो विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, और ऐसी बातों की उपेक्षा तो नहीं की गई है जो मानव-जीवन में सर्वथा और सर्वदा व्याप्त रहती हैं और जिन्हें हम जीवन का मूल भाव कह सकते हैं। काव्य को हम जीवन की व्याख्या कह चुके हैं। अतएव किसी अच्छे उपन्यास की महत्ता इसी में होती है कि वह उन बातों पर अधिक जोर दे जो जीवन को उत्साहपूर्ण, उद्योगी, दृढ़ और शिक्षामय बनाती हैं। एक कृषक के जीवन की साधारण से साधारण घटनाओं से लेकर वीर-शिरोमणि की रोमांचकारी कृतियों तक में ये गुण विद्यमान रह सकते हैं। अथवा यह कहा जा सकता है कि जीवन का दुःखमय अंत या उसकी सफलता की पराकाष्ठा ही अधिक प्रभावोत्पादक होती है। पर किसी अच्छे उपन्यास की महत्ता इसी बात में होती है कि वह उन बातों को अपना मुख्य आधार बनावे जो मनुष्य मात्र के जीवन-संग्राम और उसकी संपत्ति-विपत्ति की घटनाओं से संबंध रखने के कारण हमारे मर्म को स्पर्श करनेवाली हों।

उपन्यासों का एक उद्देश्य खाली समय में चित्त बहलाना और दिन भर के परिश्रम तथा थकावट के उपरांत चित्त को शांति देना भी है। जो उपन्यास यह उद्देश्य सिद्ध करते हैं और

उच्च कोटि के आनंद का उद्रेक करते हुए हृदय को शक्ति और उत्साह से संपन्न करते हैं, वे अवश्य अच्छे उपन्यासों में गिने जाने के योग्य होते हैं। पर इनमें भी कथा कहने का ढंग, चरित्र-चित्रण में कौशल अथवा मनोविनोद या परिहास आदि के गुणों के रहने के कारण कथा-वस्तु के साधारण होने पर भी उपन्यास उत्तम श्रेणी का हो जाता है। अतएव इन छोटे छोटे उपभेदों के रहते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि किसी उपन्यास की महत्ता बहुत कुछ उसकी वस्तु पर अवलंबित रहती है। पर केवल वस्तु की महत्ता ही किसी उपन्यास का महत्व नहीं स्थापित कर सकती। उस वस्तु को उपयोग में लाने या कथा कहने का ढंग तथा इस कार्य में कौशल उसमें महत्व-पूर्ण गुण उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। अतएव किसी उपन्यासकार की विशेष शक्ति तथा कौशल तब तक निरर्थक होंगे, जब तक वह मानव-जीवन के रहस्यों से भली भाँति परिचित न होगा।

हम यह बात पहले लिख चुके हैं कि उत्तम काव्य के लिये यह आवश्यक है कि कवि या लेखक अपने भावों या मनोवेगों का व्यंजन करने तथा उनके कारण हम में जो सुख-दुःख, आशा-निराशा, भ्रम-आशंका, आश्चर्य-चमत्कार, श्रद्धा-भक्ति आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, उनके व्यक्त करने में निष्कपटता का व्यवहार करे। इसी को हमने "कवि-कल्पना में सत्यता" का नाम दिया है। इस पर यह कह बैठना कि उपन्यास का तो आधार

कल्पित कथा ही है, उसमें सत्यता कदाचित् ही कहीं मिल सके, अपने को भ्रम-जाल में डालना है। उपन्यासकार जीवन की चाहे जिस घटना या स्थिति को लेकर अपना काल्पनिक राज्य स्थापित करे, पर उसके लिये यह आवश्यक है कि वह उस घटना या स्थिति के रहस्यों और विशेषताओं से पूर्ण-तया परिचित हो। यदि उसमें इस ज्ञान का अभाव हो, तो उसे उचित है कि उसके चित्रण करने का साहस न करे। मान लीजिए कि कोई उपन्यासकार किसी काल की ऐतिहा-सिक स्थिति का चित्र अपने उपन्यास द्वारा उपस्थित करना चाहता है। अब उसके लिये यह आवश्यक है कि वह उस काल की सामाजिक, राजनीतिक आदि स्थितियों का पूरा पूरा परि-चय प्राप्त करे। उसे यह जानना आवश्यक है कि उस काल में राजाओं, रानियों, राजकुमारों, राजकुमारियों, राज्य के बड़े बड़े अधिकारियों, सेनाओं तथा साधारण प्रजा के रहन-सहन का क्या ढंग था, राजकार्य किस प्रकार चलता था, शासन कैसे होता था, महलों में क्या व्यवस्था थी तथा उस समय की राजनीतिक स्थिति कैसी थी। इन बातों को जाने विना मौर्य-काल, गुप्त-काल या मुगल-काल की घटनाओं पर उपन्यास लिखने का साहस करना अपनी मूर्खता प्रकट करते हुए एक ऐसा चित्र उपस्थित करना है जो वास्तविकता से कोसों दूर होगा और जिसके कारण मिथ्या ज्ञान का प्रचार बढ़ेगा। कुछ आचार्यों का कहना है कि जिस विषय का स्वयं अनुभव न कर

लिखा गया हो, उस विषय पर कुछ कहना या लिखना उचित नहीं। यदि आप समुद्र में आँधी आने पर जहाज के टूटने का वर्णन करना चाहते हों, तो यह आवश्यक है कि किसी ऐसी घटना का आपने स्वयं अनुभव किया हो। अथवा यदि आप मद्यकचियों और शराबियों के विषय में कुछ लिखना चाहते हों तो पहले उनके व्यवहारों, विचारों और रहन-सहन का अनुभव प्राप्त कर लें, तब कुछ लिखें। इस कथन में बहुत कुछ सत्यता है: पर यह ध्यान रखना चाहिए कि अनुभव अनेक प्रकार से प्राप्त हो सकता है। हम किसी बात का स्वयं अनुभव प्राप्त कर सकते हैं; या पुस्तकों को पढ़कर अथवा ऐसे लोगों से बात-चीत करके भी यह अनुभव प्राप्त कर सकते हैं, जिन्हें स्वयं ऐसा करने का अवसर प्राप्त हुआ हो। अनुभव प्राप्त करने की इस प्रकृति के साथ ही साथ लेखक की प्रतिभा भी इस कोटि की होनी चाहिए कि जितने उपाय उसको उपलब्ध हो सकें, उन सबसे अपना अनुभव-भांडार भरकर वह अपनी कल्पना-शक्ति से ऐसा जीता-जागता चित्र उपस्थित करे, जो वास्तविकता के रंग से पूरा पूरा रँगा हुआ ज्ञात हो। अतएव यह आवश्यक है कि उपन्यास-लेखक मनुष्यों और वस्तुओं का जितना अधिक संभव हो, अनुभव प्राप्त करे और अपने उद्देश्य की सिद्धि में उसका उपयोग करे। इस प्रकार जब लेखक की कल्पना शक्ति अनुभव का सहारा लेकर अपने कार्य में प्रवृत्त होगी, तब उसे अवश्य ही पूरी पूरी सफलता प्राप्त होगी।

उपन्यास की वस्तु के संबंध में विचारने योग्य पहली बात यह है कि क्या उसकी कहानी चित्ताकर्षक और कहने योग्य है और क्या वह भली भाँति कही गई है। इसका तात्पर्य यही है कि यदि हम उसकी भली भाँति जाँच करें तो उससे इन प्रश्नों का यथोचित उत्तर मिल सके—

(१) उसमें कहीं कोई बात छूटी हुई तो नहीं जान पड़ती, अथवा उसमें परस्पर विरोधी बातें तो नहीं कही गई हैं ?

(२) क्या उसके सब अंगों में परस्पर साम्य और समीचीनता है ? ऐसा तो नहीं है कि किसी ऐसी घटना के वर्णन में कई पृष्ठ रँग डाले गए हों जिसका कथावस्तु से कोई स्पष्ट संबंध न देख पड़ता हो अथवा किसी पात्र का कथन या भूमिका बहुत लंबी चौड़ी कर दी गई हो; परंतु कुछ आगे बढ़ते ही वह भूमिका बहुत ही तुच्छ या सामान्य हो जाती हो ?

(३) क्या उसमें वर्णित घटनाएँ आपसे आप अपने मूल आधार से या एक दूसरी से निकलती चली आती हैं ?

(४) क्या साधारण से साधारण बातों पर भी लेखक की लेखनी चलकर उन्हें असाधारण बनाने में समर्थ हुई है ?

(५) क्या घटनाओं का क्रम ऐसा रखा गया है कि जिसमें वे हमको अलौकिक, असंगत और अस्वाभाविक न जान पड़ती हों, चाहे वे घटनाएँ कितनी ही असाधारण क्यों न हों ?

(६) क्या उसका अंत या परिणाम वर्णित घटनाओं के

अनुकूल है और क्या कथा या वस्तु का समाहार पूर्वापर विचार से ठीक ठीक हुआ है ?

यदि इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर मिल सके, तो समझना चाहिए कि उपन्यास की वस्तु का विन्यास भली भाँति किया गया है। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि वर्णन-शक्ति का संपादन भी उपेक्षा-योग्य नहीं है। कोई कहानी कहने में भी कौशल की आवश्यकता होती है; और यह कौशल किसी व्यक्ति की विद्वत्ता या बुद्धिमानी से भिन्न है। विद्वान् या बुद्धिमान् होने ही से यह कौशल स्वतः नहीं आ जाता। उस कौशल के संबंध में इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिए कि उसमें कष्ट-कल्पना या अस्वाभाविकता तो नहीं है और क्या सुननेवाले का मन उसकी ओर सहज ही आकृष्ट हो जाता है। यदि किसी कहानी के कहने में सुगमता, स्वाभाविकता और मनोमुग्धकारिता स्पष्ट देख पड़े, तो समझ लेना चाहिए कि कहानी कहनेवाले में अपने व्यापार का जैसा कौशल चाहिए, वैसा है। यदि उसमें ये गुण न हों तो उसे इनके उपार्जन की ओर दत्तचित होना चाहिए।

वस्तु-विन्यास के विचार से उपन्यासों के दो भेद माने जाते हैं। एक तो वे जिनमें भिन्न-भिन्न घटनाओं का एक प्रकार से असंबद्ध वर्णन रहता है। वे घटनाएँ एक दूसरी पर आश्रित नहीं रहतीं और न दूसरी घटना पहली घटना का आवश्यक या अनिवार्य परिणाम होती है। इन घटना-समूहों को एक सूत्र

में बाँधनेवाला उस उपन्यास का नायक होता है और उसी के विशिष्ट चरित्रों को लेकर उपन्यास के भिन्न-भिन्न अवयवों का ढाँचा खड़ा किया जाता है। ऐसे उपन्यासों की वस्तु को असंबद्ध या शिथिल कथनात्मक कहा गया है। दूसरे प्रकार के उपन्यास वे होते हैं जिनमें घटनाएँ एक दूसरी से इस प्रकार संबद्ध रहती हैं कि वे साधारणतः अलग नहीं की जा सकतीं और सब अंतिम परिणाम या उपसंहार की ओर अग्रसर होती हुई उस उपन्यास को एक ऐसा रूप दे देती हैं जिसमें उसके भिन्न भिन्न अंग या अवयव एक दूसरे से मिले हुए रहते हैं और उनको अलग अलग करने से सब की महत्ता नष्ट हो जाती है। ऐसे उपन्यास एक व्यापक विधान के अनुसार बनाए जाते हैं और उनकी सार्थकता घटना-समूहों पर निर्भर रहती है। ऐसे उपन्यासों की वस्तु को संबद्ध-घटनात्मक कहते हैं। इस बात का निर्णय करना कठिन है कि इन दोनों प्रकार के उपन्यासों में कौन अच्छा है। हम यह बात पहले कह चुके हैं कि उपन्यासों में सुगमता, स्वाभाविकता और मनोमुग्धकारिता के गुणों का रहना आवश्यक है। घटनाएँ संबद्ध हों या असंबद्ध हों, परंतु यदि किसी उपन्यास में इन तीनों गुणों का समावेश कुशलतापूर्वक किया गया हो, तो उस उपन्यास को सार्थक मानकर उसकी उत्तमता का स्वीकार करना चाहिए। कदाचित् यह कहना अनुचित न होगा कि संबद्धता और असंबद्धता दोनों में से अति की मात्रा को यत्नपूर्वक बचाना

चाहिए (संबद्धता भी इतनी न हो कि उपन्यास में कष्ट-कल्पना का दोष आ जाय और स्वाभाविकता नाम मात्र को रह जाय। असंबद्धता भी इतनी न होनी चाहिए कि किसी उपन्यास के भिन्न भिन्न परिच्छेद अलग अलग कथाएँ जान पड़ें। किसी किसी उपन्यास में दो कथाओं का समावेश भी कर दिया जाता है। यदि ऐसा हो, तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि दोनों कथाएँ आपस में ऐसी मिल जायँ कि वे अलग अलग न जान पड़ें। उनका दूध और चीनी का सा संमिश्रण होना आवश्यक और वांछनीय है।

उपन्यासों की कथा कहने के तीन ढंग हैं। पहले में तो उपन्यासकार इतिहासकार का स्थान ग्रहण करके और वर्णनीय कथा से अपने को अलग रखकर अपने वस्तु-विधान का क्रमशः उद्घाटन करता हुआ पढ़नेवालों को अपने साथ लिए हुए अंतिम परिणाम तक पहुँचाकर अपना अभिप्रेत प्रभाव उत्पन्न करता है। दूसरे ढंग में उपन्यासकार नायक का आत्मचरित उसके मुँह से अथवा कभी कभी किसी उपपात्र या गौण पात्र के मुँह से कहलाता है। तीसरा ढंग वह है जिसमें प्रायः चिट्ठियों आदि के द्वारा कथा का उद्घाटन किया जाता है। तीसरा ढंग बहुत कम और पहला ढंग बहुत अधिक काम में लाया जाता है)। पहले ढंग का अनुसरण करने में ग्रंथकार को अपना कौशल दिखाने का पूरा पूरा अवसर मिलता है। दूसरे और तीसरे ढंग का अनुसरण करने में उसे कई कठिनाइयों का सामना

करना पड़ता है। इसमें से सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वह अपनी समस्त सामग्री का यथोचित उपयोग नहीं कर सकता।

वस्तु-विन्यास के अनंतर जब हम किसी उपन्यास के पात्रों के विषय में विचार करते हैं, तब पहला प्रश्न, जो स्वभावतः उपस्थित होता है, यह है कि क्या ग्रंथकार अपने पात्रों को हमारे सम्मुख वास्तविकता के परिधान से वेष्टित करने में सफल हुआ है? क्या हम उन्हें वैसा ही समझते और मानते हैं? क्या हमारी सहानुभूति उनके साथ वैसी ही है? क्या हम उनसे वैसा ही स्नेह या घृणा करते हैं, जैसा हम संसार के अन्य जाने-बूझे लोगों से करते हैं? यदि ये मनोवेग हमारे मन में उदित हो सकें, तो समझना चाहिए कि ग्रंथकार अपने उद्योग में सफल हुआ। इसके विपरीत यदि हमने उन पात्रों को सांसारिक जीवों से भिन्न जानकर उनका निवास एक भिन्न लोक ही में मान लिया और उनकी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों को अलौकिक अनुमान कर लिया, तो इस बात में कोई संदेह नहीं रहा कि ग्रंथकार मानव-जीवन की व्याख्या करने में विफल-प्रयास हुआ। ग्रंथकार चाहे अपने साधारण अनुभव का उपयोग करे, चाहे अपने असाधारण अनुभव की परीक्षा करे, उसके पात्रों को सजीव स्त्री-पुरुषों की भांति अपनी भूमिका संपादित करनी चाहिए और अपनी मानवी स्थिति का भाव हमारे मन पर अंकित कर देना चाहिए।

पात्र

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि उपन्यासों को पढ़कर क्यों हम उनके पात्रों को अपने समान सजीव पुरुष या स्त्री मान बैठते हैं और उनसे मनुष्योचित आचरण करने को उद्यत हो जाते हैं। यह विषय मनोविज्ञान का है, अतएव हमारे लिये इस पर विस्तरपूर्वक विचार करना अप्रासंगिक और अनावश्यक है। हम केवल यह निर्देश कर सकते हैं कि विभावना की तीव्रता या उत्कर्ष और कल्पना की यथार्थकारिता शक्ति ही इस स्थिति के मूल में है। इन्हीं दोनों मानसिक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर हम कल्पित पात्रों को भी वास्तविकता का रूप दे देते हैं। इसका सविस्तर विश्लेषण करना कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असाध्य भी है। यह समझ लेना चाहिए कि मानसिक सृष्टि का क्रम निर्धारित करना उन्हीं के लिये कठिन नहीं है जो ऐसी कल्पनाओं के माया-जाल में फँसते हैं, बल्कि वे विद्वान् भी, जो उसके निर्माता हैं, उसका रहस्य समझने में असमर्थ हैं। एक विद्वान् का कथन है—"यह शक्ति आध्यात्मिक है। कभी कभी तो यह मानों लेखक के हाथ से कलम पकड़ लेती है और उसकी रुचि के विरुद्ध भी उसे चला सकती है।" एक पुस्तक में वह लिखता है—"मैं अपने पात्रों का अनुशासन करने में असमर्थ हो जाता हूँ और वे मुझे जहाँ चाहते हैं, ले जाते हैं।" इसका तात्पर्य यही है कि उसने पात्रों को स्वतंत्र संकल्प-शक्ति से संपन्न कर दिया है और उनका अनुशासन करना अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार उनसे काम लेना उसकी सामर्थ्य से

बाहर हो गया है। वे स्वतंत्र संकल्पवाले पात्र अपने मनोवेगों से प्रेरित होकर काम करते हैं; और कभी कभी उनके कथन या कार्य ऐसे हो जाते हैं जिनका लेखक को कभी अनुमान भी नहीं होता। यहाँ हम कल्पना शक्ति की पराकाष्ठा देखते हैं और इसके रहस्य का उद्घाटन करना लेखक या समालोचक दोनों के लिये असंभव है। सृष्टि-वैचित्र्य का सिद्धांत ही इस मानसिक कल्पना में गर्भित जान पड़ता है।

अतएव इस मानसिक कल्पना की सृष्टि की कथा को छोड़कर हमें केवल इस बात पर विचार करना चाहिए कि किन उपायों का अवलंबन करके लेखक चरित्र-चित्रण में सफल हो सकता है। इसके लिये सबसे आवश्यक बात सजीव वर्णन करने की शक्ति है। (किसी नाटक के अभिनय में जो काम किसी पात्र की वेष-भूषा, बोल-चाल, रंग-ढंग तथा नाट्य-कौशल से निकलता है, वही काम उपन्यास-लेखक को अपने वर्णन-कौशल से लेना पड़ता है। जैसे किसी दृश्य काव्य में किसी पात्र और उसके अभिनय को देखकर हम उसके चरित्र से परिचित होते हैं, वैसे ही उपन्यास में उसके आकार-प्रकार और रूप-रंग का जीता-जागता वर्णन पढ़कर हम उससे अपना मानसिक संबंध स्थापित करते हैं।) उपन्यास के पात्र की शारीरिक बनावट या प्रकृति आदि में जो कुछ विशेषता हो, किसी संकट के समय उसकी भाव-भंगी और आचार-व्यवहार में जो कुछ महत्ता या विशिष्टता हो, वह पाठकों के मानसिक नेत्रों के

सामने वर्णन द्वारा साक्षात् सजीव रूप धारण करके उपस्थित होनी चाहिए। कुछ लोग यह समझते हैं कि किसी बात के सविस्तर वर्णन से, जिसमें कोई छोटी से छोटी या साधारण से साधारण बात भी छूटने नहीं पाती, इस उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है। पर कुशल कलावान् अपने मतलब की बात चुन लेता है और उन्हें आवश्यकतानुसार अपने भावों, विचारों या शब्दों से रंजित करके अपना उद्देश्य सिद्ध करता है।

चरित्र-चित्रण में प्रायः दो उपायों का अवलंबन किया जाता है। एक को विश्लेषात्मक या साक्षात् और दूसरे को अभिनयात्मक या परोक्ष कहते हैं। पहले प्रकार में उपन्यास-लेखक अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वयं अपने शब्दों में करता है। वह पात्रों के भावों, विचारों, प्रकृतियों और राग-द्वेषों को समझता, उसकी व्याख्या करता, उनके कारण बताता और प्रायः उन पर अपना विवेचनापूर्ण मत भी प्रकट करता है। दूसरे प्रकार में लेखक आप मानों अलग खड़ा रहता है और स्वयं पात्रों को अपने कथन और व्यापार से तथा उसके संबंध में दूसरे पात्रों की टीका-टिप्पणी तथा सम्मति से अपना चरित्र-चित्रण करने देता है। हम पहले कह चुके हैं कि उपन्यासों की कथा कहने के तीन ढंग हैं—(१) ऐतिहासिक या अन्यपुरुष-वाचक, (२) आत्मचारित्रिक या उत्तमपुरुष-वाचक और (३) पत्रात्मक। इनमें से पहले ढंग में चरित्र-चित्रण

प्रायः विश्लेषात्मक या प्रत्यक्ष प्रणाली से किया जाता है; और दूसरे तथा तीसरे ढंग में अभिनयात्मक या परोक्ष प्रणाली से। उपन्यासों में लेखक का वर्णन तो विश्लेषात्मक प्रणाली के अनुसार ही होता है और पात्रों का परस्पर कथोपकथन अभिनयात्मक प्रणाली के अनुसार, इसलिये प्रायः दोनों प्रणालियों का प्रयोग और संमिश्रण देख पड़ता है। अतएव किसी उपन्यास-लेखक की कृति पर विचार करने में यह जानना आवश्यक होगा कि उसने किस प्रणाली का कहाँ तक प्रयोग किया है और कहाँ तक दोनों का संमिश्रण हुआ है; तथा उस कार्य में उसे कैसी सफलता प्राप्त हुई है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि अभिनयात्मक प्रणाली का अधिकाधिक प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि इसमें पात्रों को अपना चरित्र स्वयं चित्रित करने का अवसर मिलता है और पाठकों को भी कुछ अंशों में दृश्य काव्य का आनंद आ जाता है। इस कथन में बहुत कुछ सत्यता है। पर नाटक और उपन्यास दो भिन्न भिन्न प्रकार के काव्य हैं। उपन्यास में नाट्य-शास्त्र के नियमों का वहीं तक उपयोग होना चाहिए, जहाँ तक वे उसकी सत्ता नष्ट न कर दें और उसे नाटक का विकृत रूप न बना दें। नाटक और उपन्यास में प्रधान भेद यही है कि नाटक में पात्र अपना चरित्र स्वयं अथवा दूसरे पात्रों के द्वारा चित्रित करते हैं, नाटककार को उनके विषय में स्वयं कुछ कहने का अधिकार नहीं होता; पर उपन्यास में लेखक बहुत

कुछ वर्णन स्वयं करता है; और यदि चरित्र का पूरा पूरा चित्रण आप नहीं करता, तो भी उस कार्य में बहुत कुछ सहायता अवश्य देता है। इस भेद को नष्ट करना अनुचित है। उपन्यास की उत्तमता प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रणालियों का अनुसरण करने से ही प्रस्फुटित हो सकती है। केवल एक प्रणाली का अवलंबन करने में वह बात नहीं आ सकती।

उपन्यासों में चरित्र-चित्रण के संबंध में एक और बात ध्यान देने योग्य है। उपन्यासकार को अपने पात्रों के विषय में सब कुछ एक ही समय में नहीं कह देना चाहिए। उसे यथास्थान पहले अपने पात्र के चरित्र के विषय में मुख्य मुख्य बातें कह देनी चाहिएँ और तब उसे छोड़ देना चाहिए जिसमें वह दूसरे पात्रों के प्रभाव, अपनी स्थिति और अपने अनुभव के अनुसार अपने चरित्र को क्रमशः प्रस्फुटित करता जाय। ऐसा करने से भिन्न भिन्न स्थितियों में मनुष्य की मानसिक अवस्था के अनुसार रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियों का जो प्राबल्य होता है, उसका सुंदर और जीता-जागता चित्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा सकता है और वह उन्हें मुग्ध करने में समर्थ होता है। चरित्र-चित्रण के कार्य में संसार के अनुभव तथा मानव-प्रकृति के विश्लेषण की बहुत आवश्यकता होती है। इन दोनों के अभाव में चरित्र-चित्रण अधूरा, असंगत और अस्वाभाविक हो सकता है।

अब तक हमने वस्तु और पात्र के संबंध में अलग अलग

अपने विचार लिखे हैं। परंतु उपन्यास में दोनों का संमिश्रण अनिवार्य है। अतएव इस बात पर भी विचार कर लेना उचित होगा कि दोनों का पारस्परिक संबंध किस प्रकार का है और दोनों कहाँ तक एक दूसरे के आश्रित हैं।

वस्तु और पात्र का संबंध

उपन्यास प्रायः दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जिनमें पात्रों की प्रधानता रहती है और व्यापार-शृंखला को गौण स्थान दिया जाता है; दूसरे वे जिनमें व्यापार-शृंखला की प्रधानता रहती है और पात्रों का उपयोग घटना-चक्र के सुचारु रूप से चलाने में किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि पात्रों की प्रधानता श्रेष्ठ है; क्योंकि मनुष्य के हृदय पर घटनाओं का प्रभाव स्थायी नहीं हो सकता; परंतु पात्रों के चरित्र का प्रभाव अधिक स्थायी और लाभकारी होता है। अतएव वे उपन्यास अवश्य उत्तम श्रेणी के हैं जिनमें चरित्र-चित्रण का अधिक ध्यान रखा जाता है। यदि विचारपूर्वक विवेचन किया जाय तो विदित होगा कि वस्तु और पात्र में परस्पर कुछ न कुछ विरोध रहता है। जहाँ वस्तु का अधिक ध्यान रखा जाता है, वहाँ पात्रों से वस्तु के अनुकूल काम लेना अनिवार्य हो जाता है; और ऐसा करने से चरित्र में असंगतता का दोष आ जाता है। पर जहाँ पात्र अर्थात् चरित्र-चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है, वहाँ चरित्र के क्रमशः विकसित होने और तद‑नुसार घटना-चक्र के अग्रसर होने से वस्तु का सामंजस्य प्रायः

बिगड़ जाता है। ऐसी अवस्था में दोनों का उपयुक्त संमिश्रण ही वांछनीय है। जब तक वस्तु-विधान और चरित्र-चित्रण एक दूसरे के आश्रित होकर अपने अपने उद्देश्य की सिद्धि में तत्पर न होंगे, तब तक यह मिश्रण हानिकारक ही सिद्ध होगा। जिन उपन्यासों का उद्देश्य रोमांचकारी घटनाओं का वर्णन होगा, उनमें वस्तु-विधान की प्रधानता अवश्य होगी और पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर नाम मात्र का ध्यान दिया जायगा। ऐसे उपन्यासों में पात्र घटना की श्रृंखला के वशवर्ती होकर इधर उधर मारे मारे फिरेंगे और उपन्यास की रोमांचकारिता के बढ़ाने में आवश्यकतानुसार सहायक बनाए जायँगे। किसी उपन्यास में कुछ विशेष प्रकृतियों और प्रवृत्तियों के कुछ लोगों का विशेष अवस्थाओं में संसर्ग हो जाता है और उन अवस्थाओं के अनुसार उनमें आपस में सहानुभूति या वैमनस्य होता है। आपस के इसी संसर्ग के परिणाम-स्वरूप उस उपन्यास की वस्तु का विधान होना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस अवस्था में पात्रों का परस्पर संसर्ग होता है, उसका व्यापार-श्रृंखला पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार पात्र में ही घटना अंतर्हित रहती है। अतएव किसी उपन्यास के संबंध में विचार करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें वस्तु और पात्र कहाँ तक एक दूसरे से संबद्ध हैं।

इस संबंध में यह बात भी विचारणीय है कि जिन जिन घटनाओं का किसी उपन्यास में वर्णन हो, उनके संतोषजनक कारण

बताने में लेखक कृतकार्य हुआ है या नहीं। अर्थात् पात्र अपनी भूमिका के द्वारा वस्तु के क्रमशः विकास में जिन राग-द्वेषात्मक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कोई व्यापार करते हैं, क्या वे व्यापार संतोषजनक और संगत हैं और उनका जो परिणाम या प्रभाव साधारणतः हुआ करता है, क्या वही परिणाम या प्रभाव हुआ है। यदि वस्तु के निमित्त किसी पात्र को कोई ऐसा कार्य करने में प्रवृत्त कराया जाता है, जो उसके चित्रित स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल है अथवा जिसकी प्रवृत्ति का कारण सर्वथा असंगत, अनुपयुक्त और अस्वाभाविक है, तो यह कहना पड़ेगा कि वस्तु और पात्र के पारस्परिक संबंध का ध्यान न रखकर ऐसा किया गया है। कभी कभी यह दिखाया जाता है कि एक पात्र जन्म भर दुष्ट और नीच रहा है, और सदा क्रूरता तथा दुर्जनता के कार्य करता रहता है, पर अंत में वह सुजन-शिरोमणि बना दिया जाता है; और इस अद्भुत परिवर्तन का कोई संतोषजनक कारण नहीं बताया जाता। ऐसा करना सर्वथा अनुचित और पात्र तथा वस्तु के संबंध के सामंजस्य को नष्ट करना है।

पात्रों के विषय में विचार करने के अनंतर यह स्वाभाविक है कि हम उनकी बात-चीत पर विचार करें। कथोपकथन का

कथोपकथन

सुचारु रूप से प्रयोग किसी उपन्यास की आकर्षक शक्ति को बहुत बढ़ा देता है। उपन्यास के इस तत्व के द्वारा हम उसके पात्रों से विशेष परिचित होते और दृश्य-काव्य की सजीवता और वास्तविकता का बहुत कुछ

अनुभव करते हैं। वह कथा को चटकीला बना देता और लेखक का कौशल स्पष्ट प्रकट कर देता है।

यद्यपि कथोपकथन का उद्देश्य प्रायः वस्तु का विकास करना माना जाता है, पर वास्तव में उसका संबंध पात्रों से है। उसके द्वारा राग-द्वेष, प्रवृत्ति, मनोवेग आदि का प्रस्फुटन, पात्रों की स्थिति का घटनाओं के अनुकूल परिवर्तन और उनका एक दूसरे पर प्रभाव बहुत अच्छी तरह दिखाया जा सकता है। कुशल लेखक, जो अभिनयात्मक ढंग को अधिक पसंद करता हो, इसके द्वारा चरित्र का विश्लेषण तथा उसकी व्याख्या बड़ी सुगमता से कर सकता है। और यदि ऐसा करने में स्वाभाविकता बनी रहे, तो मानों सोने में सुगंध आ जाती है। यदि विश्लेषणात्मक ढंग का भी प्रयोग किया जाय, तो भी वह लेखक की उद्देश्य-सिद्धि में बड़ी सहायता पहुँचा सकता है।

कथोपकथन का पहला उद्देश्य वस्तु का विकास तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण होना चाहिए। असंबद्ध बातें लाने में इसका प्रयोग कदापि नहीं होना चाहिए, चाहे वे बातें कितनी ही मन को प्रसन्न करनेवाली और परिहास का संचार करनेवाली क्यों न हों। हाँ, यदि उनका प्रयोग किसी पात्र का चरित्र-चित्रण करने के लिये हो तो बात दूसरी है। जिस बात का उपन्यास की कथा, उसके उद्देश्य अथवा पात्र से कोई संबंध न हो, उसके विषय में कुछ कहना या लिखना मानों उसमें स्पष्ट असंगति-दोष लाना है। कथोपकथन में बाहरी अथवा ऐसी बातों का प्रयोग,

बताने में लेखक कृतकार्य हुआ है या नहीं। अर्थात् पात्र अपनी भूमिका के द्वारा वस्तु के क्रमशः विकास में जिन राग-द्वेषात्मक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कोई व्यापार करते हैं, क्या वे व्यापार संतोषजनक और संगत हैं और उनका जो परिणाम या प्रभाव साधारणतः हुआ करता है, क्या वही परिणाम या प्रभाव हुआ है। यदि वस्तु के निमित्त किसी पात्र को कोई ऐसा कार्य करने में प्रवृत्त कराया जाता है, जो उसके चित्रित स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल है अथवा जिसकी प्रवृत्ति का कारण सर्वथा असंगत, अनुपयुक्त और अस्वाभाविक है, तो यह कहना पड़ेगा कि वस्तु और पात्र के पारस्परिक संबंध का ध्यान न रखकर ऐसा किया गया है। कभी कभी यह दिखाया जाता है कि एक पात्र जन्म भर दुष्ट और नीच रहा है, और सदा क्रूरता तथा दुर्जनता के कार्य करता रहता है, पर अंत में वह सुजन-शिरोमणि बना दिया जाता है; और इस अद्भुत परिवर्तन का कोई संतोषजनक कारण नहीं बताया जाता। ऐसा करना सर्वथा अनुचित और पात्र तथा वस्तु के संबंध के सामंजस्य को नष्ट करना है।

पात्रों के विषय में विचार करने के अनंतर यह स्वाभाविक है कि हम उनकी बात-चीत पर विचार करें। कथोपकथन का

कथोपकथन

सुचारु रूप से प्रयोग किसी उपन्यास की आकर्षक शक्ति को बहुत बढ़ा देता है। उपन्यास के इस तत्व के द्वारा हम उसके पात्रों से विशेष परिचित होते और दृश्य-काव्य की सजीवता और वास्तविकता का बहुत कुछ

अनुभव करते हैं। वह कथा को चटकीला बना देता और लेखक का कौशल स्पष्ट प्रकट कर देता है।

यद्यपि कथोपकथन का उद्देश्य प्रायः वस्तु का विकास करना माना जाता है, पर वास्तव में उसका संबंध पात्रों से है। उसके द्वारा राग-द्वेष, प्रवृत्ति, मनोवेग आदि का प्रस्फुटन, पात्रों की स्थिति का घटनाओं के अनुकूल परिवर्तन और उनका एक दूसरे पर प्रभाव बहुत अच्छी तरह दिखाया जा सकता है। कुशल लेखक, जो अभिनयात्मक ढंग को अधिक पसंद करता हो, इसके द्वारा चरित्र का विश्लेषण तथा उसकी व्याख्या बड़ी सुगमता से कर सकता है। और यदि ऐसा करने में स्वाभाविकता बनी रहे, तो मानों सोने में सुगंध आ जाती है। यदि विश्लेषणात्मक ढंग का भी प्रयोग किया जाय, तो भी वह लेखक की उद्देश्य-सिद्धि में बड़ी सहायता पहुँचा सकता है।

कथोपकथन का पहला उद्देश्य वस्तु का विकास तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण होना चाहिए। असंबद्ध बातें लाने में इसका प्रयोग कदापि नहीं होना चाहिए, चाहे वे बातें कितनी ही मन को प्रसन्न करनेवाली और परिहास का संचार करनेवाली क्यों न हों। हाँ, यदि उनका प्रयोग किसी पात्र का चरित्र-चित्रण करने के लिये हो तो बात दूसरी है। जिस बात का उपन्यास की कथा, उसके उद्देश्य अथवा पात्र से कोई संबंध न हो, उसके विषय में कुछ कहना या लिखना मानों उसमें स्पष्ट असंगति-दोष लाना है। कथोपकथन में बाहरी अथवा ऐसी बातों का प्रयोग,

जो देखने में तो अप्रासंगिक जान पड़ें, पर वास्तव में वैसी न हों, वहीं तक क्षम्य है, जहाँ तक वे बातें वस्तु-विकास में सहायक अथवा पात्रों के चरित्र-चित्रण में विशेष उपयोगी हों। इस अपवाद को छोड़कर कथोपकथन स्वाभाविक, उपयुक्त और अभिनयात्मक होना चाहिए। इसका तात्पर्य यही है कि हम किसी पात्र का जैसा चरित्र चित्रित कर रहे हों, और जिस स्थिति में तथा जिस अवसर पर वह कुछ कह रहा हो, उसी के अनुकूल उसकी बात-चीत भी होनी चाहिए। साथ ही वह बात-चीत सुबोध, सरस, स्पष्ट और मनोहर होनी चाहिए। ये गुण कथोपकथन के मूल तत्व हैं। इनके बिना बात-चीत बनावटी, नीरस, भद्दी और अनुपयुक्त जान पड़ेगी। कुछ लोग कह सकते हैं कि स्वाभाविकता और उपयुक्तता का कुछ अंशों में अभिनयात्मकता से विरोध है और तीनों गुणों या तत्वों का एक ही स्थान में समावेश कदाचित् कठिन हो। यह ठीक है; पर कठिनाई दूर करने में ही लेखक का कौशल प्रकट होता है। ध्यान केवल इस बात का रखना चाहिए कि तीनों गुण उपयुक्त और आवश्यक मात्रा में हों। यदि साधारण अवस्था में असाधारण अथवा तेजस्वी लोगों की बात-चीत वैसी ही दी जाय, जैसी वह प्रायः हुआ करती है, तो वह उखड़ी हुई, विवादमय और प्रभावशून्य जान पड़ेगी। साथ ही यदि इन दोनों बातों को बचाने का उद्योग किया जाय, तो इस बात की आशंका होगी कि कहीं वह बनावटी, नीरस और क्षोभकारी न

हो जाय। अतएव साधारण बात-चीत में अथवा उद्वेग या उत्तेजना की अवस्था में मध्यम मार्ग का ग्रहण करना ही उचित होगा। लेखक का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह साधारण लोगों की नित्यप्रति की साधारण बात-चीत के अनुरूप ही अपने पात्रों से कथोपकथन न करावे, बल्कि उसे ऐसा रूप दे जिसमें अभिनय की त्वरा तथा शक्ति के साथ ही साथ स्वाभाविकता और वास्तविकता का प्रत्यक्ष रूप भी देख पड़े।

हम यह बात कई स्थानों में लिख चुके हैं कि सब प्रकार के काव्यों की विशेषता यही होती है कि वे पढ़नेवालों में भिन्न भिन्न मनोवेगों को उत्तेजित करके उनमें अलौकिक आनंद का उद्रेक करें। यही मनोवेग या भाव साहित्य-शास्त्र में रस कहलाते हैं। उपन्यासों में भी उनके संचार की आवश्यकता होती है। उनके बिना उपन्यास नीरस और प्रभावशून्य होते हैं। यही कारण है कि उनकी उपस्थिति अथवा अभाव इतना प्रत्यक्ष होता है कि साधारण से साधारण पाठक भी उनका अनुभव किए बिना नहीं रह सकता। अतएव यहाँ संक्षेप में इस बात का विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है कि किसी लेखक में पाठकों के मन में आनंद, करुणा, सहानुभूति अथवा विनोद आदि उत्पन्न करने की शक्ति का होना कहाँ तक आवश्यक और उपयोगी है।

उपन्यास और रस

किसी उपन्यास-लेखक की कृति के गुणों और दोषों का विवेचन करते समय दो बातों का विशेष रूप से ध्यान रखा

जाता है। पहली बात तो यह देखी जाती है कि उस लेखक की शक्तियाँ कितनी अधिक विस्तृत अथवा संकुचित हैं। यदि उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय इस बात का ध्यान रखा जायगा, तो पाठकों को और भी अधिक आनंद आवेगा। बात यह है कि किसी लेखक में तो करुण आदि रसों का संचार करने की शक्ति अधिक और हास्य रस का संचार करने की शक्ति कम होती है; और किसी लेखक की अवस्था इसके बिलकुल विपरीत होती है। कुछ लेखक ऐसे होते हैं जो केवल भीषण मनोविकार उत्पन्न करने में ही सिद्धहस्त होते हैं; और कुछ ऐसे होते हैं जो थोड़ी बहुत मात्रा में सभी प्रकार के मनोविकार उत्पन्न कर सकते हैं। दूसरी बात, जो ध्यान रखने योग्य है, यह है कि इनमें से किसी मनोविकार का पाठकों पर कैसा और कितना अधिक प्रभाव पड़ता है। ऐसी चोज-भरी या चमत्कृत उक्ति भी हास्य के ही अंतर्गत है जिससे मनुष्य को आनंद तो बहुत अधिक होता है, पर वह केवल मुस्कराकर रह जाता है; और ऐसी उक्ति भी हास्यपूर्ण ही मानी जाती है जिसके कारण हँसते हँसते पेट में बल पड़ जाते हैं, पर जिसमें वास्तविक चमत्कार की मात्रा बहुत ही थोड़ी होती है। कभी तो किसी की दुरवस्था देखकर मन में सहानुभूति का बहुत ही कोमल भाव उत्पन्न होकर रह जाता है, और कभी पाठकों की आँखों में जल भर आता है। कोई दुर्घटना तो मनुष्य के चित्त में साधारण क्षोभ उत्पन्न करके ही रह जाती है,

और कोई उसको बिलकुल आपे से बाहर कर देती है। तात्पर्य यह कि कोई उपन्यास पढ़ते समय इस बात का विचार रखना चाहिए कि वह उपन्यास अथवा उसका लेखक कहाँ तक और किस प्रकार का कोई मनोविकार उत्पन्न करने में समर्थ है।

यदि किसी लेखक की लेखनी सचमुच प्रभावशालिनी हो, यदि वह सचमुच पाठकों के मन में हास्य, करुणा अथवा दुःख आदि विकार उत्पन्न करने में समर्थ हो, तो हमें यह देखना होगा कि वह अपनी इस सामर्थ्य, इस शक्ति का कहाँ तक सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करता है। उदाहरण के लिये परिहास को ही लीजिए। परिहास को हम प्रतिभा की सब से बड़ी देन कह सकते हैं और इसके कारण किसी उपन्यास का सौंदर्य बहुत कुछ बढ़ सकता है। पर साथ ही यह भी संभव है कि कोई हास्यप्रिय लेखक हरिहास को अश्लीलता की सीमा तक पहुँचाकर उसका दुरुपयोग कर डाले: अथवा वह ऐसे बुरे ढंग से या बेमौके परिहास कर सकता है कि उलटे स्वयं वह और उसका परिहास दोनों ही हास्यास्पद हो जायँ। कोई परिहास मन को प्रसन्न करने के बदले दुःखी अथवा क्रुद्ध भी कर सकता है। परंतु फिर भी परिहास के उपयोग के संबंध में कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती; क्योंकि कुछ बातें ऐसी भी होती हैं जिन्हें देखकर मनुष्य के मन में करुणा तो उत्पन्न होती ही है, पर साथ ही कभी कभी हँसी भी आ जाती है। किसी बदमस्त शराबी को देखकर वस्तुतः मन में करुणा का ही आविर्भाव

होगा, पर उसके कुछ कृत्यों से हँसी भी आ सकती है। किसी को बाइसिकिल पर से गिरते देखकर हँसना यद्यपि अनुचित है, तथापि कभी कभी ऐसा दृश्य भी मनुष्य को हँसा ही देता है। ऐसी दशा में स्वयं लेखक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मेरा परिहास उपयुक्त, उचित अवसर पर और मनोवांछित प्रभाव उत्पन्न करनेवाला हो। ऐसे परिहास से दूसरों के आचरण सुधर सकते और दुर्गुण दूर हो सकते हैं। पर यह बात तभी हो सकती है जब लेखक स्वयं इस विषय में सतर्क और विचारशील हो। हम तो केवल यही कह सकते हैं कि परिहास बेमौके, अश्लील अथवा निर्दयतापूर्ण न होना चाहिए और उसमें शुद्ध विनोद की मात्रा अधिक होनी चाहिए। जो बात हास्य के संबंध में है, वही करुणा और दुःख आदि के संबंध में भी कही जा सकती है। संसार के प्रायः सभी बड़े बड़े साहित्यों में करुण-रस-प्रधान अनेक ग्रंथ वर्तमान हैं: जिनके विशिष्ट अंशों को पढ़कर मनुष्य की आँखों से आपसे आप अश्रुपात होने लगता है। हरिश्चंद्र के श्मशान-प्रवास अथवा रामचंद्र के वन-गमन का साधारण वर्णन भी मनुष्य का चित्त चंचल कर देता है। परंतु अयोग्य लेखक के हाथ में पड़कर इन रसों की दुर्दशा हो सकती है और प्रायः होती भी है। (कुछ लेखक केवल दुःखमय घटनाओं या दृश्यों के वर्णन में ही अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं; अथवा किसी साधारण दुःखमय घटना का इतना अत्युक्तिपूर्ण और विस्तृत

वर्णन करते हैं कि या तो पाठकों का जी ऊब जाता है या उनका चित्त इतना अधिक व्याकुल और दुःखी हो उठता है कि उसके सँभलने में ही बहुत समय लग जाता है। यह प्रवृत्ति भावुक बंगाली लेखकों में बहुत अधिकता से पाई जाती है। वे बात-बात में अपने पात्रों को रुला देते हैं, जिससे पढ़ने-वाले के मन में करुण रस का संचार तो होता नहीं, उल्टे एक प्रकार की अरुचि उत्पन्न हो जाती है। बँगला के प्रसिद्ध नाटककार गिरीश घोष के प्रायः सभी नाटकों के किसी न किसी पात्र पर इतनी अधिक विपत्ति ढाई गई है कि अंत में उसके पागल होने की नौबत आ गई है। यहाँ भी सब बातें लेखक के विवेक और विचारशीलता पर ही निर्भर करती हैं; और कोई ऐसा नियम निश्चित नहीं हो सकता जिससे यह जाना जा सके कि इस सीमा तक करुण रस का संचार उचित और इसके आगे अनुचित है। हम केवल यही कह सकते हैं कि लेखक को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि पाठकों के चित्त पर ऐसी सभी बातों का कुछ न कुछ परि-णाम या प्रभाव होता है; और उसे यथासाध्य इस बात का उद्योग करना चाहिए कि उसका ऐसा वर्णन अप्रिय अथवा खटकनेवाला न हो। यदि किसी उपन्यास को समाप्त करने के उपरांत हमारी यह धारणा हुई कि उसके अमुक वर्णन ने हमारे मन को आवश्यकता से अधिक क्षुब्ध किया, व्यर्थ ही हमें उत्तेजित कर दिया, अथवा समाप्ति के उपरांत भी हमें

बहुत देर तक दुःखी और चिंतित रक्खा, तो फिर चाहे उस उपन्यास में और कितने ही गुण क्यों न हों, पर वह पूर्ण रूप से प्रशंसनीय नहीं होगा। यद्यपि यह किसी उपन्यास के प्रशंसनीय होने की बहुत बढ़िया और बिलकुल ठीक कसौटी नहीं है, तथापि इसका कुछ न कुछ उपयोग अवश्य हो सकता है।

अब हम किसी उपन्यास के देश और काल का विचार करते हैं। उपन्यास के "देश और काल" से हमारा तात्पर्य उसमें

देश और काल

वर्णित आचार-विचार, रीति-रवाज, रहन-सहन और परिस्थिति आदि से है। इसे हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक तो सामाजिक और दूसरा ऐतिहासिक या सांसारिक। ऐसे उपन्यास लिखना सहज नहीं है जिनमें जीवन या समाज के सभी अंगों और स्वरूपों का समावेश हो; और इसी लिये ऐसे उपन्यास देखने में भी कम आते हैं। साधारणतः अधिकांश उपन्यास ऐसे होते हैं जिनमें जीवन अथवा समाज के दो ही एक अंगों का चित्र खींचा गया हो। कोई उपन्यास साधारण गार्हस्थ्य जीवन से संबंध रखता है और कोई किसी ऐतिहासिक घटना पर अवलंबित होता है। पर फिर भी दोनों में से कोई पूर्ण व्यापक नहीं हो सकता। गार्हस्थ्य जीवन के भी अनेक अंग हैं। किसी उपन्यास में कलह-प्रिय स्त्रियों का चरित्र चित्रित होता है, किसी में नवयुवकों का नैतिक पतन दिखलाया जाता है। किसी में धनवानों के विलास और नाश का प्रदर्शन होता है, किसी में दरिद्रों के कष्ट

पूर्ण जीवन का निरूपण होता है। बहुधा ऐसा होता है कि उपन्यास का आरंभ तो साधारण परिस्थिति में होता है, पर आगे चलकर उसके नायक को कठिन, असाधारण और विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। लेखक चाहे जिस प्रणाली का अनुसरण करे और चाहे जिस अवस्था का चित्र खींचे, पर यह स्पष्ट है कि उसे चरित्र-चित्रण में देश, काल और परिस्थिति आदि का पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ेगा। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बहुत से उपन्यास आदि तो केवल इसी लिये मनोरंजक होते हैं कि उनमें समाज के किसी विशिष्ट वर्ग, देश के किसी विशिष्ट भाग अथवा काल के किसी विशिष्ट अंश से संबंध रखनेवाला ही वर्णन होता है। ऐसी दशा में जिस उपन्यास का वर्णन जितना ही सटीक और स्वाभाविक होगा, वह उपन्यास उतना ही अच्छा माना जायगा।

ऐतिहासिक उपन्यासों में इन बातों का ध्यान रखने की और भी अधिक आवश्यकता होती है: क्योंकि उनमें लेखक को किसी विशिष्ट युग अथवा काल का चित्र अंकित करना पड़ता है। कुछ उपन्यास तो स्वयं ऐतिहासिक घटनाओं से ही संबंध रखते हैं; पर कुछ ऐसे भी होते हैं जिनके कथानक का इतिहास से बहुत थोड़ा संबंध होता है और जिनमें किसी ऐतिहासिक काल के सामाजिक अथवा और किसी प्रकार के जीवन का चित्र रहता है। श्रीयुत राखालदास वंद्योपाध्याय कृत करुणा और शशांक ऐसे उपन्यास हैं जिनकी कथा-वस्तु की ऐति-

हासिक घटनाओं के आधार पर ही रचना की गई है, पर जिनमें उस समय के आचार-विचार, रीति-रवाज और राजकीय परिस्थति आदि का पूरा पूरा दिग्दर्शन कराया गया है।) ऐसे उपन्यास लिखने के लिये यह बात बहुत ही आवश्यक है कि लेखक उस समय से संबंध रखनेवाली काम की सभी बातों का बहुत अच्छी तरह और विचारपूर्वक अध्ययन करे। बिना ऐसा किए वह कोई अच्छा ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में कभी समर्थ और सफल हो ही नहीं सकता। यदि कोई लेखक केवल वर्तमान काल की घटनाओं और परिस्थितियों आदि के आधार पर कोई ऐतिहासिक उपन्यास लिखे और उन्हीं घटनाओं तथा परिस्थितियों का उस ऐतिहासिक काल में आरोप मात्र करके छोड़ दे, तो उस उपन्यास का शिक्षित समाज में क्या आदर होगा? (ऐतिहासिक उपन्यास का महत्व तो केवल इसी में है कि उसमें किसी प्राचीन काल के जीवन का पूर्ण और विस्तृत वर्णन किया जाय, जिससे पाठकों के सामने उस काल का जीता-जागता चित्र उपस्थित हो जाय)। और यह बात तभी हो सकती है जब लेखक ने उस काल की सभी बातों का भली भाँति अध्ययन किया हो; और साथ ही उसमें उनका ठीक ठीक वर्णन करने की पूरी शक्ति भी हो। ऐतिहासिक उपन्यास लिखनेवाले का काम ही यह है कि पुरातत्व और इतिहास के जानकारों ने जिन रूखी-सूखी बातों का संग्रह किया हो, उनको वह सरस और सजीव रूप देकर अपने पाठकों के सामने उपस्थित

करे; और उसे इधर-उधर बिखरी हुई जो सामग्री भिन्न भिन्न साधनों से मिले, उसकी सहायता से वह अपने कौशल के द्वारा एक सर्वांगपूर्ण चित्र प्रस्तुत करे। ऐतिहासिक उपन्यासों के पाठक तो उसी लेखक का सब से अधिक आदर करते हैं जो किसी विशिष्ट अतीत काल का बिलकुल सच्चा, जीता-जागता और साथ ही मनोरंजक वर्णन कर सके। उसके पांडित्य और पुरातत्व-ज्ञान का भी आदर होता है, पर उतना अधिक नहीं जितना उसकी वर्णन-शक्ति का। हाँ, उस दशा में पुरातत्वज्ञान का भी विशेष आदर हो सकता है, जब उपन्यास की आधार-भूत घटनाएँ बहुत ही प्राचीन और ऐसे काल से संबंध रखती हों जिसके विषय में सर्व-साधारण को बहुत ही कम ज्ञान हो। पर इस विषय का विशेष विवेचन प्रस्तुत विषय से अधिक संबंध नहीं रखता, इसलिये हम यही कहना पर्याप्त समझते हैं कि जिस ऐतिहासिक काल की घटनाओं के आधार पर कोई उपन्यास लिखा जाय, उस काल के विचारों, भावों, व्यवहारों और परिपाटियों आदि का उसमें ठीक ठीक और पूरा पूरा वर्णन होना चाहिए।

देश और काल के अतिरिक्त किसी उपन्यास का संबंध कुछ दूसरी लौकिक बातों से भी होता है। कुछ लेखक तो बड़े और अच्छे दृश्यों का वर्णन भी बहुत ही संक्षेप में करके छुट्टी पा जाते हैं और कुछ लेखक छोटी से छोटी बातों का भी बहुत ही विस्तारपूर्वक वर्णन करने बैठ जाते हैं। कुछ लेखक तो

पर्वतों, नदियों या जंगलों की प्रातःकालीन शोभा का वर्णन दो चार पंक्तियों में ही दे देना पर्याप्त समझते हैं और कुछ लेखकों को खिड़कियों में लगे हुए जँगलों, उनके आगे पड़े हुए परदों और उन परदों में बने बेल-बूटों तक का वर्णन किए बिना संतोष नहीं होता। हमारी समझ में लेखक को किसी प्राकृतिक दृश्य का वैसा ही वर्णन करना चाहिए, जैसा कि कोई अच्छा चित्रकार उस दृश्य का चित्र खींचता। बहुत ही विस्तृत अथवा बहुत ही संक्षिप्त वर्णन कभी प्रभावशाली अथवा चित्ताकर्षक नहीं हो सकता। हाँ, यदि लेखक चाहे तो उन प्राकृतिक दृश्यों अथवा दूसरी बातों का अपने कथानक में और और प्रकार से प्रयोग कर सकता है। वह अपनी रचना की केवल सौंदर्य-वृद्धि के लिये भी ऐसे दृश्यों का वर्णन कर सकता है और अपने सुजन पात्रों के प्रति पाठकों की सहानुभूति बढ़ाने अथवा दुष्ट पात्रों की दुष्टता अधिक प्रत्यक्ष करने के लिये भी कर सकता है। जैसे नवजात कृष्ण को गोद में लेकर यमुना पार करनेवाले वसुदेव के प्रति सहानुभूति बढ़ाने के लिये भीषण अंधकार, घोर वर्षा, प्रचंड वायु और प्रबल बाढ़ का बहुत अच्छा वर्णन हो सकता है। अथवा मन में परम पवित्र भाव उत्पन्न करनेवाली किसी सुंदर नदी के रमणीय तट पर किसी अघोर कृत्य करनेवाले दुष्ट की दुष्टता प्रकट करने के लिये भी ऐसे वर्णनों का उपयोग हो सकता है। अथवा किसी शोकपूर्ण घटना का वर्णन करते हुए पड़नेवाली

फुहार का इंद्र के अश्रुपात के रूप में उपयोग हो सकता है। पर प्रायः लेखक प्राकृतिक दृश्यों या घटनाओं आदि का उपयोग अपने पात्रों के साथ सहानुभूति बढ़ाने में ही करते हैं। किले के बुर्ज में बंद किसी कैदी का वर्णन करते हुए साथ में आँधी और तूफान का उल्लेख होता है; और अट्टालिका में पड़ी विरहिणी के वर्णन के साथ बादल की गरज और बिजली की चमक का उल्लेख होता है। साधारणतः लेखक लोग अपने पात्रों की अवस्था और प्राकृतिक घटनाओं में सामंजस्य ही स्थापित करने का उद्योग करते हैं। विरोध तो प्रायः ऐसे ही लेखकों की रचनाओं में पाया जाता है, जो यह समझ लेते हैं कि प्रकृति को मनुष्यों के सुख-दुःख का कुछ भी ध्यान नहीं होता, अथवा जो इस बात का अनुभव कर लेते हैं कि सुंदर से सुंदर दृश्यों और शोभाओं का भी निर्दय और कठोर-हृदय दुष्टों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

अब हम उपन्यास के अंतिम और छठे तत्व उद्देश्य का कुछ विचार करते हैं। इस उद्देश्य से हमारा तात्पर्य जीवन की

उद्देश्य

व्याख्या अथवा आलोचना से है। नाटक की भाँति उपन्यास का भी जीवन के साथ सब से अधिक और घनिष्ट संबंध है। उपन्यासों में मुख्यतः यही दिखलाया जाता है कि पुरुषों और स्त्रियों के विचार, भाव और पारस्परिक संबंध आदि कैसे हैं; वे किन किन कारणों अथवा प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कैसे कैसे कार्य करते हैं; अपने प्रयत्नों में वे किस

प्रकार सफल अथवा विफल होते हैं; और इन सब के फल-स्वरूप उनमें कैसे कैसे मनोविकार आदि उत्पन्न होते हैं। उपन्यास-लेखक का जीवन के किसी एक अथवा अनेक अंगों के साथ बहुत ही घनिष्ट संबंध होता है; इसलिये किसी न किसी रूप में यह प्रकट करना उसका कर्तव्य हो जाता है कि जीवन के साधारण और असाधारण सभी व्यापारों का उस पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ा है। कुछ विशेष सिद्धांतों अथवा विचारों के प्रतिपादन के उद्देश्य से तो बहुत ही कम उपन्यास लिखे जाते हैं, पर सभी उपन्यासों में कुछ न कुछ विशेष विचार अथवा सिद्धांत आप से आप आ जाते हैं। यदि किसी छोटी से छोटी कहानी को भी ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो उस में भी नैतिक महत्व का कोई न कोई सिद्धांत मिल ही जायगा। तो फिर उपन्यासों में जीवन संबंधी ऐसे नैतिक सिद्धांतों या विचारों का पाया जाना तो बहुत ही साधारण बात है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि उपन्यास खाली समय में केवल दिल बहलाने के उद्देश्य से ही लिखे जाते हैं; इसलिये उनमें जीवन संबंधी गूढ़ सिद्धांतों और तत्वों को ढूँढ़ना ठीक नहीं। बहुत ही साधारण कोटि के उपन्यासों के संबंध में यह कथन ठीक हो सकता है; पर उच्च कोटि के उपन्यासों के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। जीवन-संबंधी कुछ न कुछ सिद्धांत और तत्व तो साधारण उपन्यासों में भी हो सकते हैं और होते हैं; पर वे स्पष्ट रूप से इसी लिये हमारे सामने नहीं

आते कि उनके लेखकों में उन्हें व्यक्त करने की यथेष्ट शक्ति ही नहीं होती। पर बड़े बड़े उपन्यास-लेखक अच्छे अनुभवी और विचारशील होते हैं। वे लोगों के विचारों, भावों और व्यवहारों आदि का भली भाँति निरीक्षण करके उनके संबंध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं; और उस अनुभव तथा ज्ञान की सहायता से वे नैतिक महत्व का ऐसा अच्छा चित्र अंकित करते हैं, जिसकी कोई विचारशील पाठक कभी उपेक्षा कर ही नहीं सकता। यही कारण है कि किसी अच्छे उपन्यास की चर्चा छिड़ते ही आप से आप जीवन के भिन्न भिन्न अंगों अथवा नीति शास्त्र के भिन्न भिन्न सिद्धान्तों की चर्चा होने लगती है।

परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कोई उपन्यास-लेखक अपने उपन्यास में बड़े बड़े नैतिक सिद्धांतों अथवा जीवन-संबंधी अच्छे अच्छे आदर्शों की ही भरमार कर दे। यह अवश्य है कि जीवन के संबंध में उसके जो विचार अथवा आदर्श होंगे, उन्हीं के अनुसार वह अपने उपन्यास का वस्तु-विन्यास तथा उसके पात्रों का चरित्र-चित्रण करेगा। पर उसका यह कृत्य गौण होगा और उसका मुख्य कृत्य जीवन-संबंधी वास्तविक घटनाओं अथवा कार्यों का निदर्शन और निरूपण करना होगा। अर्थात् वह केवल यही दिखलावेगा कि जीवन साधारणतः किस प्रकार व्यतीत किया जाता है। साधारण जीवन का जो चित्र वह अंकित करेगा, वह अवश्य ऐसा होगा जिससे लोग शिक्षा ग्रहण करते हुए कुछ नैतिक सिद्धांत अथवा आदर्श भी स्थिर कर

सकें। जीवन के संबंध में लेखक का जो कुछ अनुभव या निरीक्षण होगा, वह अवश्य लोगों के जीवन-सुधार में बहुत कुछ सहायक होगा। और केवल इसी दृष्टि से उपन्यास का उद्देश्य निश्चित होना चाहिए।

उपन्यासों में जीवन का आलोचन अथवा नैतिक सिद्धांतों का प्रतिपादन दो प्रकार से होता है। कुछ उपन्यास-लेखक तो, नाटककार की भाँति, सब घटनाओं और बातों को उनके वास्तविक रूप में ही अपने पाठकों के सामने उपस्थित कर देते हैं। संसार के मनुष्यों और चरित्रों को वे जिस रूप में देखते अथवा पाते हैं, उसी रूप में वे उनको चित्रित करके छोड़ देते हैं और वस्तु-विन्यास के ढंग से ही वे अपने नैतिक सिद्धांतों का प्रतिपादन कर देते हैं। अर्थात् वे अपनी कल्पना की सहायता से संसार का एक सूक्ष्म अथवा संक्षिप्त रूप ऐसे ढंग से अंकित करते हैं, जिससे कुछ नैतिक सिद्धांत स्थिर किए जा सकते हैं। केवल पात्रों के चरित्र-चित्रण और कथानक के विकास से ही वे जीवन अथवा नीति-संबंधी अपने विचार और सिद्धांत प्रकट कर देते हैं। और तब पाठक अथवा आलोचक का यह काम रह जाता है कि वह उपन्यास में इधर उधर बिखरी हुई बातों के आधार पर कुछ नैतिक निष्कर्ष निकाल ले।

जीवन की व्याख्या

यहाँ तक तो उपन्यास और नाटक दोनों एक ही ढंग से चलते हैं। दोनों कुछ घटनाओं अथवा बातों को लोगों के सामने उप-

स्थित कर देते हैं और परिणाम निकालने का काम पाठकों पर छोड़ देते हैं। नाटककार को तो स्वयं प्रत्यक्ष रूप से कुछ भी कहने का अधिकार नहीं होता, पर उपन्यासकार यदि चाहे तो बीच बीच में स्वयं भी टीका-टिप्पणी कर सकता है। वह उपन्यास में दिए हुए चरित्रों की आलोचना और कार्यों की व्याख्या कर सकता है और उनसे कुछ नैतिक सिद्धांत निकालकर लोगों के सामने रख सकता है। जब वह अपना यह अधिकार काम में लाता है और अप्रत्यक्ष रूप से चरित्र अंकित करने के साथ ही साथ प्रत्यक्ष रूप से उसकी आलोचना भी करने लगता है, तब वह मानों अपने रचे हुए संसार का आप ही आलोचक और व्याख्याता भी बन जाता है। उस दशा में उसकी वही आलोचना और व्याख्या बाहरी संसार की भी आलोचना और व्याख्या हो जाती है। यही जीवन की आलोचना का प्रत्यक्ष और दूसरा प्रकार है।

किसी उपन्यास के जीवन-संबंधी तत्वों की परीक्षा करते हुए सब से पहले इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें सत्यता की मात्रा कहाँ तक है। पर वह सत्यता वैज्ञानिक सत्यता से बिलकुल भिन्न और "कवि-कल्पना" में मिलनेवाली "सत्यता" के समान ही होगी। हम यह नहीं कह सकते कि उपन्यासों में केवल झूठी और कल्पित बातें भरी होती हैं और उनमें सत्यता का कोई अंश होता ही नहीं। यह सच है कि कोई उपन्यास आदि से अंत तक

उपन्यास में सत्यता

वास्तविक अथवा सच्ची घटनाओं के आधार पर नहीं होता; उसकी अधिकांश बातें लेखक की कल्पना से ही उद्भूत रहती हैं। परंतु इतना होने पर भी उसमें गूढ़ और व्यापक सत्यता अंतर्हित रहती है, जो अधिक प्रभावशाली और शिक्षाप्रद होती है। कविता के विवेचन में हम जिस "कवि-कल्पना में सत्यता" का उल्लेख कर चुके हैं, वही सत्यता उपन्यासों, आख्यायिकाओं और नाटकों आदि में भी उपस्थित रहती है। जो कुछ कभी हुआ हो अथवा नित्य होता हो, केवल वही सत्य नहीं है; बल्कि जो कुछ हो सकता हो, वह भी सत्य ही है। इस अंतर को स्पष्ट करने के लिये कुछ विद्वान् साहित्य के दो भेद मानते हैं—एक तो ज्ञान का साहित्य और दूसरा शक्ति का साहित्य। ज्यों ज्यों विज्ञान की उन्नति होती जाती है, त्यों त्यों ज्ञान का साहित्य तो पिछड़ता और पुराना होता जाता है, पर शक्ति का साहित्य नया और ताजा बना रहता है। भौतिक विज्ञान अथवा शरीर-शास्त्र की पाठ्य पुस्तकों में भी सत्य होता है। पर नए वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण उनमें का सत्य पुराना और अधूरा होता जाता है; और इसी लिये उनमें सदा संशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन आदि की आवश्यकता बनी रहती है। पर काव्य, नाटक और उपन्यास आदि ज्ञान के साहित्य नहीं, बल्कि शक्ति के साहित्य हैं। अर्थात् उनमें ज्ञान के बदले एक ऐसी शक्ति होती है जो लोगों को कुछ विशेष बातों का ज्ञान कराती है। ऐसी पुस्तकों में जो कल्पित सत्य होता है, वह

सदा एक-रस रहता है। उसमें कभी किसी परिवर्तन, परिवर्द्धन या संशोधन आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती। पंचतंत्र, कादंबरी अथवा शकुंतला में जो सत्य प्रतिपादित है, उसमें क्या कभी कोई अंतर पड़ सकता है या वह कभी पुराना और निकम्मा हो सकता है?

किसी ने कहा है—"उपन्यास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और सब बातें सच्ची होती हैं; और इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और कोई बात सच्ची नहीं होती।" इस उद्धरण से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि इतिहासों में कुछ भी तथ्य नहीं होता। हमारा अभिप्राय तो केवल यही है कि लोग भली भाँति समझ लें कि उपन्यासों और नाटकों आदि का महत्व किस प्रकार के सत्य का आश्रित है। उपन्यास-लेखक कुछ सच्ची अथवा संभावित घटनाओं को तोड़-मरोड़कर किसी नए और विलक्षण ढंग से हमारे सामने उपस्थित कर सकता है। पर फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि जीवन की वास्तविक घटनाओं और शक्तियों अथवा आदर्श संभावनाओं से वह दूर जा पड़ा है। हाँ, यदि वह इन बातों से दूर जा पड़ा हो, यदि उसकी कृति में हमें आदि से अंत तक बिलकुल असंभव और अनुपयुक्त बातें ही मिलें, जैसी कि हिंदी के ऐयारी के और तिलस्मी उपन्यासों में मिलती हैं, तो हम कह सकते हैं कि लेखक ने उपन्यास के वास्तविक उद्देश्य अथवा लक्ष्य पर कुछ भी ध्यान नहीं रखा; और इस दृष्टि से उसकी कृति प्रशंसनीय नहीं है।

उपन्यास में जो सत्यता होती है, वह वास्तव में उसकी वास्तविकता अथवा संभावना से संबद्ध होती है। जो बात संभव हो, अथवा जो नित्य किसी न किसी रूप में वास्तव में होती हो, उसी को उपन्यास में स्थान मिलना चाहिए। साथ ही कोई ऐसी बाधा भी नहीं होनी चाहिए जिससे लेखक अपनी कल्पना-शक्ति से पूरा पूरा काम न ले सके। लेखक को संसार और जीवन की वास्तविकताओं का भली भाँति निरीक्षण करना चाहिए और यथासाध्य उनका ज्यों का त्यों चित्र अंकित करना चाहिए। पर कहीं कहीं इस सिद्धांत का भी दुरुपयोग हो सकता और होता है। दुष्टता और नीचता आदि का एक ही स्थान में कोई ऐसा चित्र खींचा जा सकता है जिस पर असंभव होने का तो दोष न लग सकता हो, पर फिर भी जो जीवन की साधारण वास्तविकताओं से बहुत दूर जा पड़ता हो। अथवा किसी बहुत ही साधारण और नित्य होनेवाली बात का ऐसा लंबा-चौड़ा वर्णन हो सकता है जो वास्तविकता से तो दूर न हो, पर फिर भी अनावश्यक और निरर्थक हो। कवि, लेखक या चित्रकार आदि को सत्यता, वास्तविकता और कल्पना का मेल मिलाना पड़ता है। उसका अंकित चित्र वास्तविक भी होता है और कल्पित भी। वह वास्तविक तो इसलिये होता है कि सचमुच होनेवाली घटनाओं से बहुत कुछ मिलता-जुलता होता है; और कल्पित इसलिये होता है कि वास्तव में उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। तात्पर्य

वास्तविकता

यह है कि वास्तविकता और कल्पना दोनों की समान रूप से आवश्यकता होती है। न तो कोरी कल्पना से ही काम चल सकता है और न निरी वास्तविकता से ही। वास्तविकता में कल्पना का और कल्पना में वास्तविकता का सम्मिश्रण ही आनंददायक और शिक्षाप्रद हो सकता है।

उपन्यास में नीति

उपन्यास में नीति का स्थान सत्यता और वास्तविकता के अनंतर आता है। उसमें लेखक का मुख्य काम होता है कोई अच्छी कहानी अच्छे ढंग से कहना: और कहानी अच्छी तभी कही जायगी, जब पढ़नेवाले को उससे कोई अच्छी शिक्षा मिलेगी। यदि यह बात न होगी, तो अच्छे उपन्यासों और साधारण ऐयारी के तथा तिलस्मी उपन्यासों में कोई अंतर ही न रह जायगा। उपन्यासों में वास्तविक घट-नाओं का चित्र ऐसे ढंग से अंकित होना चाहिए कि उससे आपसे आप कुछ नैतिक शिक्षा मिले। आजकल जो उपन्यास अच्छे और उच्च कोटि के समझे जाते हैं, उन सब से बहुत सी अच्छी अच्छी शिक्षाएँ मिलती हैं। परंतु ये शिक्षाएँ स्वयं उस कहानी में ही ऐसे अच्छे ढंग से मिली हुई होनी चाहिएँ कि समय समय पर वे आप ही व्यक्त होती रहें। नैतिक शिक्षाएँ और उपदेश देने के लिये लेखक को उपदेशक या प्रचारक नहीं बन जाना चाहिए। उपन्यास का स्वयं वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण आदि ही ऐसा होना चाहिए जो जीवन के शिक्षा-प्रद अंगों से संबंध रखता हो और जिसके कारण पढ़नेवाले के

मन पर कोई उत्तम, स्थायी और अभीष्ट प्रभाव पड़ता हो। जिस उपन्यास के पढ़ने से पाठकों के मन पर जितना ही अच्छा प्रभाव पड़ेगा, वह उपन्यास, नैतिक दृष्टि से, उतना ही अच्छा समझा जायगा।

एक विद्वान् का कथन है—"यदि हम साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें पता चलेगा कि जिस साहित्य अथवा कला से लोगों की मानसिक उन्नति अथवा नैतिक भलाई नहीं होती, उसका अंत मानव-जाति आत्म-रक्षा के विचार से ही कर देती है। जो भाव या विचार आदि मानव-जाति की उन्नति के सिद्धांतों के विरोधी अथवा विपरीत होते हैं, उनको वह अधिक समय तक प्रचलित नहीं रहने देती और शीघ्र ही नष्ट कर देती है। अतः किसी कला के महत्व के लिये यह आवश्यक है कि उसमें नैतिक अथवा मानसिक उन्नति के भाव भी वर्तमान हों। यों तो कला मात्र का उद्देश्य आनंद का उद्रेक करना है; पर प्रत्येक कला से मन में कुछ न कुछ भाव, कुछ न कुछ विचार उत्पन्न होते हैं। इसलिये कला का महत्व इसी में है कि उससे हमारे भावों और विचारों में कुछ उन्नति हो, उनका कुछ परि-मार्जन हो। मानव-जाति की वास्तविक उन्नति उसकी नैतिक उन्नति में ही मानी जाती है और इसी लिये मानव-जाति सारा उद्योग नैतिक उन्नति के लिये ही करती है। और यही कारण है कि जो कला-कुशल महत्व प्राप्त करना चाहते हैं, वे न तो नीति के विरुद्ध चल सकते हैं और न उसकी उपेक्षा कर सकते हैं।" जो

लेखक इस तत्व पर ध्यान रखकर चलेंगे, वे अवश्य ही सफल-मनोरथ होंगे। अन्यान्य कलाओं की भाँति काव्य-कला पर भी नीति संबंधी यह उत्तरदायित्व है। इसका भी जन्म जीवन से होता है, इसकी भी पुष्टि जीवन से होती है और इसका भी जीवन पर कुछ प्रतिघात होता है। इसलिये जीवन के प्रति उसका जो उत्तरदायित्व है, उसकी हम अवहेलना नहीं कर सकते। यदि उपन्यास का संबंध जीवन से है, तो नीति से भी उसका संबंध होना चाहिए; और नीति के साथ उसका जितना ही अधिक और घनिष्ठ संबंध होगा, वह उतना ही महत्वपूर्ण तथा आदरणीय होगा।

आख्यायिका या कहानी

अब हम संक्षेप में आख्यायिकाओं या छोटी छोटी कहानियों के संबंध में, जिनको लोग बंगालियों की देखा-देखी भूल से "गल्प" कहते हैं, कुछ कहना चाहते हैं। आज-कल संसार की प्रायः सभी भाषाओं में इन कहानियों का प्रचार बहुत बढ़ता जाता है। कुछ लोग बड़े बड़े उपन्यासों का आकार और पृष्ठ-संख्या आदि देखकर घबरा जाते हैं और कुछ लोगों को, घबराहट न होने पर भी, इतना समय ही नहीं मिलता कि वे बड़े बड़े उपन्यास पढ़ सकें। ऐसे लोगों के सुभीते के लिये ही आख्यायिकाओं अथवा छोटी कहानियों का प्रचार हुआ है। ये कहानियाँ इतनी छोटी होती हैं कि किसी मासिक पत्र के एक ही अंक में, और और विषयों के साथ, कई कई आ जाती हैं। उपन्यासों और

नाटकों की भाँति इनसे भी अच्छी नैतिक शिक्षा मिल सकती है है और इनसे भी मनोरंजन होता है। यही कारण है कि आज-कल ऐसी आख्यायिकाओं अथवा कहानियों का प्रचार बहुत बढ़ता जाता है। इनका इतना बढ़ता हुआ प्रचार देखकर कुछ लोग तो यहाँ तक कहने लग गए हैं कि कुछ दिनों में उपन्यास रह ही न जायँगे और ये कहानियाँ ही उपन्यासों का स्थान ले लेंगी। पर हमारी समझ में यह आशंका निर्मूल ही है; क्योंकि उपन्यास का काम आख्यायिकाओं से कभी निकल ही नहीं सकता। आख्यायिका के छोटे क्षेत्र में जीवन की उतनी अधिक विवेचना हो ही नहीं सकती, जितनी उपन्यास में होती है। उसमें पात्रों के चरित्र का उतना अच्छा विकास और चित्रण भी नहीं हो सकता, जिसके लिये उपन्यासों का इतना महत्त्व और आदर है। हिंदी में बहुत बड़े बड़े उपन्यासों का तो अभाव ही है, पर फिर भी हम कह सकते हैं कि परीक्षा-गुरु अथवा प्रेमाश्रम आदि में जीवन के जितने चित्र खींचे गए हैं, उतने चित्र एक क्या कई आख्यायिकाओं में भी नहीं आ सकते। जिस प्रकार संसार में मनुष्यों के व्यवहारों और कार्यों आदि का निरीक्षण करने में हमें बहुत अधिक समय लगता है, उसी प्रकार पुस्तकों में भी उनसे परिचित होने के लिए अधिक समय लगाना आवश्यक और अनिवार्य है। छोटी कहानियों में उनके पात्रों का और हमारा बहुत ही थोड़े समय के लिये साथ होता है और हमें उनके बहुत ही थोड़े कार्यों और व्यवहारों आदि का

परिचय मिलता है। हमारे चित्त पर उनके अध्ययन से जो प्रभाव पड़ता है, वह भी अपेक्षाकृत बहुत ही अल्प और थोड़े महत्व का होता है। जब तक जीवन की जटिलताएँ रहेंगी और जब तक लोगों को सूक्ष्म से भी सूक्ष्म बातें जानने की रुचि रहेगी, तब तक उपन्यासों का स्थान आख्यायिकाएँ नहीं ले सकेंगी। पर इस समय हम इस बात का विचार करने नहीं बैठे हैं कि उपन्यास और आख्यायिका में से कौन श्रेष्ठ अथवा अधिक स्थायी है। हम तो उपन्यास की भाँति आख्यायिका को भी गद्य-काव्य का एक अंग मानते हैं और इसी दृष्टि से उसका विवेचन करते हैं।

आख्यायिका का रूप

सब से पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि आख्यायिका या छोटी कहानी कहते किसे हैं। आजकल जैसी कहानियों का प्रचार बढ़ रहा है, उनको देखते हुए हम कह सकते हैं कि आख्यायिका ऐसे गद्य कथानक को कहते हैं, जो घंटे दो घंटे के अंदर ही पढ़कर समाप्त किया जा सके, अर्थात् ऐसी कहानी जो थोड़े से अवकाश के समय एक ही बैठक में समाप्त हो सके। आख्यायिका कभी उपन्यास का संक्षिप्त रूप नहीं हो सकती; क्योंकि जो बातें किसी उपन्यास के सौ दो सौ पृष्ठों में आ सकती हैं, वे दस बीस पृष्ठों की किसी आख्यायिका में नहीं आ सकतीं। प्रायः सभी देशों में वृद्धा स्त्रियाँ संध्या समय घर में बैठकर बालकों को अनेक प्रकार की शिक्षाप्रद अथवा कुतूहलवर्द्धक कहानियाँ सुनाया करती हैं।

आजकल की आख्यायिकाएँ भी एक प्रकार से उन्हीं कहानियों का संशोधित और परिमार्जित रूप हैं। आजकल भी मासिक पत्रों आदि में अनेक ऐसी कहानियाँ निकला करती हैं, जो पुराने ढंग की कहानियों और आधुनिक ढंग की आख्यायिकाओं के बीच की होती हैं। आख्यायिकाओं के प्रचार के साथ ही साथ लोग यह समझने लगे हैं कि आख्यायिकाएँ लिखना भी एक कला है और उसके लिये भी किसी विशेष कौशल की आवश्यकता है। जिस प्रकार उपन्यासों और आख्यायिकाओं के विस्तार में अंतर है, उसी प्रकार उनके उद्देश्य और वस्तु-विन्यास आदि में भी अंतर है।

आख्यायिका का विषय ऐसा होना चाहिए जिसका उसकी संकुचित सीमा के अंदर भली भाँति विकास और निर्वाह हो सके।

आख्यायिका-रचना के सिद्धांत

इस विषय में पाठकों की रुचि का सब से अधिक ध्यान रखना चाहिए। कोई आख्यायिका समाप्त करने के उपरांत पढ़नेवाले की यह सम्मति होनी चाहिए कि यदि इस आख्यायिका का और अधिक विस्तार किया जाता, तो उससे कोई लाभ न होता। तात्पर्य यह कि किसी आख्यायिका से पाठकों के मन में यह भाव उत्पन्न हो जाना चाहिए कि जो कुछ कहा गया है, वह ठीक और पर्याप्त है; इसमें अनावश्यक बातें नहीं आने पाई हैं और इतने से ही आख्यायिका का उद्देश्य सिद्ध हो गया है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आख्यायिका में किसी एक ही अथवा क्षणिक घटना

का ही उल्लेख हो। उसमें साहित्यिक रूप में जीवन के एक से अधिक अंशों के चित्र होने चाहिएँ और इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि आख्यायिका की सारी उत्तमता उसके कहने के ढंग पर निर्भर करती है। उसमें चरित्र या अनुभव के किसी एक ही पक्ष का विचार अथवा प्रदर्शन हो सकता है; अथवा उतनी अधिक और व्यापक बातें भी बतलाई जा सकती हैं, जितनी अनेक साधारण उपन्यासों में भी नहीं पाई जातीं। पर हाँ, यदि किसी छोटी सी आख्यायिका में किसी व्यक्ति के सारे जीवन की सभी घटनाओं को भरने का उद्योग किया जायगा, तो वह पाठकों के लिये अरुचिकर होगा और पठित समाज में उसका आदर न हो सकेगा। इसी लिये हमने कहा है कि आख्यायिका की उत्तमता उसके विषय तथा प्रतिपादन-शैली पर ही निर्भर रहती है। दूसरी आवश्यक बात यह है कि उसके उद्देश्य, साधन और परिणाम आदि में सामंजस्य होना चाहिए। आख्यायिका का उद्देश्य अथवा आधार-भूत सिद्धांत एक ही होना चाहिए और आदि से अंत तक उसी उद्देश्य या सिद्धांत का ध्यान रखकर और उसी का युक्तियुक्त परिणाम उत्पन्न करने के विचार से आख्यायिका लिखी जानी चाहिए। उपन्यासों में इतनी अधिक बातें होती हैं कि उनसे कोई एक मुख्य सिद्धांत या परिणाम निकालना प्रायः कठिन हो जाता है। परंतु आख्यायिका के संबंध में यह बात नहीं होनी चाहिए। आख्यायिका में तो मुख्य विचार केवल एक

११

ही, और वह भी बहुत ही प्रत्यक्ष या स्पष्ट, होना चाहिए। बीच में कोई ऐसी बात नहीं आनी चाहिए जिससे पढ़नेवाले का ध्यान उस मुख्य विचार से हटकर किसी दूसरी ओर चला जाय। यदि किसी आख्यायिका का उद्देश्य और परिणाम दोनों बिलकुल एक हों, तो समझ लेना चाहिए कि उसके लेखक को अच्छी सफलता हुई है।

पर आख्यायिका लिखने में उद्देश्य और परिणाम की यह एकता प्रतिपादित करना ही सब से अधिक कठिन काम है। इसी कठिनता का ध्यान रखते हुए कुछ विद्वानों ने यह सिद्धांत स्थिर किया है कि बड़े बड़े उपन्यासों की अपेक्षा छोटी छोटी आख्यायिकाएँ लिखना और भी अधिक कठिन काम है। उसमें अधिक कौशल की आवश्यकता है। एक विद्वान् का मत है— "कुशल लेखक बहुत अच्छी तरह विचार करके यह निश्चित करता है कि पाठकों के हृदय पर मेरी रचना का अमुक प्रकार का प्रभाव पड़े; और तब उसी प्रभाव या परिणाम पर ध्यान रखकर वह ऐसी घटनाओं की रचना करता है, जो अभीष्ट परिणाम उत्पन्न करने में सबसे अधिक सहायक होती हैं। यदि उसके प्रारंभिक वाक्य से ही उस परिणाम का आरंभ न हो, तो समझना चाहिए कि पहले ही ग्रास में मक्षिका-पात हो गया। सारी रचना में एक भी ऐसा शब्द न होना चाहिए जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पाठकों को उस अभीष्ट परिणाम अथवा प्रभाव की ओर अग्रसर न करता हो। इतने ध्यान,

इतने कौशल और इतने साधनों से अंत में जो चित्र प्रस्तुत होता है, वही विचारशील और कलाकुशल प्रेक्षक को पूर्ण रूप से संतुष्ट कर सकता है। बस यही कहानी का शुद्ध और स्वच्छ रूप है और यह रूप उपन्यास को प्राप्त नहीं हो सकता।" अच्छी आख्यायिकाएँ लिखने में इस परामर्श का बहुत कुछ उपयोग हो सकता है।

आख्यायिका में थोड़े से ही स्थान में कोई बड़ी बात बतलानी पड़ती है, इसलिये उसकी रचना की सभी बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। उसमें सभी अनावश्यक और निरर्थक बातें छोड़ दी जाती हैं; इस बात का ध्यान रखा जाता है कि किसी बात का आवश्यकता से कम या अधिक विस्तार न हो; घटनाओं का क्रम बिलकुल ठीक और गठा हुआ हो; और उसके सभी भिन्न भिन्न खंड या अंग सारी आख्यायिका के अनुरूप और अधीन हों। उपन्यास में तो रचना-संबंधी दोष कहीं कहीं छिप भी जाते हैं, पर आख्यायिका में वे बहुत ही स्पष्ट दिखाई देते हैं। आख्यायिका के संबंध में यही साधारण सूचनाएँ हैं, जिनका ध्यान रखना उपयोगी हो सकता है। नहीं तो उसकी रचना का कोई निश्चित नियम नहीं बतलाया जा सकता। नियम आवें कहाँ से ? एक तो रचना-प्रणाली का संबंध विषय और उद्देश्य से है; और दूसरे किसी कला से संबंध रखनेवाली छोटी छोटी बातें बतलाना या नियम निर्धारित करना बहुत ही कठिन होता है;

क्योंकि कला-संबंधी छोटी छोटी बातों का ठीक ठीक अनुमान तो उसका पूरा स्वरूप देखकर ही किया जा सकता है।

इसी प्रकार यह बतलाना भी कठिन है कि किस उद्देश्य या लक्ष्य पर ध्यान रखकर आख्यायिका लिखी जानी चाहिए।

उद्देश्य या लक्ष्य

यदि उसकी रचना से संबंध रखनेवाली सभी बातों का ध्यान रखा जा सके, तो फिर प्रत्येक उद्देश्य और प्रत्येक साधन से आख्यायिका लिखी जा सकती है। उससे पाठकों को हँसाया भी जा सकता है और रुलाया भी जा सकता है। उनको चकित भी किया जा सकता है और चक्कर में भी डाला जा सकता है। उनको मनोविज्ञान के भी कुछ सिद्धांत बतलाए जा सकते हैं और प्रेम का प्रभाव या परिणाम भी दिखलाया जा सकता है। प्राचीन काल का दृश्य भी उनके सामने रखा जा सकता है और भविष्यत् का चित्र भी अंकित किया जा सकता है। कोई रोमांचकारिणी अथवा शिक्षाप्रद घटना भी चित्रित की जा सकती है और जीवन का कोई अंश भी चित्रित किया जा सकता है। अपना कोई अनुभव भी बतलाया जा सकता है और देश अथवा समाज की अवस्था भी बतलाई जा सकती है। तात्पर्य यह कि सैकड़ों हजारों विषयों पर, बल्कि यों कहना चाहिए कि प्रायः सभी विषयों पर, आख्यायिकाएँ लिखी जा सकती हैं। यदि आप चाहें तो पहले अपने मन में आख्यायिका की कोई वस्तु निर्धारित कर लें और तब उसके अनुरूप चरित्र आदि

लाकर उसमें आरोपित करें। अथवा आप कोई चरित्र चुनकर उसके अनुरूप वस्तु-विन्यास भी कर सकते हैं। अथवा यदि आपके मन में कोई विचार या सिद्धांत उद्भूत हुआ हो, तो उसके अनुरूप वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण भी कर सकते हैं। आख्यायिका के संबंध में यही सब बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। उसकी शेष अन्यान्य बातें प्रायः उपन्यास की अन्यान्य बातों से ही मिलती-जुलती हैं, जिनका अभी पहले के पृष्ठों में वर्णन किया जा चुका है।

अब हम संक्षेप में निबंध के संबंध में दो चार बातें बतलाकर यह प्रकरण समाप्त करेंगे। आधुनिक साहित्य में निबंध का स्थान बहुत ऊँचा है और साधारण कोटि के पाठकों की अपेक्षा विद्वानों में उसका आदर बहुत अधिक है।

निबंध

पर साथ ही उसकी परिभाषा इतनी अनिश्चित, व्याख्या इतनी कठिन तथा विषय, उद्देश्य और शैली आदि का विस्तार इतना अधिक है कि उसका ठीक ठीक और नियमपूर्वक विवेचन करना बहुत ही कठिन है। इन कठिनताओं और जटिलताओं आदि को देखते हुए कभी कभी तो मन में यह भी प्रश्न उठता है कि क्या इसे साहित्य का कोई स्वतंत्र और निश्चित रूप मानना चाहिए। हिंदी में तो अभी मानों निबंधों का ठीक ठीक आरंभ ही नहीं हुआ है, पर दूसरी भाषाओं में लिखे हुए अनेक निबंधों को देखकर न तो उनकी कोई परिभाषा की जा सकती है और न कोई नियम या सिद्धांत ही स्थिर किया जा सकता है। किसी निबंध

में तो बहुत ही जटिल भाषा में बहुत ही थोड़े स्थान में बहुत से पांडित्यपूर्ण विचार भरे रहते हैं और किसी में अनेक प्रकार की सम्मतियाँ अथवा वाक्य आदि उद्धृत रहते हैं। किसी निबंध में आपस की सी साधारण बात-चीत होती है और किसी में दार्शनिक विचार होते हैं। कोई निबंध पाँच सात पृष्ठों का होता है और कोई सौ पचास पृष्ठों का। तात्पर्य यह कि जितने निबंध आप देखेंगे, उनके प्रायः उतने ही स्वरूप और प्रकार पावेंगे। यदि हम उनकी कोई व्याख्या या परिभाषा करना चाहें, तो हमें कदाचित् एक भी ऐसा लक्षण या चिह्न न मिलेगा जो सब में समान रूप से वर्तमान हो। किसी के मत से निबंध वह अनियमित और क्रम-रहित रचना है, जिसमें हृदय के उद्गार भरे हों; और किसी के मत से किसी विशेष विषय पर विस्तारपूर्वक लिखे हुए लेख का नाम निबंध है। कोई विस्तृत और संबद्ध रचना को ही निबंध मानता है, तो कोई ऐसे विवेचन को निबंध कहता है जिसमें भिन्न भिन्न मतों का विचार करते हुए कोई सिद्धांत स्थिर किया गया हो। वास्तव में आजकल निबंध शब्द का व्यवहार ही इतने भिन्न भिन्न प्रकार के लेखों और रचनाओं आदि के संबंध में होता है कि उसकी ठीक ठीक व्याख्या प्रायः असंभव है। पर हमारी समझ में निबंध उस लेख को कहना चाहिए जिसमें किसी गहन विषय पर विस्तारपूर्वक और पांडित्यपूर्ण विचार किया गया हो। साथ ही उस विचार का विस्तार इतना अधिक भी न होना चाहिए कि एक बड़ा

पोथा तैयार हो जाय। वह अधिक से अधिक किसी अच्छी पुस्तक के एक अध्याय के बराबर होना चाहिए। एक लेखक का कहना है—"निबन्ध लिखना बहुत ही सहज है; क्योंकि यह उन्हीं लेखकों के लिये उपयुक्त है जो योग्यता आदि के अभाव के कारण किसी विषय पर गूढ़ विचार नहीं कर सकते; और..........निबंध से ऐसे ही पाठकों का मनोरंजन भी होता है जो इधर-उधर की तथा निरर्थक बातों से ही प्रसन्न होते हैं।" पर हमारी समझ में निबंध के संबंध में यह मत सर्वथा अनुपयुक्त है। एक दूसरे विद्वान् का यह मत हमें बहुत ही ठीक जँचता है कि निबंध लिखना बहुत ही कठिन है; क्योंकि उसमें थोड़े में बहुत सी बातें बतलानी पड़ती हैं और उसके पाठ से पाठकों को आनंद भी मिलता है। वास्तव में अच्छा निबंध वही कहा जायगा, जिसमें संक्षेप में बहुत सी काम की बातें बतलाई गई हों। पर ऐसा निबंध लिखना हर एक लेखक का काम नहीं है। यदि किसी लेखक ने ज्ञान की कमी के कारण ही कोई छोटा और निरर्थक बातों से भरा हुआ निबंध लिखा हो, तो वह निबंध कभी उच्च कोटि में स्थान न पा सकेगा। पर यदि किसी ज्ञान-संपन्न लेखक का कोई ऐसा निबंध हो जिसमें थोड़े में ही बहुत सी काम की बातें आ गई हों, तो वह निबंध अवश्य ही सब के लिये आदरणीय और आदर्श होगा।

यह ठीक है कि निबंध संक्षिप्त होना चाहिए, परन्तु इसी संक्षिप्तता के कारण यह भी आवश्यक हो जाता है कि उसकी

सभी बातें काम की हों और उसमें कोई अनावश्यक बात न आने पावे। ऐसा निबंध वही लेखक लिख सकेगा जिसका ज्ञान-भांडार पूर्ण होगा और जिसमें मतलब की सभी बातें बहुत ही संक्षेप में कह या लिख सकने का कौशल होगा। वह अपने निबंध की सामग्री बहुत ही सतर्क होकर चुनेगा और उससे काम भी बहुत ही कुशलतापूर्वक लेगा। निबंध में बहुधा किसी एक ही विषय का समावेश होता है, अतएव लेखक के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने विषय का ऐसे अच्छे ढंग से प्रतिपादन करे जिसमें पाठकों की समझ में सब बातें अनायास ही आ जायँ और उनको उस विषय का पूरा पूरा ज्ञान हो जाय।

प्रायः कहा जाता है कि निबंध लिखने की परिपाटी इस लिये चली थी कि लोग अपने भाव प्रकट करने का कोई ऐसा साधन ढूँढ़ते थे जिसमें उनको बात-चीत की सी स्वतन्त्रता प्राप्त हो। यही कारण है कि बहुत पुराने लिखे हुए निबंध प्रायः शिथिल जान पड़ते हैं। पर इसमें संदेह नहीं कि निबंध प्रायः उसी समय लिखा जाता है, जब कोई विद्वान् किसी विषय का भली भाँति मनन और अध्ययन करके उस पर अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करना चाहता है। इसलिये अच्छे निबंध की यही कसौटी है कि उसके लेखक ने जो कुछ विचार उसमें प्रकट किए हैं, वे स्वतंत्र और विशेष अध्ययन के परिणाम हैं या नहीं। अच्छे निबंध से लेखक के पांडित्य, विचार-शैली और लेखन-कुशलता

का बहुत सहज में परिचय मिल जाता है और हमें यह पता लग जाता है कि उस लेखक के विचारों का विकास किस प्रकार हुआ है, उसने अपने विवेच्य विषय पर किस दृष्टि से विचार किया है, अपने विचारों को वह किस प्रकार प्रकट करता है, उसमें अपने विषय का विवेचन करने की कैसी और कितनी शक्ति है और वह सब बातों का विचार करके किस प्रकार कोई परिणाम निकालता है। निबंध से किसी लेखक की भाषा और लेख-शैली का भी बहुत अच्छा परिचय मिलता है, क्योंकि इस विषय में उसे पूरी स्वतंत्रता रहती है। सारांश यह कि निबंध वास्तव में लेखक की विद्वत्ता और लेख-शैली का सबसे अच्छा परिचायक और प्रमाण होता है।

52P

छठा अध्याय

दृश्य काव्य का विकास

चौथे अध्याय में हमने कविता के दो मुख्य विभाग किए हैं—एक भावात्मक और दूसरा बाह्य-विषयात्मक। बाह्य-विषयात्मक कविता के अंतर्गत हमने दृश्य और श्रव्य काव्यों की गणना की है। इस अध्याय में हम दृश्य काव्य के विकास का इतिहास देते हैं और आगे चलकर हम नाट्य-कला का विवेचन करेंगे।

परिभाषा

दृश्य काव्य का अर्थ ऐसा काव्य है जो देखा जा सके, अर्थात् जिसका अभिनय किया जा सके। इसी दृश्य काव्य को संस्कृत आचार्यों ने "रूपक" नाम दिया है। किसी अभिनय में अभिनय करनेवाले किसी दूसरे व्यक्ति का रूप धारण करके उसके अनुसार हाव-भाव करते और बोलते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति या उसके रूप का आरोप दूसरे व्यक्ति में होता है। इसलिये ऐसे काव्य को रूपक नाम दिया गया है। मान लीजिए कि इस प्रकार के काव्य में राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यंत के संबंध में अभिनय किया जाता है। अब जो अभिनय करनेवाला राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यंत का रूप बनेगा, वह उसी प्रकार का आचरण करेगा जैसा कि राम,

कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यंत ने उस अवस्था में किया होगा। उनकी वेष-भूषा, बोल-चाल आदि भी उसी प्रकार की होगी। अर्थात् वह भिन्न व्यक्ति होने पर भी लोगों (दर्शकों) के सामने राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यंत बनकर आवेगा और लोगों को इस प्रकार का भास कराने का उद्योग करेगा कि मैं वास्तव में वही हूँ जिसका रूप मैंने बनाया है। इसी लिये रूपक ऐसे काव्य को कहेंगे जिसमें अभिनय करनेवाला किसी के रूप, हाव-भाव, वेष-भूषा, बोल-चाल आदि का ऐसा अच्छा नाट्य करे जिसमें उसमें और वास्तविक व्यक्ति में का भेद प्रत्यक्ष न हो सके। अब इस अर्थ में साधारणतः 'नाटक' शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द संस्कृत की नट् धातु से निकला है, जिसका अर्थ नाचना है और जो इस काव्य की उत्पत्ति का सूचक है। भिन्न भिन्न देशों में इस कला का विकास भिन्न भिन्न रूपों और समयों में हुआ है; परंतु एक बात ऐसी है जो सभी नाटकों में समान रूप से पाई जाती है। वह यह है कि सभी नाटकों में पात्र नाट्य के द्वारा किसी न किसी व्यक्ति का अनुसरण या उसकी नकल करते हैं।

हम यह बात पहले बतला चुके हैं कि मनुष्य स्वभाव से ही ऐसा जीव है जो सदा यह चाहता है कि मैं अपने भाव और

उत्पत्ति

विचार दूसरों पर प्रकट करूँ। वह उन्हें अपने अंतःकरण में छिपा रखने में असमर्थ है। उसे बिना उन्हें दूसरों पर प्रकट किए चैन नहीं मिलता। अतएव अपने

भावों और विचारों को दूसरों पर प्रकट करने की इच्छा मानव प्रवृत्ति का एक अनिवार्य गुण है। मनुष्य अपने भावों और विचारों को इंगितों या वाणी-द्वारा अथवा दोनों की सहायता से प्रकट करता है। भावों और विचारों को अभिव्यंजित करने की ये रीतियाँ वह मानव-समाज में मिलकर सीख लेता है। किसी उत्सव के समय वह इन्हीं भावों को नाच-गाकर प्रकट करता है। वाणी और इंगित के अतिरिक्त भावों और विचारों के अभिव्यंजन का एक तीसरा प्रकार अनुकरण या नकल है। बाल्यावस्था से ही मनुष्य नकल करना सीखता है और उसमें सफल होने पर उसे आनंद मिलता है। यह नकल भी वाणी और इंगित द्वारा सब मनुष्यों को सुगमता से साध्य है। उसके अनंतर वेष-भूषा की नकल का अवसर आता है; और यह भी कष्ट-साध्य नहीं है। इन साधनों के उपलब्ध हो जाने पर क्रमशः दूसरे व्यक्ति के स्थानापन्न बनने की चेष्टा एक साधारण सी बात है। पर इतने ही से नाटक का सूत्रपात नहीं हो जाता। जब तक नकल करने की प्रवृत्ति नाट्य का रूप धारण नहीं करती, तब तक नाटक का आविर्भाव नहीं होता। पर ज्यों ही नकल करने की यह प्रवृत्ति नाट्य का रूप धारण करती है, त्यों ही मानों नाटक का बीजारोपण होता है। बस यही नाटक का आरंभ है।

किसी का अनुकरण या नकल करने से नाटक की उत्पत्ति या सृष्टि तो अवश्य हो जाती है, पर इतने से ही उसकी कर्तव्यता का

अंत नहीं हो सकता। नाटक आगे चलकर साहित्य के अनुशासन या नियंत्रण में आ जाता है और तब उसे साहित्यिक रूप प्राप्त होता है। उस दशा में हम उसे नाट्य साहित्य कहते हैं। पर यह नाट्य साहित्य सभी जातियों अथवा देशों में नहीं पाया जाता। ऐसी भी जातियाँ हैं जिनमें नाटक का प्रचार तो यथेष्ट है, पर जिनमें नाट्य साहित्य का अभाव है। अनेक असभ्य जातियाँ ऐसी हैं जिनमें किसी न किसी रूप में नाटक तो वर्तमान हैं, पर जिन्होंने अपने साहित्य का विकास अथवा निर्माण ही नहीं किया। जिन जातियों ने नाटक को शास्त्र का अथवा साहित्यिक रूप दिया है, उनकी तो कोई बात ही नहीं है; पर जिन जातियों के नाटकों को साहित्यिक रूप नहीं प्राप्त हुआ है, उन जातियों ने भी नाटक के संगीत, नृत्य, भाव-भंगी, वेश-भूषा आदि भिन्न भिन्न आवश्यक और उपयोगी अंगों में रुचि या आवश्यकता आदि के अनुसार थोड़ा बहुत परिवर्तन और परिवर्द्धन करके नाटकों के अनेक भेदों और उपभेदों की सृष्टि कर डाली है। परंतु नाटक वास्तव में उसी समय साहित्य के अंतर्गत आ जाता है, जब उसमें किसी के अनुकरण या नकल के साथ ही साथ कथोपकथन या वार्तालाप भी हो। नाटक में संगीत या वेश-भूषा आदि का स्थान इसके पीछे आता है। साथ ही हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि नाटक की सृष्टि संगीत और नृत्य के कारण तथा इन्हीं दोनों से हुई है।

(नाटक की सृष्टि संगीत और नृत्य से तो अवश्य हुई है, पर उसके विकास के मुख्य साधन महाकाव्य और गीति-काव्य हैं।) इस विषय पर विचार करने से पहले हम संक्षेप में यह बतला देना चाहते हैं कि नाटक का आरंभ कैसे कैसे अवसरों पर और किन किन उद्देश्यों से हुआ। (प्राचीन काल में, जब मानव समाज अपने विकास की बिलकुल आरंभिक अवस्था में था, लोग ऋतुओं आदि के परिवर्तन को देखकर मन ही मन बहुत भयभीत होते थे और उनके परिणाम तथा प्रभाव से बचने के लिये देवताओं के उद्देश्य से अनेक प्रकार के उत्सव करके नाचते-गाते थे। जिस समय भीषण वर्षा होती थी अथवा कड़ाके का जाड़ा पड़ता था, उस समय उनके प्राण बड़े संकट में पड़ जाते थे; और वे उस संकट से बचने के लिये अपने अपने देवताओं का आराधन करते थे। बस यहीं से नाटक के मूल गीतों और गीति-काव्यों का आरंभ हुआ, जिसने आगे चल-कर नाटक की सृष्टि और उसका विकास किया।) जब इस प्रकार बहुत दिनों तक आराधना करने और नाचने गाने पर भी वे उन ऋतुओं तथा दूसरी नैसर्गिक घटनाओं में किसी प्रकार की बाधा न डाल सके, तब उन्होंने स्वभावतः समझ लिया कि इन सब बातों का संबंध किसी और गूढ़ कारण अथवा बड़ी शक्ति के साथ है। वही शक्ति किसी निश्चित नियम के अनुसार ऋतुओं आदि में परिवर्तन करती तथा दूसरी घटनाएँ संघटित

नाटकों का आरंभ

करती है। तब उन लोगों ने अपने नृत्य-गीत आदि का उद्देश्य बदल दिया और वे अपने बाल-बच्चों की प्राण-रक्षा या धन-धान्य आदि की वृद्धि के उद्देश्य से अनेक प्रकार के धार्मिक उत्सव करने लगे। पर इन धार्मिक उत्सवों में भी नृत्य-गीत आदि की ही प्रधानता होती थी। यही कारण है कि संसार की प्रायः सभी प्राचीन जातियों में धन-धान्य की वृद्धि के लिये अनेक प्रकार के उत्सव आदि प्रचलित थे। यूनान के एल्यूसिस नामक स्थान में सायन तुला के समय एक बहुत बड़ा उत्सव हुआ करता था जिसमें धान्य की देवी डेमिटर की पूजा होती थी। उस अवसर पर कुछ थोड़ा सा धार्मिक अभिनय भी हुआ करता था, जिसकी मुख्य पात्री डेमिटर देवी की पुजारिन हुआ करती थी। इसी प्रकार चीन के मंदिरों में भी सफल हो जाने के अनंतर धार्मिक उत्सव हुआ करते थे जिनमें अच्छी फसल होने के उपलक्ष में देवताओं का गुणानुवाद होता था और साथ ही अभिनय आदि भी होते थे। जिस देवता के मंदिर में उत्सव हुआ करता था, प्रायः उसी देवता के जीवन की घटनाओं को लेकर अभिनय भी किए जाते थे। भिन्न भिन्न स्थानों के देवता भिन्न भिन्न हुआ करते थे। उन देवताओं में से कुछ तो कल्पित होते थे और कुछ ऐसे वीर पूर्वज होते थे, जिनमें देवता की कल्पना कर ली जाती थी। ऐसी दशा में उन देवताओं के जीवन में से नाटक या अभिनय की यथेष्ट सामग्री निकल आती थी। इसी प्रकार के उत्सव और अभिनय, बर्मा और जापान आदि

में भी हुआ करते थे। फसल हो चुकने पर तो ऐसे उत्सव और अभिनय होते ही थे, पर कहीं कहीं फसल बोने के समय भी इसी प्रकार के उत्सव और अभिनय हुआ करते थे। उन उत्सवों पर देवताओं से इस बात की प्रार्थना की जाती थी कि खेतों में यथेष्ट धन-धान्य उत्पन्न हो। भारत में तो अब भी फसलों के संबंध में अनेक प्रकार के पूजन और उत्सव आदि प्रचलित हैं, जिनमें से होली का त्योहार मुख्य है। यह त्योहार गेहूँ आदि की फसल हो जाने पर होता है और उसी से संबंध रखता है। होली के अवसर पर इस देश में भी नृत्य गीत आदि के साथ साथ अनेक प्रकार के स्वाँग निकलते हैं, जो वास्तव में नाटक के पूर्व रूप ही हैं। यद्यपि आज कल यह उत्सव अश्लीलता के संयोग से बिलकुल भ्रष्ट हो गया है, पर इससे हमारे कथन की पुष्टि में कोई बाधा नहीं होती।

वीर-पूजा

प्राचीन काल में जिस प्रकार धन-धान्य आदि के लिये देवताओं का पूजन होता था, उसी प्रकार पूर्वजों और बड़े बड़े ऐतिहासिक पुरुषों का भी पूजन होता था। उन पूर्वजों और ऐतिहासिक पुरुषों के भी उत्सव होते थे, जिनमें धन-धान्य के लिये उनसे प्रार्थना की जाती थी, अथवा उसके लिये उनका गुणानुवाद किया जाता था; और जब नया धान्य तैयार हो जाता था, तब उनको उसका भोग लगाया जाता था। और और देशों में तो पूर्वजों की केवल मूर्तियाँ बनाकर ही मंदिरों में स्थापित कर दी जाती थीं, पर मिस्र और पेरू में

स्वयं मृत शरीर ही रक्षित रखे जाते थे। प्रायः उन्हीं पूर्वजों का पूजन करके लोग उनके जीवन की घटनाओं का अभिनय किया करते थे और इस प्रकार मनोविनोद के साथ ही साथ उनकी स्मृति भी बनाये रखते थे। बहुधा ऐसे उत्सव बड़े बड़े वीरों और योद्धाओं के उद्देश्य से ही और उन्हीं के संबंध में हुआ करते थे। यह वीर-पूजा सभी प्राचीन जातियों में प्रचलित थी और अब भी अनेक जातियों में प्रचलित है। हमारे देश में वह कृष्ण-लीला और राम-लीला आदि के रूप में अब भी वर्तमान है। ये लीलाएँ साधारण स्वाँगों का परिवर्तित और विकसित रूप हैं और इनमें भी नाटकों की सृष्टि का रहस्य भरा हुआ है।

हम ऊपर कह आए हैं कि हमारे यहाँ का नाटक शब्द संस्कृत की नट् धातु से निकला है, जिसका अर्थ नाचना है। संसार की भिन्न भिन्न जातियों के नाटकों का प्राचीन इतिहास भी यही बतलाता है कि नाटक की सृष्टि वास्तव में नृत्य से, और उसके साथ ही साथ संगीत से भी, हुई है। मनुष्य जब बहुत प्रसन्न होता है, तब नाचने और गाने लगता है। जब हम किसी की बहुत अधिक प्रसन्नता सूचित करना चाहते हैं, तब हम कहते हैं कि वह मारे खुशी के नाच उठा। दूसरों के आदर-सत्कार और प्रसन्नता के लिये भी उसके सामने नाचने और गाने की प्रथा बहुत पुरानी है। हमारे यहाँ पार्वती के सामने शिव का और व्रज की गोपियों के साथ कृष्ण का नृत्य बहुत प्रसिद्ध है। कहते हैं कि हजरत दाऊद भी ईसा मसीह के

सामने नाचे थे। किसी माननीय और प्रतिष्ठित अभ्यागत के आदर के लिये नृत्य-गीत का आयोजन करने की प्रथा अब भी सभ्य और असभ्य सभी जातियों में प्रचलित है। प्राचीन काल में जब योद्धा लोग विजय प्राप्त करके लौटते थे, तब वे स्वयं भी नाचते-गाते थे और उनका सत्कार करने के लिये नगर-निवासी भी उनके सामने आकर नाचते-गाते थे। कभी कभी ऐसा भी होता था कि युद्ध-क्षेत्र में वीर और योद्धा लोग जो कृत्य करके आते थे, उन कृत्यों का अभिनय भी नृत्य-गीत के उन उत्सवों के समय हुआ करता था। मृतकों और विशेषतः वीर मृतकों के उद्देश्य से नाचने की प्रथा बरमा, चीन, जापान आदि अनेक देशों में प्रचलित थी। जो योद्धा देश, जाति अथवा धर्म के लिये अनेक प्रकार के कष्ट सहकर प्राण देते थे, उनकी स्मृति बनाए रखने का उन दिनों यही एक साधन माना जाता था। उक्त देशों के नाटकों का आरंभ इन्हीं नृत्यों से हुआ है; क्योंकि उन देशों के निवासी उस नृत्य के समय तरह तरह के चेहरे लगाकर स्वाँग बनते थे और उन वीर मृतकों के वीरतापूर्ण कृत्यों का अभिनय करते थे। उन नृत्यों में कहीं कहीं, जैसे जापान और जावा आदि देशों में, कुछ कथोपकथन भी होते थे, जिनसे उनको एक प्रकार से नाटक का ही रूप प्राप्त हो जाता था। जापान में तो आज तक इस प्रकार के नृत्य प्रचलित हैं। आज-कल भी जापान में जो नृत्य होता है, वह किसी न किसी ऐतिहासिक घटना अथवा

कथानक से ही संबंध रखता है। ऐसे नृत्य प्रायः बड़े बड़े देव-मंदिरों में होते हैं, जिनमें उन मंदिरों के पुजारी भी अभिनय करते हैं। अभिनय के समय पात्र चेहरे लगाकर स्वाँग भी बनते हैं। तात्पर्य यह कि जापान और दूसरे अनेक देशों के नाटकों की सृष्टि इसी प्रकार के नृत्यों से हुई है। जापानी भाषा में ऐसे नाटकों को "नो" कहते हैं, जिसका अर्थ है दुःखांत अथवा वियोगांत नाटक। दक्षिण अमेरिका के पेरू, बोलीविया और ब्रेजिल आदि देशों में अब तक इसी प्रकार के नृत्य होते हैं, जिनके पात्र चेहरे लगाकर मृत पुरुषों का अभिनय करते हैं। उनके कथोपकथन भी उन्हीं मृत आत्माओं की जीवन-संबंधी घटनाओं से संबद्ध होते हैं। एलास्का प्रदेश के जंगली एस्किमो भी प्रति वर्ष इसी प्रकार का नृत्य और अभिनय करते हैं, जिनमें पात्रों को पशुओं आदि के चेहरे लगाने पड़ते हैं। ये नृत्य इस उद्देश्य से होते हैं कि मृतकों की आत्माएँ प्रसन्न हों और वर्ष भर खूब शिकार मिले। पश्चिमी अफ्रिका के बेल्जियन कांगो आदि कुछ प्रदेशों की जंगली जातियों में तो इस प्रकार के नृत्य और अभिनय इतने अधिक प्रचलित हैं कि उनके धर्माचार्यों आदि का व्यवसाय नाट्य ही रह गया है। नृत्य ही नाटक का मूल है, इस बात का एक अच्छा प्रमाण कंबोडिया की राजकीय रंगशाला भी है, जिसका नाम "रंग-रम" है और जिसका अर्थ इस देश की भाषा में नृत्यशाला है। यहाँ हम प्रसंगवश यह भी बतला देना चाहते

हैं कि कंबोडिया की रंगशालाओं में रामायण का भी अभिनय होता है। कंबोडिया में रामायण का बहुत अधिक आदर है। वहाँ के अन्यान्य नाटकों में तो अभिनय और गाने-नाचने आदि का सारा काम स्त्रियाँ ही करती हैं, पर रामायण के अभिनय में केवल पुरुष ही पात्र रहते हैं; उनमें कोई स्त्री सम्मिलित नहीं होने पाती।

यह तो हुई नाटक की ठेठ उत्पत्ति और विकास की बात। अब हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते हैं कि संसार के भिन्न भिन्न देशों में उनके नाट्य साहित्य की सृष्टि कब और कैसे हुई। यह तो एक स्वतः-सिद्ध बात है कि नाटकों की उत्पत्ति गीतों अथवा गीति-काव्यों और कथोपकथन से हुई। अब यदि हमें यह मालूम हो जाय कि इन गीति-काव्यों और कथोपकथन का आरंभ सबसे पहले किस देश में हुआ, तो हमें अनायास ही इस बात का प्रमाण मिल जायगा कि संसार के किस देश में सब से पहले नाटकों की सृष्टि हुई। इस दृष्टि से देखते हुए केवल हमें ही नहीं, बल्कि संसार के अनेक बड़े बड़े विद्वानों को विवश होकर यह मानना पड़ता है कि भारतवर्ष जहाँ और अनेक बातों में आविष्कर्ता और पथ-प्रदर्शक था, वहाँ नाटकों, गीति-काव्यों और कथोपकथन संबंध साहित्य उत्पन्न करने में भी वह प्रथम और अग्रगामी था। संसार का सब से प्राचीन साहित्य हमारे यहाँ के वेद हैं और उन

भारतीय नाट्य साहित्य की सृष्टि

वेदों में भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा प्राचीन ऋग्वेद है। सारा ऋग्वेद ऐसे ही मंत्रों से भरा पड़ा है जिनमें इंद्र, सूर्य, अग्नि, उषः, मरुत् आदि देवताओं से अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ की गई हैं। इन प्रार्थना-मंत्रों की गणना साहित्य की दृष्टि से गीति-काव्यों में की जाती है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में विश्वामित्र, वशिष्ठ, सुदास आदि अनेक ऋषियों और राजाओं आदि के यशोगान भी हैं जो महाकाव्यों के मूल हैं और जिनमें महाकाव्यों की सामग्री भरी है। साथ ही ऋग्वेद में सरमा और पणिस, यम और यमी, पुरूरवा और उर्वशी आदि के गीतों में कुछ कथोपकथन या संवाद आदि भी हैं। इस प्रकार नाटक के तीनों मूल अर्थात् गीति-काव्य, आख्यान और कथोपकथन या संवाद संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद में वर्तमान हैं। इसी आधार पर मेक्डानल, कीथ आदि विद्वानों ने यह स्थिर किया है कि संसार में सबसे पहले नाटकों का आरंभ भारतवर्ष में ही हुआ। मैक्समूलर, पिशल, लेवी आदि का भी यही मत है। पर रिजवे ने नाटकों और नृत्यों के संबंध में जो पुस्तक लिखी है, उसमें इस मत का केवल इसी आधार पर खंडन किया है कि नृत्य-गीत और संवाद आदि के रहते हुए भी जब तक किसी के कृत्यों का अभिनय या नकल न हो, तब तक यथार्थ नाटक की सृष्टि नहीं होती। रिजवे का यह कथन युक्तियुक्त है, पर उसने केवल पक्षपातवश ही यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि जो लोग, स्वयं उसी के कथनानुसार, नृत्य और गीत आदि के बड़े

प्रेमी और प्रधान आविष्कर्ता थे और जिन्होंने कथोपकथन या संवाद तक को अपने साहित्य में स्थान दिया था, वे केवल अभिनय को किस प्रकार छोड़ सकते थे। जहाँ तक सम्भव था, वहाँ तक खींच-तान करके रिजवे ने अपनी ओर से यह सिद्ध करना चाहा है कि भारत में नाटकों की सृष्टि बहुत पीछे हुई है। पर फिर भी उन्होंने भारतीय नाटकों की सृष्टि का कोई समय निर्धारित नहीं किया है; और अन्त में एक प्रकार से यह बात भी मान ली है कि पाणिनि और पतंजलि के समय तक भारत में नाटकों का यथेष्ट विकास हो चुका था। अब विचारवान् पाठक स्वयं ही सोच सकते हैं कि नाटक सरीखे गूढ़ और गहन विषय का पूर्ण विकास होने में, और वह भी पाणिनि-काल से पहले, कितना समय लगा होगा; और जिस नाटक का पाणिनि के समय में पूर्ण विकास हो चुका था, भारत में उसका आरंभ या बीजारोपण कितने दिनों पहले हुआ होगा। स्वयं रिजवे ने ही अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि भारत की अनेक बातों के संबंध में लिखित प्रमाण नहीं मिलते। ऐसी दशा में ऋग्वेद के अनेक मंत्रों, सवादों और आख्यानों तथा दूसरे प्रमाणों से, जिनका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे, यह माना जा सकता है कि भारत में नाटक का सूत्रपात ऋग्वेद काल के कुछ ही पीछे, पर लगभग वैदिक काल में ही, हो गया था।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, भारतवर्ष के नाटकों

का बिलकुल पूर्व और प्रारंभिक रूप ऋग्वेद में प्रार्थना-मंत्रों और संवादों के रूप में मिलता है। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारत में अभिनय ने अपना पूर्ण रूप किस समय धारण किया, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि पाणिनी से कई हजार वर्ष पहले इस देश में नाटकों का पूर्ण रूप से प्रचार हो चुका था और अनेक अच्छे अच्छे नाटक बन भी चुके थे; क्योंकि पाणिनि ने अपने व्याकरण में नाट्य-शास्त्र के शिलालिन् और कृशाश्व इन दो आचार्यों के नाम दिए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पाणिनि के समय तक इस देश के नाटक इतनी उन्नत अवस्था को पहुँच गए थे कि उनके लक्षण-ग्रंथ तक बन चुके थे। नाट्य कला की बिलकुल आदिम अवस्था में अन्यान्य देशों की भाँति इस देश के नट भी केवल नाचते और गाते ही रहे होंगे, परंतु शिलालिन् और कृशाश्व के समय में नाटक अपनी पूर्ण उन्नतावस्था को पहुँच चुके थे; अर्थात् उस समय तक इस देश में नाचने और गाने के अतिरक्त नाटकों में संवाद, भाव-भंगी और वेष-भूषा आदि का भी पूर्ण रूप से समावेश हो चुका था और सर्वांगपूर्ण अभिनय होने लग गए थे। पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या करते हुए पतंजलि अपने महाभाष्य में लिखते हैं कि रंगशालाओं में अभिनय होते थे और दर्शक लोग वे अभिनय देखने के लिये जाया करते थे। उन दिनों कंस-वध और बलिबंध आदि तक के अभिनय होने लग गए

थे। इससे सिद्ध होता है कि ईसा के सैकड़ों हजारों वर्ष पहले इस देश में नाटकों का पूर्ण प्रचार हो चुका था। हरिवंश पुराण महाभारत के थोड़े ही दिनों पीछे का बना है। उसमें लिखा है कि वज्रनाभ के नगर में कौवेरंभाभिसार नाटक खेला गया था, जिसकी रंगभूमि में कैलास पर्वत का दृश्य दिखाया गया था। महावीर स्वामी के लगभग दो सवा दो सौ वर्ष पीछे भद्रबाहु स्वामी हुए थे जिन्होंने कल्पसूत्र के अपने विवेचन में जड़वृत्ति के साधुओं का उल्लेख करते हुए एक साधु की कथा दी है। एक बार एक साधु कहीं से बहुत देर करके आया। गुरु के पूछने पर उसने कहा कि मार्ग में नटों का नाटक हो रहा था: वही देखने के लिये मैं ठहर गया। गुरु ने कहा कि साधुओं को नटों के नाटक आदि नहीं देखने चाहिएँ। कुछ दिनों पीछे उस साधु को एक बार फिर अपने आश्रम में आने में विलंब हो गया। इस बार गुरु के पूछने पर उसने कहा कि एक स्थान पर नटियों का नाटक हो रहा था; मैं वही देखने लग गया था। गुरु ने कहा कि तुम बड़े जड़-बुद्धि हो। तुम्हें इतनी भी समझ नहीं कि जिसे नटों का नाटक देखने के लिये निषेध किया जाय, उसके लिये नटियों का नाटक देखना भी निषिद्ध है। इन सब बातों के उल्लेख से हमारा यही तात्पर्य है कि आज से लगभग ढाई तीन हज़ार वर्ष पहले भी इस देश में ऐसे ऐसे नाटक होते थे जिन्हें सर्वसाधारण बहुत सहज में और प्रायः देखा करते थे। कौवेरंभाभिसार सरीखे नाटकों का अभिनय

करना, जिनमें कैलास के दृश्य दिखाए जाते हों और ऐसी रंग-शालाएँ बनाना जिनमें राजा रथ पर आते और आकाश मार्ग से जाते हों (दे० "विक्रमोर्वशी") सहज नहीं है। नाट्य-कला को उन्नति की इस सीमा तक पहुँचने में सैकड़ों हजारों वर्ष लगे होंगे। कौवेरंभाभिसार के संबंध में हरिवंश पुराण में लिखा है कि उसमें प्रद्युम्न ने नलकूबर का, शूर ने रावण का, सांब ने विदूषक का, गद ने पारिपार्श्वक का और मनोवती ने रंभा का रूप धारण किया था; और सारे नाटक का अभिनय इतनी उत्तमता के साथ किया गया था कि उसे देखकर वज्र-नाभ आदि दानव बहुत ही प्रसन्न हुए थे। यदि इस कथा को बिलकुल सच्च मान लिया जाय, तब तो यही सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण के समय में भी भारत में अच्छे अच्छे नाटकों का अभिनय होता था।

भारतवर्ष में नाट्य-शास्त्र के प्रधान आचार्य भरत मुनि माने जाते हैं। नाट्य-शास्त्र संबंधी उनका सूत्रबद्ध ग्रंथ इस समय भी लोगों को उपलब्ध है। यद्यपि उन्होंने अपने ग्रंथ में शिलालिन् और कृशाश्व का उल्लेख नहीं किया है, तथापि उस ग्रंथ से यह अवश्य सूचित होता है कि उनसे भी पहले नाट्य-शास्त्र संबंधी अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके थे। भरत ने अपने सूत्रों को जितना सर्वांगपूर्ण बनाया है और उनमें जितनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का विवेचन किया है, उससे यही सिद्ध होता है कि भरत से पहले इस देश में अनेक नाटक बन चुके थे और साथ ही

नाट्य-शास्त्र के कुछ लक्षण ग्रंथ भी बन चुके थे। भरत ने उन्हीं नाटकों और लक्षण-ग्रंथों का भली भाँति अध्ययन करके और उनके गुण-दोषों का विवेचन करके अपना ग्रंथ बनाया था।

अब हम नाटकों के संबंध में एक और बात का विवेचन करना चाहते हैं जिससे नाटकों की प्राचीनता और उनके प्रारंभिक रूप पर विशेष प्रकाश पड़ने की संभावना है।

कठपुतली का नाच

पाठकों में से बहुतों ने कठपुतली का नाच देखा होगा। संस्कृत में कठपुतली के लिये पुत्रिका, पुत्तली और पुत्तलिका आदि शब्दों का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ होता है—छोटी बालिका। लैटिन भाषा में कठपुतली के लिये 'प्यूपा' अथवा 'प्यूपुला' आदि जो शब्द हैं, उनका भी यही अर्थ है। यह कठपुतली का नाच हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। प्राचीन भारत में ऊन, काठ, सींग और हाथी-दाँत आदि की बहुत अच्छी पुतलियाँ बनती थीं। कहते हैं, पार्वती ने एक बहुत सुंदर पुतली बनाई थी। उस पुतली को वे शिवजी से छिपाना चाहती थीं, इसलिये उन्होंने उसे मलय पर्वत पर ले जाकर रखा था। पर उसे देखने और उसका शृंगार करने के लिये वे नित्य मलय पर्वत पर जाती थीं, जिससे शिवजी को कुछ संदेह हुआ। एक दिन शिवजी भी छिपकर पार्वती के पीछे पीछे मलय पर्वत पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने पार्वतीजी की वह पुतली देखी। वह पुतली सजीव न होने पर भी बिलकुल सजीव जान पडती थी। अतः शिवजी ने

प्रसन्न होकर उस पुतली को सजीव कर दिया था। महाभारत में भी कठपुतलियों का उल्लेख है। जिस समय कौरवों से युद्ध करने के लिये अर्जुन जा रहे थे, उस समय उत्तरा ने उनसे कहा था कि मेरे लिये अच्छी अच्छी पुतलियाँ या गुड़ियाँ लेते आना। कथा-सरित्सागर में एक स्थान पर लिखा है कि असुर मय की कन्या सोमप्रभा ने अपने पिता की बनाई हुई बहुत सी कठपुतलियाँ रानी कलिंगसेना को दी थीं। उनमें से एक कठपुतली ऐसी थी जो खूँटी दबाते ही हवा में उड़ने लगती थी और कुछ दूर पर रखी हुई छोटी मोटी चीजें तक उठा लाती थी। उनमें से एक पुतली पानी भरती थी, एक नाचती थी और एक बात-चीत करती थी। उन पुतलियों को देख-कर कलिंगसेना इतनी मोहित हो गई थी कि वह दिन-रात उन्हीं के साथ खेला करती थी और खाना-पीना तक छोड़ बैठी थी। यह तो सभी लोग जानते हैं कि कथा-सरित्सागर का मूल गुणाढ्य कृत बृहत्कथा है, जो बहुत प्राचीन काल में पैशाची में लिखी गई थी; पर यह बृहत्कथा अब कहीं नहीं मिलती। हमारे कहने का तात्पर्य केवल यही है कि गुणाढ्य के समय में भी भारत में ऐसी अच्छी अच्छी कठपुतलियाँ बनती थीं जो अनेक प्रकार के कठिन कार्य करने के अतिरिक्त मनुष्यों की भाँति बात-चीत तक करती थीं। ये कठपुतलियाँ कोरी कवि-कल्पना कदापि नहीं हो सकतीं। कथाकोष में लिखा है कि राजा सुन्दर ने अपने पुत्र अमरचंद्र के विवाह में

कठपुतलियों का नाच कराया था। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि बहुत प्राचीन काल में ही भारत में कठपुतलियों का नाच बहुत उन्नत दशा को पहुँच चुका था। राजशेखर ने दसवीं शताब्दी के आरंभ में जो बालरामायण नाटक लिखा था, उसके पाँचवें अंक में भी कठपुतलियों का उल्लेख है। उसमें लिखा है कि असुर मय के प्रधान शिष्य विशारद ने दो कठपुतलियाँ बनाई थीं, जिनमें से एक सीता की और दूसरी सिंदूरिका की प्रतिकृति थी। ये दोनों कठपुतलियाँ संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाएँ बहुत अच्छी तरह बोल सकती थीं। उन दोनों का पारस्परिक वार्त्तालाप इतना स्पष्ट और सुंदर था कि रावण ने उन कठपुतलियों को ही सीता और सिंदूरिका समझ लिया था। उसे अपनी भूल उस समय मालूम हुई जब उसने सीता की प्रतिकृति को गले से लगाया। राजशेखर के इस उल्लेख से कम से कम इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि दसवीं शताब्दी में भारत की रंगशालाओं में साधारण नाटकों के अतिरिक्त कठपुतलियों तक का प्रवेश कराया जाता था।

सूत्रधार और स्थापक

संस्कृत के सभी और हिंदी के भी प्रायः नाटकों में सबसे पहले सूत्रधार का प्रवेश होता है। यह सूत्रधार मानों रंगशाला का व्यवस्थापक और स्वामी होता है। यह सबसे पहले रंगशाला में आकर कोई प्रार्थना-गीत गाता है और तब किसी न किसी रूप में दर्शकों को नाटक के नाम, कर्ता और विषय आदि का परिचय कराता है। यह

नाटक का एक प्रकार का परिचय और प्राक्कथन होता है। प्राचीन काल में यह परिचय बहुत बड़ा होता था; पर ज्यों ज्यों नाट्य-कला में उन्नति होती गई और अभिनय की प्रधानता बढ़ती गई, त्यों त्यों सूत्रधार का वह परिचय कम होता गया। बहुत प्राचीन नाटकों में सूत्रधार के उपरांत रंगमंच पर एक और व्यक्ति का प्रवेश होता था जो बिलकुल सूत्रधार के ही वेष में रहता था। ऐसे नाटकों में सूत्रधार केवल मंगलाचरण और कुछ गीत गाकर ही चला जाता था और नाटक के नाम, कर्त्ता और विषय आदि का परिचय यह स्थापक दिया करता था। धीरे धीरे नाटक से इस पुराने स्थापक का लोप हो गया और उसका काम भी केवल सूत्रधार ही करने लग गया। नाटकों के ये सूत्रधार और स्थापक शब्द भी हमारे नाटकों की प्राचीनता और उत्पत्ति से बहुत कुछ संबंध रखते हैं। जान पड़ता है कि भारत में सबसे पहले कठपुतलियों का नाच आरंभ हुआ। उन पुतलियों को रंगमंच पर यथा-स्थान रखने या सजानेवाला स्थापक कहलता था; और जो व्यक्ति उन कठपुतलियों के धागे हाथ में पकड़कर उनको नचाता था, वह सूत्रधार कहलाता था। पीछे से इन्हीं सूत्रधार और स्थापक ने मिलकर ऐसी योजना की कि कठपुतलियों के स्थान पर नटों को रखा; और नाटक के नाच-गाने तथा संवाद आदि का काम उन नटों से लिया जाने लगा। परंतु सूत्रधार और स्थापक वही कठपुतलियों के नाचवाले थे। आगे चलकर जब

नाटकों और रंगशालाओं की यथेष्ट उन्नति हुई, तब रंगमंच पर सजीव नटों के आ जाने के कारण स्थापक की कोई आवश्यकता न रह गई और केवल सूत्रधार ही रह गया, जो नाटक और रंगशाला का प्रधान व्यवस्थापक था और जिसका रहना परम आवश्यक तथा अनिवार्य था। पीछे से कठपुतलियों के स्थान पर जो नाचने-गानेवाले रखे गए थे, उनका नट कहलाना भी स्वाभाविक ही था। कठपुतलियों के नाच और नाटक में कितना अधिक संबंध है, इसका प्रमाण इस बात से भी मिल सकता है कि आजकल भी चीन में नाटक से पहले कठपुतलियों का नाच होता है।

आगे चलकर हमारे यहाँ के नाटकों ने एक और उन्नति की थी। हमारे यहाँ छाया-नाटकों का भी प्रचार हुआ था। वे

छाया-नाटक

छाया-नाटक संभवतः आज-कल के सिनेमा के मानों मूल रूप थे। उनमें चमड़े की कठपुतलियाँ बनाकर प्रकाश के आगे साधारण कठपुतलियों की तरह नचाते थे और उनकी छाया आगे पड़े हुए परदे पर पड़ती थी। दर्शक लोग परदे पर पड़नेवाली उसी छाया के रूप में नाटक देखते थे। इस प्रकार छोटी छोटी पुतलियों की सहायता से परदे पर सजीव मनुष्यों की आकृतियाँ दिखाई जाती थीं। ऐसे छाया-अभिनयों के लिये नाटक भी अलग बनते थे, जिनके मुख्य आधार प्रायः रामायण और महाभारत के आख्यान आदि हुआ करते थे। ऐसे नाटकों में सुभट-कृत दूतांगद,

भवभूति-कृत महावीरचरित, राजशेखर-कृत बालरामायण और जयदेव-कृत प्रसन्नराघव आदि नाटक मुख्य हैं। भारत में, और विशेषतः दक्षिण भारत में, ऐसे नाटकों का अभिनय सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी तक होता था। जावा द्वीप में ऐसे छाया-नाटकों का प्रचार, बहुत दिनों पहले, भारत की देखा-देखी ही हुआ था। डा० पिशल का तो यहाँ तक कहना है कि मध्य युग में युरोप में कठपुतलियों आदि का जो नाच हुआ करता था, वह भी भारत का ही अनुकरण था। उनका यह भी मत है कि जर्मन तथा अँगरेजी नाटकों में जो क्लाउन या मसखरे होते हैं, वे भी भारतीय नाटकों के विदूषकों के अनुकरण पर ही रखे गए हैं: क्योंकि विदूषकों की सबसे अधिक प्रधानता, और वह भी बहुत प्राचीन काल से, केवल भारतीय नाटकों में ही पाई जाती है। अस्तु: अब हम संक्षेप में भारतीय नाट्य-कला के संबंध की कुछ मुख्य बातें दे देना चाहते हैं।

यों तो भारत में नाट्य-कला का प्रचार बहुत प्राचीन काल से है, जिसका कुछ उल्लेख ऊपर हो चुका है, पर अभी तक उसके प्राचीन इतिहास का कोई ठीक और क्रमबद्ध इतिहास नहीं बताया जा सकता। उसका क्रमबद्ध इतिहास प्रायः प्रसिद्ध भरत मुनि के समय से ही मिलता है। पर यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भरत मुनि ने जो नाट्य-शास्त्र लिखा है, वह

भारतीय नाट्य शास्त्र का विकास

नाटक का लक्षण-ग्रंथ है और वह भी कई लक्षण-ग्रंथों के अनंतर लिखा गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि नाटक-संबंधी लक्षण-ग्रंथ उसी समय लिखे गए होंगे, जब देश में नाटकों और नाट्य-कला का पूर्ण प्रचार हो चुका होगा; क्योंकि बिना अनेक नाटकों को रंगमंच पर देखे अथवा पढ़े उनके गुण-दोषों का विवेचन हो ही नहीं सकता था और न उनके संबंध में लक्षण-ग्रंथ ही बन सकते थे। भरत को कालिदास तक ने आचार्य और माननीय माना है। अनेक प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि भरत का समय ईसा से कम से कम तीन चार सौ वर्ष पहले का तो अवश्य ही है, इससे और पहले चाहे जितना हो। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में नाटकों और रंगशालाओं का जो वर्णन मिलता है, उससे भी यही सिद्ध होता है कि उस समय इस देश में नाटकों का पूर्ण प्रचार था और बहुत से लोग नट का काम करते थे। अर्थ-शास्त्र का समय भी ईसा से कम से कम तीन सौ वर्ष पहले का है। प्रायः उसी समय के लगभग भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र की भी रचना की थी। नाट्य-शास्त्र के आरंभ में कहा गया है कि एक बार वैवस्वत मनु के दूसरे युग में लोग बहुत दुःखी हुए। इस पर इंद्र तथा दूसरे देवताओं ने जाकर ब्रह्मा से प्रार्थना की कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए, जिससे शूद्रों तक का चित्त प्रसन्न हो सके। इस पर ब्रह्मा ने चारों वेदों को बुलाया और उन चारों की सहायता से नाट्य-शास्त्र

रूप पाँचवें वेद की रचना की। इस नए वेद के लिए ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लिए गए थे। इस कथा का और चाहे कोई अर्थ हो या न हो, पर इतना अर्थ अवश्य है कि नाट्य-शास्त्र की चारों बातें चारों वेदों से ली गई हैं। साथ ही इससे यह भी सिद्ध होता है कि नाटक का ऋग्वेद के संवादों या आख्यानों के साथ भी कुछ संबंध अवश्य है।

भरत-कृत नाट्य-शास्त्र के दूसरे अध्याय में यह बतलाया गया है कि रंगशालाएँ, जिनको उन दिनों में प्रेक्षगृह कहते थे, कितने प्रकार की होती थीं और किस प्रकार बनाई जाती थीं। नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाट्यशालाएँ या प्रेक्षगृह तीन प्रकार के होते थे—विकृष्ट, चतुरश्र और त्र्यश्र। तीनों प्रकार के प्रेक्षगृहों का यहाँ संक्षेप में कुछ वर्णन दे देना आवश्यक और उपयोगी जान पड़ता है; क्योंकि इससे इस बात का पता चल सकता है कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले भी भारतवर्ष में नाट्य-शास्त्र की कितनी अधिक उन्नति हो चुकी थी।

भारतीय रंगशाला

नाट्य-शास्त्र में लिखा है कि विकृष्ट प्रेक्षगृह सबसे अच्छा होता है और वह देवताओं के लिये है। उसकी लंबाई १०८ हाथ होती है। दूसरा चतुरश्र मध्यम श्रेणी का होता है और उसकी लंबाई ६४ हाथ तथा चौड़ाई ३२ हाथ होती है। तीसरा त्र्यश्र बिलकुल त्रिकोण या त्रिभुजाकार होता है और यह निकृष्ट

माना जाता है। चतुरस्र राजाओं, धनवानों तथा सर्व साधारण के लिये होता है और त्र्यस्र में केवल आपस के थोड़े से मित्र या परिचित ही बैठकर अभिनय देखते हैं। सभी प्रकार के प्रेक्षगृहों का आधा स्थान तो दर्शकों के लिये और आधा अभिनय और नटों आदि के लिये नियत रहता है। रंगमंच का सबसे पिछला भाग रंगशीर्ष कहलाता है जो ६ खंभों पर बना होता है और जिसमें नाट्यवेद के देवता ब्रह्मा का पूजन होता है। इसमें से नेपथ्यगृह में जाने के लिये दो द्वार होते हैं। रंगमंच के खंभों और दीवारों आदि पर बहुत अच्छी नक्काशी और चित्रकारी होनी चाहिए और स्थान स्थान पर वायु तथा प्रकाश आने के लिये झरोखे होने चाहिएँ। रंगमंच ऐसा होना चाहिए जिसमें आवाज अच्छी तरह गूँज सके। वह दो खंडों का भी होता है। ऊपरवाले खंड में स्वर्ग आदि के दृश्य दिखलाए जाते हैं। रंगमंच के खंभों पर नक्काशी के साथ पशुओं, पक्षियों आदि के चित्र खुदे होने चाहिएँ और भीतों पर पहाड़ों, जंगलों, नदियों, मंदिरों, अट्टालिकाओं आदि के सुंदर चित्र बने होने चाहिएँ। भिन्न भिन्न वर्णों के दर्शकों के लिये भिन्न भिन्न स्थान होने चाहिएँ। ब्राह्मणों के बैठने का स्थान सबसे आगे होना चाहिए और संकेत के लिये वहाँ सफेद रंग के खंभे होने चाहिएँ। उनके पीछे क्षत्रियों के बैठने का स्थान हो, जिसके खंभे लाल हों। उनके पीछे उत्तर-पश्चिम में वैश्यों के लिये और उत्तर-पूर्व में शूद्रों के लिये स्थान हो; और इन दोनों स्थानों के खंभे

क्रमशः पीले और नीले हों। थोड़ा सा स्थान अन्य जातियों के लिये भी रक्षित रहना चाहिए। यदि अधिक स्थान की आवश्यकता हो तो ऊपर दूसरा खंड भी बना लेना चाहिए।

नाट्य-शास्त्र में यह भी बतलाया गया है कि नाटक का आरंभ किस प्रकार होना चाहिए। नाटक आरंभ होने से पहले नटों और सूत्रधार आदि को जो क्रियाएँ करनी पड़ती हैं, वे सब पूर्वरंग कहलाती हैं। पूर्वरंग में वाद्य आदि यथा-स्थान रखे जाते हैं, स्वर आदि ठीक करने के लिये सब वाद्य मिलाए जाते हैं, गायक लोग अपने स्थान पर खड़े किए जाते हैं, और कुछ समय तक केवल वाद्य बजने के उपरांत उनके साथ कुछ गान होता है। ये सब कृत्य नेपथ्य में होते हैं, दर्शकों के सामने नहीं होते। इन सब कृत्यों के उपरांत दो आदमियों के साथ हाथ में पुष्प लिए हुए सूत्रधार आता है और ब्रह्मा तथा दसों दिग्पालों का पूजन करता है। तदुपरांत नांदी आकर नांदीपाठ करता है; और तब प्ररोचन होता है, जिसमें दर्शकों से नाटक को ध्यानपूर्वक देखने की प्रार्थना की जाती है और उनको संक्षेप में नाटक का विषय बतलाया जाता है। इसके उपरांत स्थापक आता है जो कुछ विशिष्ट कृत्यों के उपरांत नाटक आरंभ करता है। इस बीच में वाद्य बराबर बजते रहते हैं।

भारतीय नाट्य-कला की कुछ बातें

आगे चलकर नाट्य-शास्त्र में यह बतलाया गया है कि नट कैसे होने चाहिएँ और उनमें किन किन गुणों के होने को आ-

वश्यकता है; भिन्न भिन्न अवसरों पर उनके वस्त्र और वेष-भूषा आदि कैसी होनी चाहिए, नाटक कैसे और कितने प्रकार के होते हैं, वाद्यों के कितने भेद और प्रकार आदि हैं, उसमें यह भी बतलाया गया है कि किरात, बर्बर, अंध्र, द्रविड, पुलिंद, काशी, कोशल और दाक्षिणात्य आदि जातियों के पात्रों का अभिनय करनेवाले नटों का रंग काला कर देना चाहिए; शकों, यवनों और वाह्लीकों आदि का अभिनय करनेवाले नटों का रंग सफेद करना चाहिए; आदि आदि। दाक्षिणात्य, आवंत, उड्र-मागधी और पांचालमध्य ये नाटकों की चार रीतियाँ गिनाई गई हैं और बतलाया गया है कि किन किन देशों के लोग किस रीति का नाटक पसंद करते हैं। इसके अतिरिक्त उस समय की सात प्राकृत भाषाएँ और पाँच विभाषाएँ भी गिनाई गई हैं। और भी अनेक ऐसी गूढ़ बातें हैं जिनका आजकल समझना ही बहुत कठिन है और जिनको समझने के लिये बड़े बड़े पंडितों को भी वर्षों उनका अध्ययन करना पड़ेगा।

अब हम संक्षेप में भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र की प्राचीनता का कुछ विचार करके इस विषय को समाप्त करते हैं। ग्रंथ में कुछ प्राचीन सूत्र भी दिए गए हैं जिनके साथ भाष्य, कारिका, निघंटु और निरुक्त भी हैं। इससे सिद्ध होता है कि जिस समय इस श्लोकबद्ध ग्रंथ की रचना हुई थी, उस समय उन प्राचीन सूत्रों पर भाष्य और कारिकाएँ आदि भी लिखी जा चुकी थीं। ग्रंथ में जिन अनेक

नाट्यशास्त्र की प्राचीनता

जातियों के नाम दिए गए हैं, वे सब जातियाँ बहुत ही प्राचीन हैं। उनमें से कुछ जातियाँ तो बुद्ध के जीवन-काल में वर्तमान थीं और कुछ का उल्लेख ब्राह्मण-ग्रंथों तक में पाया जाता है। इसी प्रकार उसमें कुछ ऐसे देशों का भी उल्लेख है जिनके नाम ब्राह्मणों और कल्पसूत्रों तक में आए हैं। बहुत दिन हुए, सरगुजा रियासत के रामगढ़ में दो पहाड़ी गुफाओं का पता लगा था। उनमें से एक गुफा में एक प्रेक्षगृह बना है जो कई बातों में यूनानी नाटकशालाओं से मिलता है। उस प्रेक्षगृह में कुछ चित्रकारी भी है जो बहुत दिनों की होने के कारण बहुत कुछ मिट गई है, और जो कई बातों में भरत के नाट्यशास्त्र में बतलाई हुई चित्रकारी से मिलती है। प्रेक्षगृह के संबंध में पास की दूसरी गुफा में अशोक लिपि में एक लेख भी खुदा हुआ है। पुरातत्ववेत्ताओं का मत है कि वह शिलालेख और गुफा ईसा से कम से कम तीन सौ वर्ष पहले की है। शिलालेख से पता चलता है कि वह गुफा सुतनुका नामक किसी देवदासी ने नर्त्तकियों के लिये बनवाई थी। अनुमान होता है कि उन दिनों जहाँ भारत में देशी ढंग के अनेक प्रेक्षगृह बनते थे, वहाँ किसी नर्त्तकी ने यूनानी ढंग की नाट्यशाला भी, एक नई चीज समझकर, बनवा ली होगी। पहली गुफा में तो नाटक आदि होते होंगे और दूसरी गुफा में नट और नर्त्तकियाँ आदि रहती होंगी। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय ढंग के प्रेक्षगृहों के रहते हुए भी यूनानी ढंग की नाट्यशाला

तभी बनी होगी जब भारतीय ढंग के प्रेक्षगृहों की बहुत अधिकता हो गई होगी और लोगों की रुचि किसी नए ढंग के प्रेक्षगृह की ओर भी हुई होगी। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे यूनान में सबसे पहले ईसा से प्रायः छः सौ वर्ष पूर्व नाटकों का लिखा जाना आरंभ हुआ था। उस समय वहाँ दो तीन आदमी मिलकर गाड़ी पर सवार हो जाते थे और गाँव गाँव घूमकर लोगों अभिनय दिखाते फिरते थे। पर भारत में उसी समय के लगभग नाट्यशास्त्र का इतना अधिक विकास हो चुका था कि नाटक के संबंध में कई लक्षण-ग्रंथ बन गए थे, उनके संबंध में अनेक गूढ़ और जटिल नियमों की रचना हो चुकी थी और सैकड़ों हजारों दर्शकों के बैठने के योग्य अनेक नाट्यशालाएँ बन चुकी थीं। कदाचित् अब इस बात के प्रमाण की और कोई आवश्यकता न रह गई होगी कि भारत में नाटक का आरंभ प्रायः और सभी देशों से पहले और बिलकुल स्वतंत्र रूप से हुआ था।

भारतीय नाट्य-कला का इतिहास

अब हम संक्षेप में भारतीय नाट्य-कला का कुछ इतिहास भी दे देना आवश्यक समझते हैं। मिस्रियों और यूनानियों की भाँति भारतीयों की नाट्य-कला का मूल भी धार्मिक ही है, पर उसमें औरों की अपेक्षा कुछ विशेषता और प्राचीनता है। यूनानी नाटकों का, और उनमें भी सबसे प्राचीन दुःखांत नाटकों का आरंभ वहाँ के महाकाव्यों और गीति-काव्यों से हुआ था; पर भारतीय नाटकों

का आरंभ यहाँ के गद्य और गीति-काव्यों से हुआ था। साहित्यिक इतिहास के अनुक्रम में पहले गद्य, तब गीति-काव्य और तब महाकाव्य आते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जिन नाटकों का आरंभ गीति-काव्यों और महाकाव्यों से हुआ हो, उनकी अपेक्षा वे नाटक अधिक प्राचीन हैं, जिनका मूल गद्य और गीति-काव्यों में हो। हमारे यहाँ इस ढंग के प्राचीन नाटकों का अवशेष अब तक बंगाल की यात्राओं और ब्रज की रास-लीलाओं के रूप में वर्तमान है। यद्यपि ठीक ठीक यह नहीं बतलाया जा सकता कि भारत में शुद्ध और व्यवस्थित रूप में नाटकों का आरंभ कब हुआ, तथापि अनेक प्रमाणों से यह अवश्य सिद्ध है कि ईसा से कम से कम हजार आठ सौ वर्ष पहले यहाँ नाटकों का यथेष्ट प्रचार था; और ईसा से चार पाँच सौ वर्ष पहले यहाँ की नाट्य-कला इतनी उन्नत हो चुकी थी कि उसके संबंध में अनेक लक्षण-ग्रंथ भी बन गए थे। इस प्रकार हमारे यहाँ के नाटकों का क्रमबद्ध इतिहास उस समय से आरंभ होता है, जिस समय वे अपनी उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर थे और जिसके उपरांत उनका ह्रास आरंभ हुआ था।

आज से कुछ ही दिनों पहले महाकवि कालिदास ही संस्कृत के आदि नाटककार माने जाते थे; पर अब इस बात के अनेक प्रमाण मिल चुके हैं कि कालिदास से चार पाँच सौ वर्ष पहले भी संस्कृत में अनेक अच्छे अच्छे नाटक बन चुके थे। पहले तो कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक में ही उनसे पहले के भास

और कविपुत्र आदि कई प्रसिद्ध नाटककारों का उल्लेख मिलता है; और तिस पर अब ट्रावनकोर में भास के अनेक नाटक मिल भी गए हैं जिनमें से कई प्रकाशित भी हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त मध्य एशिया में भी बौद्ध-कालीन अनेक खंडित नाटकों की हस्त-लिखित प्रतियाँ मिली हैं, जिनमें से एक कनिष्क के राजकवि अश्वघोष का बनाया हुआ है। इन सब नाटकों की रचना, शैली और भाषा आदि भी प्रायः वैसी ही है, जैसी कि पीछे के और नाटकों की है। इससे सिद्ध होता है कि इन नाटकों के बनने से पहले भी इस देश में नाटक-रचना के संबंध में नियम आदि बन चुके थे और उनके लक्षण-ग्रंथ लिखे जा चुके थे। परंतु हमारे नाटकों के विकास का यह काल अभी तक अज्ञात काल ही माना जाता है, अतः इसे हम यहीं छोड़कर ज्ञात काल की कुछ बातें कहते हैं।

हमारे नाटकों के ज्ञात काल का आरंभ महाकवि कालिदास से होता है और उनके समय से लेकर ईसवी दसवीं शताब्दी तक उसका आरंभिक काल माना जाता है। पर हमारी समझ में यह उसका आरंभिक काल नहीं बल्कि मध्य काल है। कालिदास का पहला नाटक मालविकाग्निमित्र है जिसके कई पात्र ऐतिहासिक हैं। अग्निमित्र का समय ईसा से डेढ़ दो सौ वर्ष पहले का तो अवश्य है, चाहे इससे भी और कुछ पहले का ही क्यों न हो। दूसरा नाटक शकुंतला है जिसकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में होती है। उनका विक्रमोर्वशी नाटक भी बहुत ही

उत्तम है और उसकी उत्तमता का एक प्रमाण यह भी है कि उसके अनुकरण पर संस्कृत में और भी अनेक नाटकों की रचना हुई है। कालिदास के अनंतर अच्छे नाटककारों में हर्ष की गणना है जो ईसवी सातवीं शताब्दी के आरंभ में हुए थे और जिनकी लिखी हुई रत्नावली नाटिका और नागानंद आदि नाटक हैं। शूद्रक का मृच्छकटिक नाटक भी बहुत ही अच्छा है; पर कहते हैं कि वह भास के दरिद्र-चारुदत्त के आधार पर लिखा गया है। इनके बाद के नाटककारों में भवभूति हुए जो कन्नौज के राजा यशोवर्मन् के आश्रित थे और जिनका समय सातवीं शताब्दी का अंत माना जाता है। इनके रचित महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव नाटक बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके उपरांत नवीं शताब्दी के मध्य में भट्टनारायण ने वेणी-संहार और विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस की रचना की थी। नवीं शताब्दी के अंत में राजशेखर ने कर्पूरमंजरी, बाल-रामायण और बालभारत आदि नाटक रचे थे और ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्ण-मित्र ने प्रबोध-चंद्रोदय नाटक की रचना की थी। दसवीं शताब्दी में धनंजय ने दशरूपक नामक प्रसिद्ध लक्षण-ग्रंथ भी लिखा था जिसमें नाटकों की कथा-वस्तु, नायक, पात्र, कथोप-कथन आदि का बहुत अच्छा विवेचन किया गया है।

ईसवी दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी तक तो संस्कृत में बहुत अच्छे अच्छे नाटकों की रचना होती थी, पर उसके उप-रांत संस्कृत नाटकों का पतन-काल आरंभ हुआ। इसके अनंतर

जो नाटक बने, वे नाट्यकला की दृष्टि से उतने अच्छे नहीं हैं, जितने अच्छे उनसे पहले के बने हुए हैं। इसी लिये हम उनका कोई उल्लेख न करके एक दूसरी बात पर विचार करना चाहते हैं।

भारतीय नाट्य-कला पर यूनानी प्रभाव

संस्कृत के नाटकों में यवनिका, यवनी और शकार आदि शब्दों के आधार पर पहले कुछ विद्वान् कहा करते थे कि भारतवासियों ने नाट्य-कला यूनानियों से सीखी थी। यद्यपि आजकल इस मत के समर्थकों की संख्या बहुत ही कम हो गई है और अधिकांश विद्वान् यही मानने लगे हैं कि भारतवासियों ने अपनी नाट्य-कला का विकास बिलकुल स्वतंत्र रूप से किया था, तथापि इस संबंध में हम दो एक बातें कह देना आवश्यक समझते हैं। पहली बात तो यह है कि भारतवासियों ने उस समय भी अच्छे अच्छे नाटक तैयार कर लिए थे, जिस समय यूनानियों में नाट्यकला का विकास आरंभ ही हुआ था। दूसरे भारतवासियों ने कभी यूनानी भाषा अच्छी तरह सीखी ही नहीं। कुशन राज-दरबार में कभी कभी यूनानी भाषा बोली जाती थी, पर वह बहुत ही टूटी-फूटी होती थी। यहाँ के सिक्कों आदि पर जो यूनानी भाषा मिलती है, वह भी प्रायः बहुत रद्दी होती है। भारत में कभी कोई साहित्यिक यूनानी भाषा जानता हो नहीं था। भारतवासियों ने ज्योतिष संबंधी कुछ बातें अवश्य यूनानियों से सीखी थीं, पर उनकी शिक्षा प्राप्त करने के लिये यहाँ से लोग

बाहर गए थे। ज्योतिष सरीखे विषयों की शिक्षा के लिये लोगों का विदेश जाना तो विशेष आश्चर्यजनक नहीं है, पर नाट्य-कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिये विदेश जाना प्रायः कल्पनातीत ही है। हाँ, यह संभव है कि भारतवासियों ने नाटकों के परदे आदि यूनानियों से बनवाए हों; अथवा वे उस देश के बने कपड़े के बनाए जाते हों और इसी लिये उनका नाम यवनिका रखा गया हो। इन शब्दों से तो अधिक से अधिक केवल यही सूचित होता है कि जिस समय हमारे यहाँ के अच्छे अच्छे नाटक बने थे, उस समय यवनों और शकों आदि के साथ हमारा संबंध हो चुका था। तीसरी बात यह है कि भारतीय और यूनानी नाटकों के तत्वों आदि में आकाश-पाताल का अंतर है। हमारे यहाँ दुःखांत और सुखांत का कोई झगड़ा ही नहीं है हमारे सभी नाटक सुखांत होते थे और रंगमंच पर हत्या, युद्ध आदि के दृश्य दिखलाना वर्जित था। यूनानी नाटकों में केवल चरित्र-चित्रण की ही प्रधानता होती है, पर हमारे यहाँ प्राकृतिक शोभाओं के वर्णन और रसों की प्रधानता मानी गई है। विक्रमोर्वशी का आरंभ ही हिमालय के विशाल प्राकृतिक दृश्य से होता है। उत्तररामचरित और शकुंतला में भी प्राकृतिक शोभाओं का ही वर्णन है। यूनानी नाटक बहुधा खुले मैदानों में होते थे, अथवा ऐसे अखाड़ों आदि में होते थे जिनमें और भी अनेक प्रकार के खेल-तमाशे होते थे। पर भारतीय नाटक एक विशेष प्रकार की बनी हुई रंगशालाओं में होते थे। सारांश यह कि कदाचित

एक भी बात ऐसी नहीं है जो यूनानी और भारतीय नाटकों में समान रूप से पाई जाती हो। हाँ, दोनों में अंतर बहुत अधिक और प्रत्यक्ष है। और फिर सब से बड़ी बात यह है कि नाटक रचना प्रतिभा का काम है और प्रतिभा कभी किसी की नकल नहीं करती। वह जो कुछ करती है, आप से आप, बिलकुल स्वतंत्र रूप से करती है।

यूनानी नाट्य-कला का विकास

बिलकुल आरंभ से ही यूनानी नाटकों का संबंध वहाँ के धर्म से रहा है। कुछ विद्वानों का मत है कि आरम्भ में मिस्र अथवा पश्चिमी एशिया के कुछ प्राचीन देशों की देखा-देखी यूनानवालों ने भी अपने यहाँ नाट्य-कला का प्रचार किया था। यह तो प्रायः सिद्ध ही है कि यूनानियों ने कई धार्मिक सिद्धांत तथा विश्वास मिस्रवालों से ग्रहण किए थे और यूनान तथा मिस्र दोनों के नाटकों का वहाँ के धर्म से घनिष्ट संबंध है। अतः यह माना जाता है यूनानियों ने अनेक धार्मिक शिक्षाओं के साथ साथ मिस्रवालों अथवा पश्चिमी एशिया की कुछ प्राचीन जातियों से नाट्य-कला भी ली थी। यह निश्चित है कि यूनानियों ने स्वयं ही नाट्य-कला की सृष्टि नहीं की थी; पर साथ ही यह भी निश्चित है कि उन्होंने इसका विकास बिलकुल स्वतंत्र रूप से और अपने ढंग पर किया था। आरम्भ में यूनान में डायोनिसस देवता के उद्देश्य से एक बहुत बड़ा धार्मिक उत्सव हुआ करता था। पीछे से उसी उत्सव के अवसर पर वहाँ

नाटक भी होने लगे थे। वे नाटक दिन भर होते रहते थे और उनकी व्यवस्था राज्य की ओर से होती थी। भिन्न भिन्न स्थानों में वह उत्सव वसंत ऋतु के आरंभ, मध्य अथवा अंत में हुआ करता था। उस उत्सव के साथ जो नाटक होते थे, उन्हें देखने के लिये दर्शकों को किसी प्रकार का प्रवेश-शुल्क आदि नहीं देना पड़ता था; पर उन्हें अपने लिये बिछौने और जलपान आदि का स्वयं ही प्रबंध करना पड़ता था। परन्तु उस समय जो अभिनय होते थे, वे पूरे नाटक नहीं कहे जा सकते। हाँ, उनमें नाटकों का बिलकुल पूर्व रूप अवश्य था। वास्तविक नाटकों और व्यवस्थित नाटक-मंडलियों की रचना और संघटन तो वहाँ ईसा से केवल चार पाँच सौ वर्ष पहले ही आरंभ हुआ था।

प्राचीन काल में यूनान के डोरियन राज्यों में यह प्रथा प्रचलित थी कि लोग देव-मंदिरों में एकत्र होकर भजन और नृत्य किया करते थे। वहाँ की सारी प्रजा प्रायः सैनिक या क्षत्रिय थी, अतः उस नृत्य में सैनिकों के कृत्यों आदि का साधारण अभिनय हुआ करता था। आगे चलकर उसमें यह विशेषता उत्पन्न हुई कि भारतीय सूत्रधारों की तरह वहाँ के कवि भी अपनी मंडलियाँ संघटित करने लगे और अपने सिखाए हुए गायकों और नर्तकों को साथ लेकर धार्मिक उत्सवों के समय ऐसे अभिनय करने लगे जो नाटक का पूर्व रूप कहे जा सकते हैं। धीरे धीरे उन नृत्यों ने कई भिन्न भिन्न स्वरूप प्राप्त कर लिए और उन्हीं स्वरूपों से आगे चलकर दुःखांत और सुखांत नाटकों

की सृष्टि हुई। उनमें से एक प्रकार का नृत्य, जिसे हम "अजा-नृत्य" कह सकते हैं, बहुत प्रचलित हुआ। उस नृत्य में पचास आदमी होते थे जो ऐसे वेष धारण करते थे जिनके कारण वे आधे मनुष्य और आधे पशु जान पड़ते थे। उनको बकरी का चेहरा लगा दिया जाता था और उनके पैर तथा कान भी बकरियों के पैरों और कानों के समान बना दिए जाते थे। वे लोग जो गीत गाते थे, वे "ट्रेजेडी" (Tragedy) कहलाते थे जिसका भावार्थ "अजा-गीत" है। आगे चलकर इन्हीं अजा-गीतों से दुःखांत नाटकों की सृष्टि हुई थी। इन अजा-गीतों का यूनानियों के डायोनिसस देवता के स्वरूप के अनुसार ही नामकरण हुआ था। हमारे यहाँ के गणेश और नृसिंह आदि के समान डायोनिसस का स्वरूप बैल और बकरी के स्वरूप का सम्मिश्रण माना जाता था। मूर्तियों में उसके सिर पर साँड़ के सींग लगाए जाते थे और उसका शरीर बकरी की खाल के समान रखा जाता था। प्राचीन काल में यूनान के लोग स्वयं भी बकरी की खाल पहना करते थे और अब तक कहीं कहीं वहाँ के देहातियों और खेतिहारों की यही पोशाक है। आजकल भी थ्रेस आदि कुछ स्थानों में ब्रज की रास-लीलाओं और बंगाल की यात्राओं की भाँति पुराने ढंग के कुछ नाटक होते हैं, जिनमें पात्र आदि बकरी की खाल पहनकर अभिनय करते हैं। एक और स्थान में लोग एड्रास्टस नामक एक स्थानिक देवता के उत्सव में भी इसी प्रकार के नृत्य आदि करते थे। यूनान की पौराणिक कथाओं के

अनुसार डायोनिसस और एड्रास्टस दोनों को अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़े थे; और यूनानियों के अभिनयों के मुख्य आधार यही देवता और उनके चरित्र आदि होते थे, जिनमें विपत्तियों और कष्टों की ही अधिकता होती थी। यही कारण है कि यूनान के दुःखांत नाटकों का मूल ये अजा-गीत ही माने जाते हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि यूनानी दुःखांत नाटकों का अंत वास्तव में दुःखपूर्ण नहीं होता, बल्कि केवल मध्य ही दुःखपूर्ण होता है; क्योंकि उनके देवताओं ने पौराणिक कथाओं के अनुसार, दुःख भोगने के उपरांत अंत में विजय ही प्राप्त की थी। हाँ, आगे चलकर उनके अनुकरण पर और और देशों में जो नाटक बने, वे प्रायः दुखांत ही थे।

यद्यपि ये अजा-गीत युरोप के आधुनिक दुःखांत नाटकों के मूल रूप हैं, तथापि यूनान में वास्तविक दुःखांत नाटकों का आरंभ महाकवि होमर के ईलियड महाकाव्य की रचना के अनंतर हुआ था। पहले तो देवताओं के सामने केवल नृत्य और गीत होते थे, पर पीछे से उनमें संवाद या कथोपकथन भी मिला दिया गया था। गायकों का प्रधान एक मंच पर खड़ा हो जाता था और शेष गायकों के साथ उसका कुछ कथोपकथन होता था। पर इस कथोपकथन का मूल संभवतः महाकवि होमर का ईलियड महाकाव्य था। पहले कुछ भिखमंगे शहरों में ईलियड महाकाव्य के इधर उधर के अंश गाते फिरते थे, जो लोगों को बहुत पसंद आते थे और जिनका प्रचार शीघ्र ही

बहुत बढ़ गया था। कुछ दिनों के बाद धार्मिक उत्सवों पर अजा-गीतों के साथ साथ ईलियड के अंश भी गाए जाने लगे। इस प्रकार अजा-गीतों और ईलियड-गान के संयोग से यूनान में नाट्य-कला का बीजारोपण हुआ; क्योंकि गीत और नृत्य में कथोपकथन के मिल जाने पर नाटकों की सृष्टि में वेष-भूषा और भाव-भंगी के अतिरिक्त कदाचित् ही किसी और बात की कसर रह जाती हो।

इस प्रकार नाटकों का सूत्रपात होने के उपरांत धीरे धीरे नाट्यशास्त्र का विकास होने लगा और लोग उसमें नवीनता अथवा विशेषता लाने लगे। कहते हैं कि ईसा से प्रायः छः सौ वर्ष पूर्व थेस्पिस नामक एक यूनानी कवि हुआ था, जिसने यूनान में सबसे पहले नाटक लिखना आरम्भ किया था। कहा जाता है कि उसने सात दुःखांत नाटकों की रचना की थी। पर अब उनमें से एक भी नाटक प्राप्त नहीं है। थेस्पिस अपने साथ दो और आदमी रखता था और दोनों को एक गाड़ी पर अपने साथ लेकर गाँव गाँव और नगर नगर घूमा करता था। उसी गाड़ी पर वे तीनों मिलकर गाते और कुछ कथोपकथन करते थे। उसके साथी किसी प्रकार का चेहरा लगाए रहते थे और किसी देवता के जीवन से संबंध रखनेवाली घटनाओं का अभिनय किया करते थे। बहुत दिनों तक नाटक के इस रूप में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। यदि कोई उन्नति या परिवर्तन हुआ भी, तो वह केवल यही कि गीत घटने लगे और कथोपकथन बढ़ने

लगे। पर नटों की संख्या अथवा रंगमंच में कोई विशेष उल्लेख-योग्य परिवर्तन अथवा विकास नहीं हुआ। सब बातें प्रायः ज्यों की त्यों रहीं।

यूनानी सुखांत नाटक

प्राचीन काल में यूनान में यह प्रथा थी कि कुछ विशेष अवसरों पर लोग पुरुष को जननेंद्रिय का चिह्न बनाकर उसका पूजन करते थे और वही चिह्न लेकर जलूस निकालते थे। उस जलूस में लोग तरह तरह के अश्लील गीत गाते थे। उस जलूस की समता अपने यहाँ के होली के स्वाँगों से की जा सकती है। उस जलूस के साथ जो गीत गाए जाते थे, वे उस इंद्रिय-विशेष की प्रशंसा में और प्रायः हास्यपूर्ण हुआ करते थे। कहते हैं कि उन्हीं गीतों आदि में मोरिस नामक स्थान के सुसेरियन नामक एक व्यक्ति ने कुछ परिवर्तन और सुधार करके उनकी अश्लीलता कम की थी और उनमें अपने बनाए हुए कुछ नए गीत मिलाए थे। इसके उपरांत मेइसन, टालिनस आदि कई व्यक्तियों ने उसमें कुछ और सुधार तथा परिवर्तन आदि किए थे; पर हास्य-रस-प्रधान वे गीत और अभिनय आदि यूनानियों को अधिक पसंद नहीं आए और यूनान में प्रायः सिकंदर के समय तक दुःखांत नाटकों की ही प्रधानता रही तथा सुखांत नाटकों का उतना अधिक प्रचार न हो सका। उन दिनों उन सुखांत नाटकों में प्रायः चौबीस गायक हुआ करते थे और पात्रों का प्रवेश, प्रस्थान, कथोपकथन और परिहास आदि भी हुआ करता था।

बिलकुल आरंभ में उन नाटकों में केवल ऐतिहासिक, पौरा-णिक, सामाजिक अथवा राजकीय पुरुषों की हँसी उड़ाई जाती थी और पशुओं, पक्षियों आदि के स्वाँग भरे जाते थे। विशेषतः राजकीय अधिकारियों के नाम पर खूब गीत बनाए जाते थे और उनकी खूब दिल्लगी उड़ाई जाती थी। पर आगे चलकर राज्य के द्वारा इन बातों को रोकने के लिये अनेक प्रतिबंध होने लगे। साधारणतः यूनानी सुखांत नाटकों के, ऐतिहासिक दृष्टि से, तीन युग माने जाते हैं। पहला प्राचीन युग जो ईसा से प्रायः ३९० वर्ष पहले तक था; दूसरा मध्य युग जो उसके बाद से लेकर ईसा के ३२४ वर्ष पूर्व तक माना जाता है; और तीसरा नवीन युग जो उसके अनंतर आरंभ होता है। मध्य युग में ही प्राचीन युगवाली अश्लीलता और भाँड़पन बहुत कुछ कम हो गया था; और नवीन युग में तो उसमें और भी कई नए सुधार हुए थे। नवीन युग में और अनेक प्रकार के सुधारों के साथ ही साथ सुखांत नाटकों में शृंगार और प्रेमपूर्ण कथाओं का भी प्रवेश होने लगा। उस युग के प्रवर्तक पिलेमन और मेनेंडर आदि माने जाते हैं। थोड़े ही दिनों के उपरांत जब यूनानी सभ्यता का अंत आ चला और रोमवालों ने यूनान पर विजय प्राप्त कर ली, तब यूनान की और और अनेक बातों के साथ वहाँ की नाट्य-कला भी रोम चली गई; और पीछे से वह यूनान से इटली और इटली से सारे युरोप में फैली।

रोम में पहला नाटक ईसा से २४० वर्ष पहले एक भारी विजय के उपलक्ष में हुआ था। उस समय रोमन रंगमंच पर पहले-पहल दुःखांत और सुखांत दोनों प्रकार के नाटक खेले गए थे। उन दोनों नाटकों का रचयिता एंड्रोनिकस नामक एक यूनानी माना जाता है, जिसने स्वयं उन नाटकों में अभिनय किया था। इसके उपरांत रोम में और भी जो नाटक आदि बने, वे सब नवीन युग के यूनानी नाटकों के अनुकरण पर थे। विशेषता केवल इतनी थी कि उनमें रोमन राष्ट्रीयता के भावों को बहुत अधिक स्थान मिलता था; और यूनानी नाटकों से रोमन नाटकों में यही सब से बड़ी विशेषता थी; क्योंकि यूनानी नाटक बहुधा राष्ट्रीय भावों से शून्य होते थे और उनका स्वरूप प्रायः धार्मिक हुआ करता था। नाट्य-कला की दृष्टि से भी रोमन नाटकों में थोड़े बहुत परिवर्तन और सुधार हुए थे। उन्हीं दिनों रोम में अनेक रंग-शालाएँ आदि भी बन गई थीं। रोम में पहली स्थायी रंगशाला ईसा से ५५ वर्ष पहले बनी थी जिसमें लगभग १८००० दर्शकों के बैठने का स्थान था। रोमन नाटकों में अभिनय करनेवाले प्रायः यूनान या दक्षिण इटली के दास हुआ करते थे। इसका कारण कदाचित् यही था कि प्राचीन काल में प्रायः सभी देशों में अभिनय करनेवाले और नट कुछ उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते थे; और रोमन लोग विजेता थे, इसलिये वे अभिनय आदि के लिये अपने दासों को शिक्षा देकर तैयार किया करते थे। रोम

रोमन नाटक

की सभ्यता और बल की वृद्धि के साथ ही साथ वहाँ नाटकों की भी खूब उन्नति हुई थी। पर ईसा की चौथी शताब्दी के मध्य में, जब ईसाई पादरियों का जोर बहुत बढ़ गया और वे नाटकों तथा अभिनयों की बहुत निंदा और विरोध करने लगे, रोम में नाट्य-कला का ह्रास आरंभ हुआ। जब रोमन लोग रंग-शालाओं में अपने मनोविनोद के लिये अनेक प्रकार के क्रूरता और निर्दयतापूर्ण खेल कराने लग गए और उन रंग-शालाओं के कारण लोगों में विलासिता बहुत बढ़ गई, तब नाटकों आदि का और भी घोर विरोध होने लगा और राज्य की ओर से उनका प्रचार रोकने के लिये अनेक प्रकार के नियम बनने लगे। यह निश्चय किया गया कि नट लोग ईसाइयों के धार्मिक उत्सवों आदि में न सम्मिलित हो सकें; और जो लोग रविवार या दूसरी छुट्टियों के दिन गिरजा में न जाकर नाट्य-शालाओं में जाया करें, वे समाज-च्युत कर दिए जायँ। उस समय अधिकांश युरोप में, और विशेषतः रोम में, ईसाई धर्म का बहुत अधिक जोर था; यहाँ तक कि राजकीय अधिकार भी प्रायः धर्माचार्यों के ही हाथ में थे। अतः उनके विरोध के कारण रोम में नाट्य-कला का ह्रास होने लगा और अंत में नाटक बिलकुल उठ गए। इसके कई सौ वर्ष पीछे ईसाई धर्माचार्यों तथा कुछ और लोगों ने फिर से धार्मिक तथा नैतिक नाटकों का प्रचार आरंभ किया था।

हम पहले कह चुके हैं कि धर्माचार्यों और पादरियों आदि

के विरोध के कारण लगभग चौथी शताब्दी से ही युरोप में नाटकों का पतन आरंभ हो गया था। यद्यपि उस समय नाटकों का होना बिलकुल बंद नहीं हुआ था, तथापि बहुत कुछ कम अवश्य हो गया था और उनका स्थान भावाश्रित नृत्य या मार्ग ने ले लिया था। परंतु गिरिजा में ईसाइयों की जो ईश्वर-प्रार्थना होती है, स्वयं उसी में नाटक के कई तत्त्व वर्तमान हैं; इसलिये वह प्रार्थना ही नाटक का रूप धारण करने लगी और धीरे धीरे कई सौ वर्षों के उपरांत वहाँ धार्मिक नाटकों की रचना आरंभ हुई। पीछे से प्रार्थना के उपरांत स्वयं गिरजा में ही अथवा उसके बाहर नाटक होने लगे। आगे चलकर इन धार्मिक नाटकों का और भी विकास हुआ और धीरे धीरे वहाँ अनेक व्यवसायी नाटक-मंडलियाँ स्थापित हो गईं। जब धार्मिक नाटकों की बहुत अधिकता हो गई, तब धीरे धीरे नैतिक और सामाजिक नाटक भी बनने लगे। अब ज्यों ज्यों इन नाटकों का प्रचार बढ़ता जाता था, त्यों त्यों नाटकों पर से धर्म्माचार्यों का अधिकार भी उठता जाता था। साथ ही स्वयं ईसाई धर्म का प्रभाव भी पहले के समान न रह गया था, इससे नटों और नाटककारों को और भी स्वतंत्रता मिल गई। उस समय तक नाटकों के विकास का यह क्रम और अवस्था युरोप के प्रायः सभी देशों में समान थी। परंतु एक बात थी। अब तक तो युरोप के नाटकों का रूप बहुधा स्वाँगों

युरोप के नाटक

और रासों आदि के समान ही था; पर युरोप के पुनरुत्थान काल के उपरांत उनको साहित्यिक रूप भी प्राप्त होने लग गया था। दूसरी बात यह थी कि पुनरुत्थान काल के पूर्व प्रायः सारे युरोप के नाटक अनेक बातों में बिलकुल एक से होते थे। पर उसके उपरांत प्रत्येक देश में अपने अपने ढंग पर अलग अलग राष्ट्रीय नाटक बनने लगे थे। राष्ट्रीयता के बंधन में पड़ने के उपरांत भिन्न भिन्न देशों के नाटकों की उन्नति भिन्न भिन्न प्रकार और गति से होने लगी थी। विशेषतः स्पेन और इटलीवालों ने उस समय नाट्य-कला में बहुत अच्छी उन्नति की थी और इन देशों में अनेक अच्छे अच्छे नाटक लिखे गए थे। युरोप के अन्यान्य देशों के आधुनिक नाटकों पर बहुधा इन्हीं में से किसी न किसी देश के नाटकों का प्रभाव पड़ा है।

अँगरेजी नाटक

युरोप के अन्यान्य देशों की भाँति इंगलैंड में भी मध्य युग तक पुराने नाटकों का अंत हो गया था। पर महारानी एलिज़बेथ के राज्यारोहण के समय वहाँ फिर नाटकों का प्रचार आरंभ हुआ। उस समय वहाँ पहले-पहल इटैलियन भाषा के कुछ नाटकों का प्रचार हुआ था, जिनकी देखादेखी अँगरेज कवि भी दुःखांत और सुखांत नाटक रचने लगे थे। महारानी एलिज़बेथ को नाटकों का बहुत शौक हो गया था; अतः उनके शासन-काल में इंगलैंड में, नाट्य-कला की यथेष्ट उन्नति हुई थी। उनके समय में अनेक सुखांत और दुःखांत नाटक

बने थे जिन्हें सर्वसाधारण बड़े चाव से देखते थे। इसी समय रंगशालाओं में राजनीति का भी कुछ पुट आ गया था जिसके कारण वहाँ के राजनीतिज्ञों में कुछ वैमनस्य भी हो चला था। ऐसे समय में इंगलैंड के नाट्य-क्षेत्र में शेक्सपियर ने प्रवेश करके अँगरेजी नाटक-रचना में एक नवीन युग का आरंभ किया। शेक्सपियर एक प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त स्वयं भी पहले कुछ दिनों तक नट का काम कर चुका था, इसलिये उसके सभी सुखांत और दुःखांत नाटक बहुत ही उच्च कोटि के होते थे और सर्वसाधारण में उनका बहुत अधिक आदर होता था। इसके उपरांत इंगलैंड में प्रायः जितने अच्छे अच्छे नाटक-कार हुए, वे सभी शेक्सपियर के प्रभाव से प्राभावान्वित थे; और अभी तक वहाँ के नाटकों में शेक्सपियर की थोड़ी बहुत छाया पाई जाती है। बीच में गृहविवाद और राजनीतिक झगड़ों आदि के कारण और राज्य की ओर से नाटकों तथा रंगशालाओं में हस्तक्षेप होने के कारण कुछ दिनों के लिये इंगलैंड की नाट्य-कला की उन्नति में बहुत कुछ बाधा पड़ गई थी; और ऐसा जान पड़ता था कि मानों उसका अंत हो जायगा। पर वह बात नहीं हुई और थोड़े ही दिनों के उपरांत वहाँ नाट्य-कला का फिर से उद्धार होने लग गया। इधर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से उसकी विशेष उन्नति होने लगी; और अब तो इंगलैंड की नाट्य-कला संसार में बहुत उन्नत तथा नाट्य-साहित्य बहुत श्रेष्ठ माना जाता है।

यहाँ हम एक बात और बतला देना चाहते हैं। वह यह कि जिस प्रकार रोम में नाट्य-कला का प्रचार यूनान के अनुकरण पर हुआ था, उसी प्रकार यूनान में नाटकों का प्रचार मिस्र के नाटकों की देखादेखी हुआ था। यूनान में नाटकों का प्रचार होने से बहुत पहले मिस्र में नाटकों का बहुत कुछ प्रचार था। उनका आरंभिक रूप भी यूनानी आरंभिक नाटकों के रूप से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। वहाँ भी अनेक धार्मिक अवसरों पर देवी-देवताओं के जीवन से संबंध रखनेवाली घटनाओं के अभिनय हुआ करते थे। परंतु मिस्र की नाट्य-कला भारत की नाट्य-कला के समान इतनी प्राचीन है कि उसका उस समय का ठीक ठीक और व्यवस्थित इतिहास मिलना बहुत ही कठिन है।

मिस्र के नाटक

चीन में भी नाट्य-कला का विकास, भारत की भाँति, बहुत प्राचीन काल में नृत्य और संगीत कलाओं के संयोग से हुआ था। पता चलता है कि कनफूची के समय में भी वहाँ अपने आरंभिक रूप में नाटक हुआ करते थे। ऐसे नाटक प्रायः फसल अथवा युद्ध आदि की समाप्ति पर होते थे और उनमें लोग नृत्य और गीत आदि के साथ कई प्रकार की नकलें किया करते थे। परंतु नाटक के शुद्ध और व्यवस्थित रूप का प्रचार वहाँ ईसा से लगभग ५८० वर्ष पीछे हुआ था। चीनवाले कहते हैं कि तत्कालीन सम्राट् वान ने पहले-पहल नाटकों का आरंभ किया था।

चीन के नाटक

.र कुछ लोगों का मत है कि नाटक का आविष्कर्ता सम्राट् हुएनत्संग था, जो ईसवी सन् ७२० के लगभग हुआ था। चीनी नाट्य-कला का इतिहास तीन कालों में विभक्त किया जाता है। पहला काल तांग राजवंश का शासन-काल था जो ईसवी सन् ७२० से ६६० तक था; दूसरा सुंग राजवंश का शासन-काल था जो सन् ६६० से ११२६ तक था; और तीसरा काल चिन और युआन राजवंशों का शासन-काल था जो ११२६ से १३६७ तक था। तांग काल के नाटक आजकल नहीं मिलते; पर कहा जाता है कि उस काल के सभी नाटक ऐतिहासिक हुआ करते थे और उनमें युद्धों तथा वीरों के कार्यों का अभिनय हुआ करता था। सुंग काल के नाटक प्रायः गीतों से ही भरे होते थे और उनमें नाटक की सारी कथा गाकर कही जाती थी। उन दिनों के नाटकों में एक विशेषता यह भी थी कि प्रत्येक नाटक में अधिक से अधिक पाँच ही नट हुआ करते थे। पर तीसरे या युआन काल में नाटकों की बहुत अधिक उन्नति हुई थी। उन दिनों वहाँ जैसे अच्छे नाटक बने, वैसे कदाचित् आज तक भी न बने होंगे। इसके अतिरिक्त चीनियों ने उन दिनों अपने नाटकों में जो विशेषताएँ उत्पन्न की थीं, वे प्रायः आज तक ज्यों की त्यों वर्तमान हैं। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक मत है कि चीन के उन दिनों के नाटक आज-कल के नाटकों से किसी बात में कम नहीं हैं। उस काल में वहाँ ८५ नाट्यकार हुए थे, जिनमें चार स्त्रियाँ भी थीं। उस

समय के लिखे हुए लगभग ५५० नाटक आज तक मिले हैं जो किसी एक विषय के नहीं, बल्कि भिन्न भिन्न विषयों के हैं। उन दिनों पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक सभी प्रकार के नाटक लिखे जाते थे और रङ्गशाला पर सम्राट् से लेकर घर की साधारण मजदूरनियों तक के चरित्र अभिनीत होते थे। उनमें का कथोपकथन बिलकुल साधारण और बोल-चाल की भाषा में हुआ करता था। उनके नाटकों में पाँच अंक हुआ करते थे, जिनमें से पहला कथानक या विषय-प्रवेश के रूप में होता था। परन्तु चीनी रंगशालाओं में परदे या यवनिकाएँ नहीं होती थीं और न दो अंकों के बीच में किसी प्रकार का विश्राम आदि हुआ करता था। उन दिनों नाटक रचने में इस बात का बहुत अधिक ध्यान रखा जाता था कि उनसे लोगों को पूरी पूरी शिक्षा मिले तथा उनका चरित्र सुधरे; और उनमें कोई अश्लील या आपत्ति-जनक बात न आने पाती थी। पर फिर भी उनमें हास्य-रस की कमी नहीं होती थी। उनकी कथा-वस्तु और रंगशाला दोनों बिलकुल सीधी सादी और सरल होती थीं। उनकी रंगशालाएँ इतनी साधारण होती थीं कि छोटे से छोटे गाँव में भी, आवश्यकता पड़ने पर, तुरन्त रंगशाला बना ली जाती थी; और यही कारण था कि चीन में नाटकों का प्रचार गाँवों तक में हो गया था। पर नटों का वहाँ भी समाज में कोई आदर नहीं होता था और वे नौकरों तथा नाइयों के समान

समझे जाते थे। उनको सार्वजनिक परीक्षाओं तक में सम्मिलित होने का अधिकार नहीं था। पहले वहाँ स्त्रियाँ भी रंगशाला में अभिनय किया करती थीं; पर जब से एक नटी को सम्राट् खिन-लांग ने अपनी उपपत्नी बना लिया, तब से वहाँ की रंगशालाओं में स्त्रियों का प्रवेश बंद हो गया।

एशिया में भारत और चीन यही दो ऐसे देश हैं जिनमें बहुत प्राचीन काल में और स्वतंत्र रूप से नाटकों का आरंभ, प्रचार और विकास हुआ था। अन्यान्य देशों में बहुधा इन्हीं दोनों देशों से नाटक गए हैं। स्याम और मलय आदि देशों में भारत की देखादेखी और जापान में चीन के अनुकरण पर नाटकों का आरंभ और प्रचार हुआ था। यद्यपि अरब देश का साहित्य बहुत उन्नत और पूर्ण है, तथापि यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि वहाँ नाटकों का कभी आरंभ और प्रचार हुआ ही नहीं। नाटकों की ओर अरबवालों की प्रवृत्ति बहुत पीछे हुई है और अब भी वहाँ मौलिक नाटकों का अभाव ही है। आजकल अरबी भाषा में जो थोड़े बहुत नाटक मिलते भी हैं, वे दूसरी भाषाओं के अनुवाद हैं। इस्लाम धर्म में तो अवश्य ही नृत्य-गीत आदि की मनाही है, पर आश्चर्य है कि उसके प्रचार के पहले वहाँ नाटकों का आरंभ क्यों नहीं हुआ। जिस मिस्र देश में बहुत प्राचीन काल में भी किसी न किसी रूप में अनेक नाटक विद्यमान थे, उस मिस्र देश में भी अब निज का कोई नाटक नहीं रह गया है। जो

नाटक हैं भी, वे दूसरों की नकल या अनुवाद हैं। यह उस देश की दशा है जिसकी देखादेखी यूनान में नाटकों का प्रचार हुआ था। इस विषय में यूनान का अनुकरण रोम ने और पीछे से रोम का अनुकरण प्रायः सारे युरोप ने किया था। अमेरिका के पेरू और मेक्सिको आदि देशों में अवश्य ही बहुत प्राचीन काल में और बिलकुल स्वतंत्र रूप से नाटकों का आरंभ तथा प्रचार हुआ था। यद्यपि आजकल वहाँ के रक्त वर्णवालों की दशा बहुत ही शोचनीय है, तथापि वहाँ अब भी प्राचीन ढंग के नाटक होते हैं। इन देशों के नाटकों के संबंध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि इनके नाटकों की अनेक बातें भारतीय और संस्कृत नाटकों से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं।

आधुनिक भारतीय नाटक

हम ऊपर कह चुके हैं कि दसवीं शताब्दी के उपरांत भारतीय नाट्य-कला का ह्रास होने लगा था और अच्छे नाटकों का बनना प्रायः बंद सा हो चला था। यद्यपि हमारे यहाँ के हनुमन्नाटक, प्रबोधचंद्रोदय, रत्नावली, मुद्राराक्षस आदि नाटक दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच में बने थे, तथापि इसमें संदेह नहीं कि उन दिनों नाटकों की रचना और प्रचार दोनों में कमी होने लग गई थी और चौदहवीं शताब्दी के उपरांत तो मानो एक प्रकार से उनका बिलकुल अंत ही हो गया था। इधर संस्कृत में जो थोड़े बहुत नाटक

बने भी, वे प्रायः साधारण कोटि के थे। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि भारतवर्ष में नाट्य-कला का ह्रास ठीक उसी समय प्रारंभ हुआ था, जिस समय इस देश पर मुसलमानों के आक्रमणों का आरंभ हुआ था। विदेशियों के आक्रमणों और राजनीतिक अव्यवस्था के समय यदि लोगों को खेल-तमाशे अच्छे न लगें, तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं है; और इसके परिणाम-स्वरूप यदि भारत में नाट्य-कला का अंत हो गया, तो इसमें किसी को आश्चर्य न होना चाहिए। कुछ दिनों के आक्रमणों और राजनीतिक अव्यवस्था के उपरांत प्रायः सारा देश मुसलमानों के हाथ में चला गया। आरंभ से ही मुसलमानों में संगीत और नाट्य-कला आदि का नितांत अभाव था। यही नहीं, बल्कि धार्म्मिक दृष्टि से वे लोग इन सब बातों के घोर विरोधी थे। अतः उनके समय में नाटकों आदि की कुछ भी चर्चा न हो सकी। हाँ, जिन स्थानों में हिन्दुओं का राज्य था, उनमें कभी कभी और कहीं कहीं नाटक रचे और खेले जाते थे। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत से मानों अपनी निज की नाट्य-कला उठ ही गई थी। जो थोड़ी बहुत बची भी थी, वह भी आधुनिक नाटकों के रूप में नहीं, बल्कि नाटकों के बिलकुल पूर्व रूप में थी। संयुक्त प्रांत में रासलीला, बंगाल में यात्रा और महाराष्ट्र प्रदेश में कीर्तन आदि से ही लोग अपना मन बहला लेते थे। पर इधर प्रायः पचास साठ वर्षों से भारत के सभी प्रांतों में अँगरेजी ढंग की

रंगशालाएँ बहुत बढ़ गई हैं जिनमें अनेक प्रकार के सामाजिक, ऐतिहासिक और धार्म्मिक नाटक होते हैं। इधर कुछ दिनों से कहीं कहीं राजनीतिक नाटक भी होने लगे हैं। विशेषतः बंगालियों, महाराष्ट्रों और गुजरातियों ने इस विषय में बहुत कुछ उन्नति की है और उनकी रंगशालाएँ बहुत अच्छे ढंग से चलती हैं। रंगशालाओं के साथ ही साथ इन लोगों ने अपनी अपनी भाषा में अनेक उत्तमोत्तम नाटकों की भी रचना की है। पर हमारी हिंदी में जहाँ और अनेक बातों का अभी आरंभ हुआ है, वहाँ नाटकों में भी आरंभ ही समझना चाहिए। बल्कि यदि यह कहा जाय कि हिंदी में बँगला, मराठी या गुजराती के ढंग के अच्छे अच्छे नाटकों की रचना का श्रीगणेश भी नहीं हुआ है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। पर इस विषय में और बातें कहने के पहले हम संक्षेप में हिंदी नाटकों का कुछ इतिहास दे देना चाहते हैं।

हिंदी नाटक

यों कहने को चाहे हिन्दी में नेवाज कवि कृत शकुंतला नाटक, हृदयराम-कृत हनुमन्नाटक, या व्रजवासीदास कृत प्रबोधचंद्रोदय आदि कई सौ वर्ष पहले के बने हुए कई नाटक वर्त्तमान हों, पर वास्तव में नाट्य-कला की दृष्टि से वे नाटक नहीं कहे जा सकते; क्योंकि उन रचनाओं में नाटक के नियमों का पालन नहीं किया गया है और वे कोरे काव्य ही काव्य हैं। हाँ प्रभावती और आनंद-रघुनंदन आदि कुछ नाटक अवश्य ऐसे हैं जो किसी प्रकार नाटक की सीमा में आ सकते हैं। कहते

हैं कि हिंदी का पहला नाटक भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता श्रीयुक्त बाबू गोपालचंद्र उपनाम गिरधरदास-कृत नहुष नाटक माना जाना चाहिए; पर वह भी साधारण बोलचाल की हिंदी में नहीं, बल्कि व्रज भाषा में है। इसके उपरांत राजा लक्ष्मणसिंह ने शकुंतला नाटक का अनुवाद किया था। यद्यपि यह नाटक भाषा आदि के विचार से बहुत अच्छा है, परंतु वह मौलिक नाटक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह कालिदास-कृत शकुंतला नाटक का अनुवाद है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने तो मानों नाटक-रचना से ही आधुनिक हिंदी को जन्म दिया था। उन्होंने लगभग बीस नाटक लिखे थे जिनमें से अधिकांश अनुवाद नहीं, तो छाया-नुवाद अवश्य थे। तो भी उनके कई नाटक बहुत अच्छे हैं और अब भी अनेक स्थानों में समय समय पर खेले जाते हैं। लाला श्रीनिवासदास-कृत रणधीर-प्रेममोहिनी या पंडित केशव-राम भट्ट कृत सज्जाद-संबुल और शमशाद-सौसन आदि नाटक अवश्य अच्छे हैं, पर वे प्रायः इतने बड़े हैं कि उनका पूरा पूरा अभिनय नहीं हो सकता। यही दशा, बल्कि इससे भी कुछ और बढ़कर, पंडित बदरीनारायण चौधरी-कृत भारत-सौभाग्य नाटक की है। बाबू तोताराम कृत केटो-कृतांत, या पंडित बालकृष्ण भट्ट-कृत कई नाटक हैं सही, पर कई कारणों से उनका भी सर्वसाधा-रण में कोई विशेष आदर नहीं है। यही बात साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त व्यास-कृत ललिता नाटिका या वेणीसंहार और गोसंकट आदि नाटकों की है। मृच्छकटिक नाटक के

तीन अनुवाद हिंदी में हैं, पर एक भी रंगशाला के योग्य न होने के कारण सर्वप्रिय नहीं हो सका। बाबू राधाकृष्णदास का महाराणा प्रताप नाटक अवश्य ऐसा है जिसका हिंदी में बहुत कुछ आदर हुआ है और जिसका अनेक स्थानों पर अभिनय भी हुआ करता है। इन नाटकों के अतिरिक्त हिंदी में गिनती के कुछ और मौलिक या संस्कृत से अनूदित नाटक भी हैं जो विशेष उल्लेख योग्य नहीं जान पड़ते। लाला सीताराम बी० ए० ने संस्कृत के कई नाटकों का अनुवाद किया है; पर वे अनुवाद उतने अच्छे नहीं हैं। स्वर्गवासी पंडित सत्यनारायण कविरत्न-कृत मालती-माधव और उत्तररामचरित के अनुवाद अवश्य ऐसे हैं जो स्थायी साहित्य में स्थान पाने के योग्य हैं। भारतेंदुजी के कुछ काल अनंतर हिंदी में अनुवाद की धूम मची और बँगला से अनेक उपन्यासों तथा नाटकों के अनुवाद प्रकाशित हुए। विशेषतः काशी के भारतजीवन प्रेस से ऐसे कई नाटकों के अनुवाद निकले। इधर कुछ दिनों से इन अनुवादों की संख्या और भी बढ़ गई है जिनमें से विशेष उल्लेख योग्य बँगला के सुप्रसिद्ध नाटककार श्रीयुक्त द्विजेंद्रलाल राय तथा गिरीश घोष के नाटकों के अनुवाद हैं। राय महाशय के प्रायः सभी नाटकों के सुंदर अनुवाद बंबई के हिंदी ग्रंथरत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित हुए हैं। पर इधर दस बीस वर्षों के अंदर हिंदी में मौलिक नाटक प्रायः बने ही नहीं। इधर कुछ दिनों से काशी के श्रीयुक्त बाबू जयशंकर प्रसाद ने

साहित्य के इस अंग की पूर्ति की ओर ध्यान दिया है और उनको मौलिक नाटक लिखने में अच्छी सफलता भी हुई है। उनके लिखे हुए नाटकों में से अजातशत्रु, जन्मेजय और विशाख आदि नाटक बहुत अच्छे हैं। आजकल कुछ धनवानों की कृपा से हिंदी के लेखकों को अनेक प्रकार के पुरस्कार आदि मिलने लगे हैं। इससे आशा होती है कि शीघ्र ही हिन्दी में मौलिक रचना का आरंभ हो जायगा और साहित्य के अन्यान्य अंगों के साथ ही साथ इस अंग की भी शीघ्र ही और अच्छी पूर्ति होगी।

हिन्दी रंगशाला

जहाँ नाटकों का ही अभाव हो, वहाँ नाटक-मंडलियों और रंगशालाओं के अभाव का क्या पूछना है। बँगला, मराठी और गुजराती भाषा-भाषियों ने बहुत दिनों से अपनी अपनी भाषा में अच्छे अच्छे मौलिक नाटकों की रचना आरंभ कर रखी है और उन नाटकों के साथ ही साथ अपने अपने ढंग की रंगशालाएँ भी स्थापित कर ली हैं। उनकी अनेक अच्छी अच्छी नाटक-मंडलियाँ भी बहुत दिनों से स्थापित हैं। उन रंगशालाओं और नाटक-मंडलियों को देखने से इस बात का ठीक अनुमान हो सकता है कि उन लोगों ने इस संबंध में कितनी अधिक उन्नति की है और हिंदी भाषा इस विषय में कितनी पिछड़ी हुई है। हम पहले कह चुके हैं कि भारत में आधुनिक ढंग की रंगशालाओं और नाटक-मंडकियों की स्थापना बहुत थोड़े दिन पहले अर्थात् गत शताब्दी के प्रायः मध्य में आरंभ हुई है। इन्हीं पचास साठ वर्षों में यहाँ अँगरेजी ढंग की रंग-

शालाएँ बनने लगी हैं और उसी ढंग पर अभिनय होने लगे हैं। बँगला, मराठी और गुजराती की नाट्यशालाओं और नाटक-मंडलियों आदि का आरंभ और विकास इन्हीं थोड़े दिनों में हुआ है। यद्यपि उसी समय के लगभग पहले-पहल आधुनिक ढंग की रंगशालाओं में हिंदी नाटकों का भी प्रवेश हुआ था, तथापि हिंदी के दुर्भाग्य से लोगों ने इस ओर विशेष ध्यान न दिया जिसके कारण आजकल हिंदी में नाटकों की दशा इतनी गिरी हुई है। यदि यह बात न होती तो आज हिंदी के नाटक भी अन्यान्य भारतीय भाषाओं के नाटकों के समान बहुत उन्नत दशा में होते। सबसे पहले बनारस के बनारस थिएटर में सन् १८६८ में पंडित शीतलप्रसाद त्रिपाठी का बनाया हुआ जानकीमंगल नाटक बहुत धूमधाम से खेला गया था। उसकी देखादेखी प्रयाग और कानपुर के लोगों ने भी अपने अपने यहाँ रणधीर-प्रेममोहिनी और सत्यहरिश्चंद्र का अभिनय किया था। पर इसके उपरांत हिन्दी में अच्छे नए नाटकों के न बनने के कारण रंगशालाओं में हिंदी का प्रवेश न हो सका और हिंदी भाषा-भाषी प्रायः पारसी थिएटरों के उर्दू नाटक देखकर ही संतुष्ट रहने लगे। कदाचित् यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि बँगला, मराठी या गुजराती आदि के नाटकों को देखते हुए पारसी थिएटरों के उर्दू नाटक कितने अधिक कुरुचिपूर्ण और निकृष्ट होते हैं। पर फिर भी हिंदी भाषा-भाषी उन्हीं नाटकों का अभिनय देखकर

अपने आपको धन्य माना करते थे। इधर दस बारह वर्षों से पारसी कंपनियों के थिएटरों में भी हिंदी का प्रवेश हो चला है और दिन पर दिन उनमें खेले जानेवाले हिंदी नाटकों की संख्या बढ़ती जाती है। अब तो कुछ ऐसी व्यवसायी मंडलियाँ भी तैयार हो गई हैं जो बहुधा केवल हिंदी के ही नाटक खेला करती हैं। पारसी कंपनियों में तो अब कदाचित् ही कोई ऐसी हो जो दो चार हिंदी नाटकों का अभिनय न करती हो। इस संबंध में दिल्ली के पंडित नारायणप्रसाद बेताब का उद्योग परम प्रशंसनीय है जिन्होंने पहले-पहल महाभारत नाटक की रचना करके और एक पारसी कंपनी की रंगशाला में उसका अभिनय कराके लोगों का ध्यान कुरुचिपूर्ण नाटकों की ओर से हटाया और उन्हें सुरुचिपूर्ण हिंदी नाटकों की ओर प्रवृत्त किया।) अब प्रायः सभी स्थानों में लोग हिंदी नाटकों का अभिनय बड़े चाव से देखा करते हैं जिससे आशा है कि थोड़े ही दिनों में हिंदी भी नाट्य-क्षेत्र में भारत की अन्य भाषाओं के समकक्ष हो जायगी। इधर हिंदी में मौलिक नाटकों की रचना भी आरंभ हो चली है और दिन पर दिन ऐसे नाटकों की संख्या बढ़ने की संभावना है। हमारे लिये ये दोनों ही बातें बहुत आशाजनक और उत्साहवर्धक हैं।

सातवाँ अध्याय

दृश्य-काव्य का विवेचन

गद्य काव्य का विवेचन करते हुए हम यह बतला चुके हैं कि नाटक और उपन्यास में बड़ा भारी भेद यह है कि नाटक का रूप बहुत कुछ रंगशाला के प्रतिबंधों के अनुसार निश्चित करना पड़ता है; पर उपन्यासों में इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं है; और नाटक कुछ ऐसे नियमों से जकड़े रहते हैं जिनसे उपन्यास पूर्णतया स्वतंत्र हैं। साथ ही हम यह भी कह चुके हैं कि उपन्यास की अपेक्षा नाटक में यह विशेषता है कि नाटक के दृश्य-काव्य होने से उसमें जो सजीवता या प्रत्यक्षानुभव की छाया रहती है, वह उपन्यास में नहीं आ सकती। पर हाँ, नाटक और उपन्यास के मूल तत्त्व प्रायः एक ही हैं, इसलिये जो बातें उपन्यास के संबंध में कही जा चुकी हैं, उनमें से अधिकांश नाटक के लिये भी ठीक हैं। पर उपन्यासकार को जिन परिस्थितियों में काम करना पड़ता है, उनसे नाटककार की परिस्थितियाँ बिलकुल भिन्न हैं और इसी भिन्नता के कारण नाटक और उपन्यास में बहुत बड़ा अंतर पड़ जाता है। नाटक और उपन्यास के इसी अंतर को ध्यान में रखकर हम नाटक या दृश्य-काव्य का विवेचन आरंभ करते हैं। इसके उपरांत हम कुछ ऐसी बातें

नाटक और उपन्यास

बतलावेंगे जो नाटक और उपन्यास में पाई तो समान रूप से ही जाती हैं, पर जिनका उल्लेख हमने जान-बूझकर उपन्यास के प्रकरण में इसलिये नहीं किया था कि नाटक का विवेचन करते समय ही वे सहज में समझाई जा सकती हैं।

सब से पहले हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नाटक दृश्य-काव्य है और उसकी इसी विशेषता के कारण उसकी रचना के सिद्धांतों आदि में भी कुछ विशेषताएँ आ जाती हैं। उपन्यास की रचना केवल पढ़ने के लिये होती है, पर नाटकों की रचना रङ्गशाला में अभिनय करने के लिये होती है। उपन्यास की रङ्गशाला तो उसी में होती है, पर नाटक की रङ्गशाला उससे बाहर और अलग होती है। महाकाव्य और गद्य-काव्य तो हमें किसी बात की सूचना मात्र देकर रह जाते हैं, पर नाटक हमें दूसरों का अनुकरण या नकल करके हमें सब बातें प्रत्यक्ष कर दिखलाते हैं। जब हम कोई उपन्यास या और कोई काव्य पढ़ने बैठते हैं, तब हम वे सब बातें अनायास ही समझ लेते हैं। उनके अतिरिक्त हमें और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। पर जब हम कोई नाटक हाथ में लेकर पढ़ने बैठते हैं, तब वह हमें उपन्यास के समान सर्वांग-पूर्ण नहीं जान पड़ता, बल्कि हमें उस नाटक के लिये किसी और बात की आवश्यकता भी प्रतीत होती है। हमें कुछ ऐसे तत्त्वों की अपेक्षा होती है जो उसके केवल छपे हुए रूप में हमें

नाटकों की विशेषता

नहीं मिलते)। विना अभिनय के वह हमें कुछ अधूरा जान पड़ता है। और वास्तव में वह अधूरा होता भी है; क्योंकि विना अभिनय के हमें उसके लेखक की वास्तविक योग्यता और छिपे हुए भावों आदि का पता नहीं चलता। (नाटक में स्वयं नाटककार को कुछ कहने या टीका-टिप्पणी आदि करने का अधिकार तो होता ही नहीं, इसलिये नाटक पढ़ने में हमें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। केवल पुस्तक रूप में पढ़कर न तो हम नाटक के पात्रों से भली भाँति परिचित हो सकते हैं, न उनके उद्देश्यों; विचारों या भावों आदि को समझ सकते हैं और न उनके कार्यों का नैतिक महत्व जान सकते हैं। (वास्तव में अभिनय ही नाटक की जान है और उसके बिना नाटक में कभी सजीवता आ ही नहीं सकती। जिस समय हम दर्शक बनकर कोई अभिनय देखते हैं, उस समय हमें नटों के हाव-भाव आदि से ही बहुत सी बातों का पता चल जाता है।) पर जब हम केवल पाठक होते हैं, तब हमें उन बातों का पता लगाने के लिये अपनी कल्पना शक्ति और अनुमान से काम लेना पड़ता है। और यदि हमारी कल्पना शक्ति में उतना बल न हुआ तो फिर हमें उसका पूरा पूरा आनंद नहीं आ सकता। इसके अतिरिक्त पुराने नाटक पढ़ते समय हमें यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि जिस समय वे नाटक बने थे और जिस देश में वे बने थे, उस समय और उस देश में रङ्गशालाओं आदि की क्या अवस्था और व्यवस्था थी; क्योंकि

नाटक की रचना बहुधा रंगशाला की परिस्थितियों के अनुसार ही होती है। इसी लिये जो लोग कालिदास या भास के नाटक पढ़ना चाहते हों, उन्हें इस बात का भी ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है कि उन कवियों के समय की रंगशालाएँ कैसी होती थीं और उनकी क्या व्यवस्था थी।

नाटक के छः तत्व—वस्तु

गद्य-काव्य के विवेचन में हमने बताया है कि उपन्यास के छः तत्व होते हैं, यथा—वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य। यही छः तत्व नाटक में भी समान रूप से पाए जाते हैं, इसलिये हम नाटक के संबंध में भी इन तत्वों पर अलग अलग विचार करेंगे। यहाँ पर हम यह कह देना उचित समझते हैं कि हमारे आचार्यों ने नाट्य के केवल तीन तत्व माने हैं—अर्थात् वस्तु, नायक और रस; और इसी आधार पर उन्होंने रूपकों के भेद और उपभेद निश्चित किए हैं। यह समझ में नहीं आता कि जिस देश में नाटकों का अत्यंत प्राचीन रूप कथोपकथन ही वेदों में रक्षित हो, उसे हमारे आचार्यों ने एक मुख्य तत्व क्यों नहीं माना। इसमें संदेह नहीं कि कथोपकथन का समावेश "नायक" तत्व में भी आ जाता है। साथ ही देश-काल का विवेचन भी इसी तत्व के अंतर्गत लाया जा सकता है। पर उद्देश्य की ओर अलग ध्यान देने की आवश्यकता है। सुगमता और स्पष्टता के विचार से हम नाटक के तत्व भी उपन्यास के अनुसार मानकर उन पर विचार करेंगे। सब से पहले कथावस्तु को

लीजिए। उपन्यासों के विस्तार के संबंध में कोई नियम निर्धारित नहीं हो सकता। उपन्यास छोटे से छोटा भी हो सकता है और बड़े से बड़ा भी। अतः उसमें सामग्री का उपयोग लेखक की इच्छा पर निर्भर करता है। वह जितना बड़ा उपन्यास चाहे, लिख सकता है और उसमें अधिक से अधिक सामग्री का उपयोग कर सकता है। पर नाटककार को यह स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। वह न तो कथावस्तु का मनमाना विस्तार कर सकता है और न मनमानी सामग्री का उपयोग कर सकता है। नाट्य साहित्य के निर्माण के प्रायः साथ ही साथ कुछ ऐसे नियम बन जाते हैं, जिनका पालन नाटककार के लिये आवश्यक होता है। उपन्यास पढ़ने में आप कई दिन, बल्कि कई महीने भी लगा सकते हैं; पर नाटक ऐसा ही होना चाहिए जो एक ही बैठक में, अथवा चार छः घंटे में देखा जा सके। इसी लिये नाटक की वस्तु मर्यादित होती है। यदि कोई ऐसा नाटक हो, जैसा कि हिंदी में चौधरी बदरीनारायण कृत "भारत सौभाग्य" नाटक है, जिसके अभिनय में सारी रात लग जाय, तो वह नाट्य कला की दृष्टि से कभी नाटक कहलाने का अधिकारी न हो सकेगा। उपन्यास को तो आप जब चाहें, तब पढ़ने के लिये उठा सकते हैं और जब चाहें तब उसे बीच में ही छोड़ सकते हैं; पर नाटक के संबंध में यह बात नहीं हो सकती। यदि नाटक के दर्शक पहर डेढ़ पहर लगातार बैठे रहने के उपरांत उकता जायँ, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

और फिर उस दशा में अच्छे से अच्छे दृश्य आदि भी उनका मनोरंजन करने में असमर्थ होंगे। यही कारण है कि यदि कोई नया या अनभिज्ञ लेखक कोई बहुत अच्छा, पर साथ ही बहुत बड़ा नाटक तैयार करता है, तो अभिनय के काम के लिये उसका एक अलग और संचित रूप तैयार किया जाता है। अतः पहला सिद्धान्त यह निकला कि नाटक यथासाध्य संक्षिप्त और ऐसा होना चाहिए जिसके अभिनय में इतना अधिक समय न लगे जिससे दर्शक ऊब जायँ। इस काम के लिये नाटककार को अपनी सारी सामग्री में से बहुत ही काम की और मुख्य मुख्य बातें चुननी पड़ती हैं; और जो बातें नितांत आवश्यक न हों, उन्हें छोड़ देना पड़ता है। अच्छा नाटककार केवल उन्हीं घटनाओं आदि के दृश्य प्रस्तुत करता है जो बहुत ही आवश्यक और महत्वपूर्ण होती हैं। पूरी रामायण को छोड़ दीजिए; उसके किसी एक कांड की सारी बातों को लेकर भी कोई अच्छा नाटक नहीं बनाया जा सकता। अच्छा और अभिनय के योग्य नाटक बनाने के लिए यह आवश्यक होगा कि उस कांड की केवल मुख्य और महत्वपूर्ण बातें ले ली जायँ और साधारण बातें छोड़ दी जायँ। अथवा उनका उल्लेख ऐसे ढंग से हो जिसमें बिना समय लगे ही दर्शकों को उनका ज्ञान हो जाय। इसी लिये हमारे यहाँ के प्राचीन आचार्यों ने कथावस्तु के दृश्य और सूच्य ये दो विभाग किए हैं। जिन घटनाओं आदि का अभिनय रंगशाला में प्रत्यक्ष रूप से दिख-

लाया जाता है, वे दृश्य कहलाती हैं; और जो बातें या घटनाएँ किसी न किसी रूप में केवल सूचित कर दी जाती हैं, उनको सूच्य कहते हैं। अतः नाटककार को उचित है कि जो बातें या घटनाएँ प्राचीन आचार्यों के अनुसार मधुर, उदात्त रस-पूर्ण, और आजकल की अवस्था को देखते हुए महत्वपूर्ण, आवश्यक और प्रभावशालिनी हों, उन्हींको वस्तु के दृश्य अंग में स्थान दे; और जो बातें प्राचीन आचार्यों के अनुसार नीरस अथवा अनुचित और आज-कल की अवस्था को देखते हुए निरर्थक या कम महत्व की हों, उन्हें वस्तु के सूच्य अंग में स्थान दे; अर्थात् दर्शकों को किसी प्रकार उनकी सूचना मात्र करा देनी चाहिए। बस, वस्तु के संबंध में यही मुख्य सिद्धान्त हैं जिनका नाटक लिखने के समय विशेष ध्यान रखना चाहिए। वस्तु के विस्तार और विभाग आदि का कुछ विवेचन आगे चलकर नाटकों के विभाग, प्रकार और भेद बतलाते समय किया जायगा।

वस्तु की भाँति चरित्र-चित्रण के संबंध में भी नाटक और उपन्यास में बहुत अंतर है। कुछ लोग कहा करते हैं कि नाटकों में नाट्य की ही प्रधानता होती है, इसलिये उसमें चरित्र-चित्रण को विशेष महत्व देने की आवश्यकता नहीं; और कुछ लोग यही समझकर नाटक लिख भी डालते हैं। पर ऐसा समझना बड़ी भारी भूल है। नाटकों में भी चरित्र-चित्रण का उतना ही अधिक महत्व रहता है, जितना कि

पात्र

उपन्यासों में उसे प्राप्त है। यदि किसी नाटक में केवल कोई कथानक या घटना-माला ही हो और उपयुक्त चरित्रचित्रण न हो, तो नाट्य कला की दृष्टि से उसका महत्व अमानत की इंदर-सभा से बढ़कर नहीं हो सकता। वास्तव में चरित्रचित्रण ही नाटक का सर्वप्रधान और स्थायी तत्व है। शेक्सपियर या द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों का महत्व इसी लिये है कि उनमें चरित्रचित्रण की प्रधानता है। उन नाटकों में मुख्यतः पात्रों के विचारों और भावों का विकास ही दिखलाया गया है; जो चरित्रचित्रण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। नाटक के दर्शकों पर सबसे अधिक प्रभाव और परिणाम इसी चरित्र-चित्रण का पड़ता है। यदि किसी नाटक का वस्तु-विन्यास तो बहुत अच्छा हो, पर उसमें चरित्रचित्रण का अभाव हो, तो संभव है कि साहित्य-क्षेत्र में उस नाटक का आदर हो जाय, परंतु रंगशाला में वह कभी सर्वप्रिय न हो सकेगा।

नाटक की कथावस्तु की भाँति उसका चरित्रचित्रण भी संक्षिप्त ही होना चाहिए। किसी बहुत बड़े उपन्यास के लिये तो यह बात आवश्यक होती है कि उसमें चरित्रचित्रण बहुत विस्तारपूर्वक हो, पर नाटककार को चरित्रचित्रण बहुत ही संकुचित सीमा के अंदर करना पड़ता है; क्योंकि उसे थोड़े से दृश्यों में ही चरित्रचित्रण भी करना पड़ता है और अपनी कहानी भी पूरी करनी पड़ती है। नाटकों के कथोपकथन का प्रत्येक शब्द कुछ विशेष महत्व का और अर्थपूर्ण होना चाहिए

और उसके प्रत्येक अंग का सारे नाटक से कुछ विशेष संबंध होना चाहिए। उसके प्रत्येक पात्र का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो सारी कथावस्तु को देखते हुए बहुत ही उपयुक्त और आवश्यक जान पड़े। नाटक के नायक या दूसरे प्रधान पात्रों के उन्हीं गुणों और विशेषताओं आदि का प्रदर्शन होना चाहिए जिनका सारे नाटक पर विशेष प्रभाव पड़ता हो। चरित्रचित्रण आदि में नाटककार को एक ऐसी कठिनता का सामना करना पड़ता है जिससे उपन्यास-लेखक बिलकुल मुक्त रहता है। उपन्यास-लेखक तो समय समय पर स्वयं भी अपने उपन्यास के पात्रों में सम्मिलित हो जाता है और उनके भाव तथा विचार आदि स्पष्ट करने के लिये उनके संबंध में टीका-टिप्पणी भी करता चलता है। पर नाटककार को अपनी ओर से कुछ भी कहने का अधिकार नहीं होता। विशेषतः जिस अवसर पर नाटककार को अपने किसी पात्र के बहुत सूक्ष्म भावों का प्रदर्शन करना पड़ता है, उस समय तो उसकी कठिनता और भी बढ़ जाती है।

अब हमें यह तो मालूम हो गया कि उपन्यास और नाटक के चरित्रचित्रण में कहाँ और कितना अंतर होता है। पर अब प्रश्न यह उठता है कि नाटक का चरित्रचित्रण होना कैसा चाहिए। जिन अवसरों पर उपन्यास-लेखक अपनी ओर से बहुत सी आवश्यक बातें कह डालता है, उन अवसरों पर नाटककार को क्या करना चाहिए। इसका उत्तर यही है

कि नाटककार को स्वयं अपनी कथावस्तु और पात्रों के कथोपकथन से ही यह काम लेना चाहिए और यह दिखलाना चाहिए कि किस पात्र का रंग-ढंग कैसा है। यह कहा जा सकता है कि उपन्यास-लेखक भी तो अपने उपन्यास की कथावस्तु और पात्रों के कथोपकथन से ही अपने पात्रों का चरित्र चित्रित करता है। यह ठीक है, परंतु अंतर यह है कि उपन्यासकार को आवश्यकता पड़ने पर इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता होती है कि वह अपनी ओर से भी टीका-टिप्पणी अथवा स्पष्टीकरण कर दे। गद्य-काव्य के विवेचन में हम यह बतला चुके हैं कि उपन्यास के चरित्रचित्रण में विश्लेषात्मक या साक्षात् और अभिनयात्मक या परोक्ष इन दो उपायों का अवलंबन किया जाता है। विश्लेषात्मक प्रणाली में उपन्यास-लेखक समय समय पर आप ही अपने पात्रों के भावों और विचारों की व्याख्या करने लग जाता है; पर अभिनयात्मक में वह मानों आप अलग खड़ा रहता है और स्वयं पात्रों को अपने कथन और व्यापार से तथा उनके संबंध में दूसरे पात्रों की टीका-टिप्पणी तथा सम्मति से चरित्रचित्रण करने देता है। परंतु नाटककार को पहले प्रकार की स्वतंत्रता बिलकुल नहीं होती और उसके सारे चरित्रचित्रण का एक मात्र आधार अभिनयात्मक ही होता है; और इसी लिये नाटक के चरित्र-चित्रण में उपन्यास के चरित्रचित्रण की अपेक्षा विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है।

उपन्यास और नाटक दोनों में कथावस्तु बहुत कुछ चरित्र-चित्रण के आश्रित होती है। अनेक अवसरों पर तो हमें कथा-वस्तु से ही पात्रों के नैतिक और मानसिक गुणों का परिचय मिलता है। कुछ विशेष भावों और विचारों से प्रेरित कुछ विशेष स्वभाववाले लोग ऐसी परिस्थिति में लाकर रखे जाते हैं जिसके कारण उनमें कुछ विशेष प्रकार के संबंध या विरोध स्थापित हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कथा के विकास के साथ ही साथ हमें यह मालूम होता चलता है कि उन लोगों के स्वभाव, प्रवृत्तियाँ, उद्देश्य और विचार आदि क्या और कैसे हैं। बल्कि हम यह कह सकते हैं कि कथावस्तु या उनकी घटनाएँ आदि एक प्रकार से चरित्र के विकास का एक दूसरा रूप ही हैं। इसलिये चरित्रचित्रण और घटनाक्रम ऐसा होना चाहिए जो आप ही दर्शकों को सब बातों का ज्ञान प्राप्त करा दे और उन्हें कथोपकथन या नाट्य आदि से विशेष सहायता लेने की आवश्यकता न पड़े। अर्थात् यदि हम पात्रों के कथोपकथन आदि पर कुछ विशेष ध्यान न दें, तो भी हमें केवल वस्तु और चरित्र के विकास से ही नाटक की सब बातों का पता लग जाय और हम जान लें कि नाटक का कौन पात्र कैसा है।

यों तो, अच्छे नाटकों में, केवल वस्तु और पात्र से ही नाटक की मुख्य मुख्य बातों का पता चल जाता है, पर कथोप-कथन से हमें उसकी सूक्ष्म बातें समझने में भी सहायता

मिलती है। पात्रों के भावों, विचारों और प्रवृत्तियों आदि के विकास और विरोध आदि का बहुत कुछ पता हमें कथोपकथन से भी चलता है। कुछ नाटक ऐसे होते हैं जिनमें मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का विशेष ध्यान रखकर चरित्रचित्रण किया जाता है और कथावस्तु का संबंध कुछ ऐसी बातों के साथ भी होता है जो प्रत्यक्ष अभिनय में नहीं आतीं। उस अवस्था में कथोपकथन मानों अभिनय का एक प्रधान अंग हो जाता है। ऐसे नाटकों में कथोपकथन का महत्व और भी बढ़ जाता है; क्योंकि कथावस्तु का सारा विकास और उसकी व्याख्या उस कथोपकथन पर ही अवलंबित रहती है। परंतु फिर भी साधारणतः उपन्यास की भाँति नाटक में कथोपकथन का प्रत्यक्ष संबंध चरित्रचित्रण के साथ ही है। प्रायः उपन्यासों में भी किसी विषय की व्याख्या या स्पष्टीकरण आदि के लिये कथोपकथन का ही सहारा लिया जाता है और लेखक की टीका-टिप्पणी अपेक्षाकृत कुछ कम ही होती है। पर नाटकों में तो लेखक को अपनी ओर से कुछ कहने या टीका-टिप्पणी आदि करने का कोई अधिकार ही नहीं होता; इसलिये व्याख्या या टीका-टिप्पणी आदि का सारा काम केवल कथोपकथन से हो लिया जाता है। इस प्रकार कथोपकथन भी चरित्रचित्रण का एक साधन सिद्ध होता है।

कथोपकथन

कथोपकथन के द्वारा दो प्रकार से चरित्रचित्रण होता है।

उपन्यास और नाटक दोनों में कथावस्तु बहुत कुछ चरित्र-चित्रण के आश्रित होती है। अनेक अवसरों पर तो हमें कथा-वस्तु से ही पात्रों के नैतिक और मानसिक गुणों का परिचय मिलता है। कुछ विशेष भावों और विचारों से प्रेरित कुछ विशेष स्वभाववाले लोग ऐसी परिस्थिति में लाकर रखे जाते हैं जिसके कारण उनमें कुछ विशेष प्रकार के संबंध या विरोध स्थापित हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कथा के विकास के साथ ही साथ हमें यह मालूम होता चलता है कि उन लोगों के स्वभाव, प्रवृत्तियाँ, उद्देश्य और विचार आदि क्या और कैसे हैं। बल्कि हम यह कह सकते हैं कि कथावस्तु या उनकी घटनाएँ आदि एक प्रकार से चरित्र के विकास का एक दूसरा रूप ही हैं। इसलिये चरित्रचित्रण और घटनाक्रम ऐसा होना चाहिए जो आप ही दर्शकों को सब बातों का ज्ञान प्राप्त करा दे और उन्हें कथोपकथन या नाट्य आदि से विशेष सहायता लेने की आवश्यकता न पड़े। अर्थात् यदि हम पात्रों के कथोपकथन आदि पर कुछ विशेष ध्यान न दें, तो भी हमें केवल वस्तु और चरित्र के विकास से ही नाटक की सब बातों का पता लग जाय और हम जान लें कि नाटक का कौन पात्र कैसा है।

यों तो, अच्छे नाटकों में, केवल वस्तु और पात्र से ही नाटक की मुख्य मुख्य बातों का पता चल जाता है, पर कथोप-कथन से हमें उसकी सूक्ष्म बातें समझने में भी सहायता

मिलती है। पात्रों के भावों, विचारों और प्रवृत्तियों आदि के विकास और विरोध आदि का बहुत कुछ पता हमें कथोपकथन से भी चलता है। कुछ नाटक ऐसे होते हैं जिनमें मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का विशेष ध्यान रखकर चरित्रचित्रण किया जाता है और कथावस्तु का संबंध कुछ ऐसी बातों के साथ भी होता है जो प्रत्यक्ष अभिनय में नहीं आतीं। उस अवस्था में कथोपकथन मानों अभिनय का एक प्रधान अंग हो जाता है। ऐसे नाटकों में कथोपकथन का महत्व और भी बढ़ जाता है; क्योंकि कथावस्तु का सारा विकास और उसकी व्याख्या उस कथोपकथन पर ही अवलंबित रहती है। परंतु फिर भी साधारणतः उपन्यास की भाँति नाटक में कथोपकथन का प्रत्यक्ष संबंध चरित्रचित्रण के साथ ही है। प्रायः उपन्यासों में भी किसी विषय की व्याख्या या स्पष्टीकरण आदि के लिये कथोपकथन का ही सहारा लिया जाता है और लेखक की टीका-टिप्पणी अपेक्षाकृत कुछ कम ही होती है। पर नाटकों में तो लेखक को अपनी ओर से कुछ कहने या टीका-टिप्पणी आदि करने का कोई अधिकार ही नहीं होता; इसलिये व्याख्या या टीका-टिप्पणी आदि का सारा काम केवल कथोपकथन से ही लिया जाता है। इस प्रकार कथोपकथन भी चरित्रचित्रण का एक साधन सिद्ध होता है।

कथोपकथन

कथोपकथन के द्वारा दो प्रकार से चरित्रचित्रण होता है।

एक तो कुछ पात्रों के आपस के कथोपकथन से उनके चरित्र का परिचय मिलता है और दूसरे जब कोई पात्र किसी दूसरे पात्र का कोई उल्लेख या वर्णन करता है, तब उस उल्लेख या वर्णन से भी उस दूसरे पात्र के चरित्र का ज्ञान होता है। साधारणतः किसी पात्र की बातचीत से ही उसके चरित्र और आचरण आदि का बहुत कुछ पता लग जाता है। जो नाटककार मनोविज्ञान के सिद्धांतों के आधार पर ही अपने नाटकों की रचना या पात्रों का चरित्र-चित्रण करते हैं, उनका मुख्य आधार प्रायः कथोपकथन ही हुआ करता है। कुछ दर्शक ऐसे होते हैं जो विस्तृत कथोपकथन से जल्दी घबरा जाते हैं और जो यह चाहते हैं कि एक के पीछे एक घटनाएँ ही होती चली जायँ। ऐसे लोगों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कुछ विशेष प्रकार के अच्छे नाटकों में केवल चरित्रचित्रण के लिये ही कथोपकथन का विस्तार किया जाता है। पर हाँ, यह विस्तार वहीं तक क्षम्य है जहाँ तक वह अस्वाभाविक न हो और चरित्रचित्रण में सहायक होता रहे। यदि किसी पात्र से स्वयं उसी के संबंध में कोई बात कहलानी हो तो वह उससे अनजान में, सहज में, प्रसंग लाकर और ऐसे ढंग से कहलानी चाहिए जिसमें वह अस्वाभाविक न जान पड़े। कभी कभी ऐसा भी होता है कि आरम्भ में हमें किसी पात्र के भावों, उद्देश्यों या विचारों आदि का कुछ भी वास्तविक ज्ञान नहीं होता; और कुछ दूर आगे

कथोपकथन के प्रकार

बढ़ने पर धीरे धीरे अथवा अचानक हमें उसके विचारों और भावों आदि का पता लग जाता है। आरंभ में तो हम किसी पात्र को बहुत ही साधु और सच्चरित्र समझते हैं; पर आगे चलकर हमें पता चलता है कि वह बड़ा भारी धूर्त और ढोंगी है। उस दशा में हमारा ध्यान फिर उसकी सारी पिछली बातों की ओर जाता है और हम आदि से अंत तक की उसकी सब बातों का मिलान करते हैं। पर अच्छे नाटककार, कुछ विशेष अवसरों को छोड़कर, साधारणतः इसी बात का उद्योग करते हैं कि प्रधान पात्रों के जिन मुख्य गुणों पर कथावस्तु आश्रित रहती है, उन गुणों का दर्शकों को जहाँ तक हो सके, शीघ्र और स्पष्ट ज्ञान हो जाय। पर यदि नाटककार अपने किसी पात्र का कोई विशेष गुण या स्वभाव आरंभ में गुप्त रखना चाहता हो और फिर सहसा उसे प्रकट करके दर्शकों को चकित करना चाहे, तो अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये उसे आरंभ से ही ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिसमें पात्र का वास्तविक स्वरूप प्रकट होने पर दर्शकों को आश्चर्य के साथ ही साथ अपूर्व आनंद भी हो और वे समझ लें कि इस पात्र में यह परिवर्तन, इसकी अमुक अमुक बातों को देखते हुए, इसके स्वभाव और आचरण आदि के अनुरूप ही हुआ है।

किसी पात्र का अधिकांश चरित्र-चित्रण प्रायः उसी की बात-चीत से होना चाहिए; और आवश्यकता पड़ने पर उसे और अधिक स्पष्ट करने के लिये दूसरों के मुँह से भी उसके

संबंध में कुछ कहला देना चाहिए। उनमें का कोई वाक्य परस्पर विरोधी नहीं होना चाहिए और सभी कथनों से प्रायः एक अभिप्राय निकलना चाहिए। हाँ, किसी पात्र के विरोधी या शत्रु के मुँह से और और प्रकार की बातें अवश्य कहलाई जाती हैं। उदाहरणार्थ यदि शिवाजी के संबंध का कोई नाटक हो तो उसमें चाहे औरंगजेब और उसके कुछ साथियों के मुँह से शिवाजी के संबंध में भले ही कुछ उलटी-सीधी बातें कहलाई जा सकती हैं; पर शेष अधिकांश पात्रों के मुँह से ऐसी ही बातें कहलानी चाहिएँ जिनसे शिवाजी के वास्तविक चरित्र-चित्रण में ही सहायता मिलती हो और जो बातें आपस में एक दूसरी का समर्थन और पुष्टि करती हों।

हमारे यहाँ के प्राचीन आचार्यों ने कथोपकथन या दृश्य वस्तु के तीन भाग किए हैं—नियत श्राव्य, सर्वश्राव्य और अश्राव्य। जिस समय रंगमंच पर कई पात्र होते हैं, उस समय यदि उनमें से कोई पात्र बाकी पात्रों से छिपाकर केवल कुछ नियत पात्रों से ही कुछ कहता है, तो उसे नियत श्राव्य कहते हैं; और यदि वह सभी पात्रों को सुनाने के लिये कोई बात कहता है, तो उसके कथन को सर्वश्राव्य कहते हैं। पर कभी कभी ऐसा भी होता है कि वह इस प्रकार कोई बात कहता है मानों वह किसी को सुनाना नहीं चाहता और न कोई उसकी बात सुनता ही है। ऐसे कथन को अश्राव्य, स्वगत या आत्म-

स्वगत कथन

गत कहते हैं। हम ऊपर जिस कथन का उल्लेख कर आए हैं, वह नियत श्राव्य और सर्वश्राव्य दोनों के अंतर्गत आ सकता है। पर अब हम अश्राव्य या स्वगत के संबंध में कुछ कहना चाहते हैं। जिस अवसर पर उपन्यास-लेखक स्वयं अपनी ओर से प्रत्यक्ष टीका-टिप्पणी करता है, उस अवसर पर नाटककार इस अश्राव्य या स्वगत कथन से काम लेता है। कथन के इस प्रकार का उद्देश्य बहुत ही स्पष्ट है। इस कथन-प्रकार के द्वारा नाटककार हमें उस पात्र के उन आंतरिक और गूढ़ विचारों आदि से परिचित कराता है जिन्हें वह साधारण कथोपकथन में प्रकट नहीं कर सकता। कभी कभी किसी पात्र के आचरणों को समझने के लिये हमें उसके आंतरिक भावों और विचारों से भी परिचित होने की आवश्यकता पड़ती है। उपन्यास-लेखक तो स्वयं अपनी ओर से लिखकर भी हमें उन आंतरिक भावों और विचारों से परिचित करा सकता है, पर नाटककार को ऐसे अवसर पर इसी स्वगत कथन की शरण लेनी पड़ती है। स्वगत-कथन के समय पात्र मानों अपने मन में कोई बात सोचता है; और जो कुछ सोचता है, वही अपने मुँह से इस प्रकार कह चलता है, मानों और कोई उसकी बातें सुनता ही नहीं। पर वह बोलता कुछ जोर से है, इसलिये दर्शक उसकी सब बातें सुन लेते और उसके आंतरिक भावों और विचारों से अवगत हो जाते हैं। यह ठीक है कि किसी मनुष्य का आप ही आप बड़बड़ाना या

अपने आपसे बातें करना बिलकुल भद्दा और अस्वाभाविक जान पड़ता है; पर नाटक में कुछ विशेष परिस्थितियों में किसी पात्र के इस प्रकार बड़बड़ाने या अपने आपसे बातें करने की आवश्यकता पड़ती है। यदि कोई दुष्ट पात्र कोई भारी दुष्टता का काम करना चाहता है और वह किसी दूसरे पात्र को अपने विचारों से अवगत नहीं करना चाहता, तो उस दशा में इस स्वगत-कथन के अतिरिक्त और कोई ऐसा उपाय ही नहीं रह जाता, जिससे सहज में और तत्काल दर्शकों को उसके दुष्ट विचारों का पता लग सके। स्वगत कथन में पात्र मानों अपने मन में ही कोई बात सोचता या कोई बाँधनूँ बाँधता है, किसी बात का ऊँच-नीच और भला-बुरा सोचता है या इसी प्रकार का और कोई कृत्य करता है। पर जो कुछ वह मन में सोचता या समझता है, वह मानों आपसे आप उसके मुँह से निकलता चलता है। यदि उसके ये विचार नाटक के किसी दूसरे पात्र पर प्रकट हो जायँ, तो संभव है कि उसका उद्देश्य सिद्ध न हो या उसके सारे मंसूबे मिट्टी में मिल जायँ। इस लिये ऐसा कथन नाटक के दूसरे पात्रों के लिये सर्वथा अश्राव्य होता है। वास्तव में चाहे वे उसका कथन सुनते भी हों, पर उनके लिये वह रहता अन-सुना ही है। दर्शकों का नाटक की कथावस्तु से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता, इसलिये लेखक इस कथन-प्रकार के द्वारा दर्शकों पर उसके गुप्त भाव और विचार आदि प्रकट कर देता है। परंतु लेखक को, जहाँ तक

हो सके, इस स्वगत-कथन से बहुत ही थोड़ी सहायता लेनी चाहिए और जो भाव या विचार आदि नियत श्राव्य या सर्व-श्राव्य कथन के द्वारा अच्छी तरह प्रकट किए जा सकते हों, उनके लिये कभी स्वगत-कथन का सहारा न लेना चाहिए। पाश्चात्य देशों के आधुनिक साहित्यवेत्ता इस कथन-प्रकार को पुराना और अनुचित समझने लगे हैं; और इसे बचाने के लिये कुछ नाटककार आवश्यकता पड़ने पर एक नई युक्ति से काम लेने लगे हैं। वे केवल इसी लिये एक ऐसे नए पात्र का प्रवेश और बढ़ा देते हैं जो स्वगत-कथन करनेवाले पात्र का विश्वास-भाजन होता है। उस दशा में उस पात्र को स्वगत-कथन की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती और वह अपने सब आंतरिक भाव उसी विश्वसनीय व्यक्ति पर प्रकट कर देता है।

आकाश-भाषित

इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ एक और प्रकार का कथन होता है जो पाश्चात्य देशों के नाटकों में नहीं होता। इसे आकाश-भाषित कहते हैं। इसमें पात्र ऐसा नाट्य करता है मानों उससे कोई कुछ पूछ रहा है; और तब वह उसका उत्तर देता है। कभी कभी यह कथन-प्रकार बहुत उपयोगी और रोचक होता है और इससे दृश्य का सौंदर्य बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ सत्यहरिश्चंद्र नाटक में जब राजा हरिश्चंद्र बिकने के लिये काशी की गलियों में घूमते हैं और कहते फिरते हैं कि कोई हमें मोल ले ले, तब

बीच में ऊपर की ओर देखकर मानों किसी के प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—"क्या कहा ? तुम क्यों ऐसा दुष्कर कर्म करते हो ? आर्य, यह मत पूछो । यह सब कर्म की गति है ।" (फिर ऊपर देखकर) "क्या कहा ? तुम क्या कर सकते हो, क्या समझते हो और किस तरह रहोगे ? इसका क्या पूछना है । स्वामी जो कहेगा, वह करेंगे; समझते सब कुछ हैं, पर इस अवसर पर समझना कुछ काम नहीं आता; और जैसे स्वामी रखेगा, वैसे रहेंगे । जब अपने को बेच ही दिया, तब इसका क्या विचार है ।" (फिर ऊपर देखकर) "क्या कहा, कुछ दाम कम करो ? आर्य, हम लोग क्षत्रिय हैं । हम दो बातें कहाँ से जानें । जो कुछ ठीक था, वह कह दिया ।" इसी प्रकार मुद्राराक्षस में दूसरे अंक के आरंभ में मदारी आते ही कहता है—"(आकाश में देखकर) महाराज क्या कहा ? तू कौन है ? महाराज, मैं जीर्णविष नाम सँपेरा हूँ ।" (फिर आकाश की ओर देखकर) "क्या कहा कि मैं भी साँप का मंत्र जानता हूँ; खेलूँगा ? तो आप काम क्या करते हैं, यह तो कहिए ?" (फिर आकाश की ओर देखकर) "क्या कहा, मैं राज-सेवक हूँ ? तो आप तो साँप के साथ खेलते ही हैं ।" (फिर ऊपर देखकर) "क्या कहा, जैसे, मंत्र और जड़ी बिन मदारी और आँकुस बिन मतवाले हाथी का हाथीवान, वैसे ही नए अधिकार के संग्राम-विजयी राजा के सेवक ये तीनों अवश्य नष्ट होते हैं ।"

कथोपकथन के उपरांत हमारे क्रम में देश-काल का स्थान

आता है। यों तो उपन्यास में देश-काल के संबंध में जिन बातों का विचार रखना पड़ता है, प्रायः उन सभी बातों का विचार नाटक के देश-काल में भी रखना पड़ता है; पर देश-काल का विवेचन करते हुए हमें प्रसंगवश नाटक के संकलन-त्रय पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। यह संकलन काल और देश के अतिरिक्त वस्तु के संबंध में भी होता है। इनको वस्तु-संकलन, काल-संकलन और देश या स्थल-संकलन कहते हैं। यद्यपि ये तीनों संकलन प्राचीन यूनानी नाटकों के मुख्य अंग थे और अब प्रायः फ्रांसीसी नाटकों को छोड़कर और कहीं देखने में नहीं आते, तथापि इन पर भी कुछ विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। प्रायः आक्षेप किया जाता है कि भारतीय नाटकों में इस संकलन-त्रय का कुछ भी ध्यान नहीं रखा जाता। अतः यहाँ पर हम यह दिखलाने का उद्योग करेंगे कि यह संकलन-त्रय किस सीमा तक आवश्यक है और उसके उपरांत कहाँ से अनावश्यक और निरर्थक हो जाता है। इस विवेचन से यह भी सिद्ध हो जायगा कि आगे के नाटकों में इस संकलन-त्रय का कितना और कैसा विचार रखना चाहिए। प्राचीन यूनानी आचार्यों ने यह सिद्धांत स्थिर किया था कि आदि से अंत तक सारा अभिनय किसी एक ही कृत्य के संबंध में होना चाहिए, किसी एक ही स्थान का होना चाहिए और एक ही दिन का होना चाहिए। अर्थात् एक दिन में एक स्थान पर जो जो कृत्य हुए हों, उन्हीं का

संकलन-त्रय

अभिनय एक बार में होना चाहिए। नाटक-रचना का यह नियम यूनान से इटली में और इटली से फ्रांस में गया था, जहाँ बहुत दिनों तक इसका पालन होता रहा। पर थोड़ा सा विचार करने से ही हमें इस बात का पता चल जाता है कि संकलन-संबंधी यह नियम कितना भद्दा और कला की दृष्टि से कितना दूषित है। संकलन का यह नियम आज से दो हजार वर्ष पहले के यूनानियों को भले ही अच्छा लगता रहा हो, पर आज-कल यदि इस नियम के अनुसार नाटक रचे और खेले जायँ तो उनको कोई पूछे भी नहीं। हम यह नहीं कहते कि नाटक में संकलन का कुछ भी ध्यान नहीं रखना चाहिए। संकलन का ध्यान अवश्य रखना चाहिए, पर उसके कारण कला के सौंदर्य और उसकी उपयोगिता का नाश नहीं होना चाहिए। इसी बात का ध्यान रख कर शेक्सपियर ने संकलन-त्रय के इस नियम का मनमाना उल्लंघन किया था। उसके नाटकों में से प्रायः सभी में अनेक स्थानों और अनेक वर्षों की घटनाएँ आ जाती हैं। प्राचीन काल के यूनानी नाटक बहुत ही सादे होते थे और उनमें बहुधा तीन या पाँच ही पात्र हुआ करते थे। उन नाटकों में इन नियमों का पालन सहज में हो सकता था। पर आज-कल के नाटकों और रंगशालाओं की अवस्था उस समय के नाटकों और रंगशालाओं से बिलकुल भिन्न है। इसलिये इन नियमों के तद्वत् पालन की अब आवश्यकता नहीं रही है; और न अच्छे ऐतिहासिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक नाटकों में इन

नियमों का पालन संभव ही है। इन नियमों के पालन से लेखक को अपनी पूरी सामग्री का उपयोग करने का अवसर नहीं मिलता और उसकी कृति में अस्वाभाविकता आदि दोष आ जाते हैं। हाँ, नाटककार को अपनी रचना में इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि कथा का निर्वाह आदि से अंत तक बिलकुल एक समान हो; आदि से अंत तक एक ही मुख्य कथावस्तु और एक हो मुख्य सिद्धान्त हो। कुछ गौण कथावस्तुएँ और सिद्धांत भी उसमें समाविष्ट हो सकते हैं; पर उनका समावेश ऐसे ढंग से होना चाहिए जिसमें मूल कथा-वस्तु या सिद्धांत के साथ उनका ओतप्रोत संबंध स्थापित हो जाय और वे कहीं से अलग या उखड़े हुए न जान पड़ें। प्रायः पारसी नाटक मंडलियों के उर्दू नाटकों में यह बड़ा भारी दोष देखने में आता है कि वे मूल कथावस्तु में हास्य-रस-प्रधान एक और ऐसी कथावस्तु जोड़ देते हैं जिसका मूल कथावस्तु के साथ वास्तव में कुछ भी संबंध नहीं होता और जो आदि से अंत तक बिलकुल अलग रहती है। गौण या प्रासंगिक कथावस्तु के कारण मूल या अधिकारिक कथावस्तु में कभी बाधा न पड़ने देनी चाहिए; क्योंकि प्रासंगिक कथावस्तु का उद्देश्य अधिकारिक कथावस्तु की सौंदर्य-वृद्धि ही है। प्रासंगिक कथावस्तु का इतना विस्तार न होना चाहिए कि उसके आगे मूल या आधिकारिक कथावस्तु दब जाय और प्रासंगिक कथावस्तु ही आधिकारिक कथावस्तु जान पड़ने लगे।

वस्तु के संकलन के उपरांत काल या समय का संकलन आता है। काल-संकलन का यदि बिलकुल ठीक ठीक अर्थ लिया जाय तो यही सिद्धांत निकलता है कि जो कृत्य वास्तव में जितने समय में हुआ हो, उसका अभिनय भी उतने ही समय में होना चाहिए। इस नियम का अपने वास्तविक अर्थ में पालन प्राचीन यूनानियों के नाटकों को ही शोभा देता होगा, पर और कभी या कहीं यह अभीष्ट नहीं हो सकता। प्राचीन यूनानी नाटक दिन दिन और रात रात भर होते रहते थे, इसलिये यूनान के सुप्रसिद्ध तत्ववेत्ता अरिस्टाटल ने यह नियम बना दिया था कि एक दिन और रात अर्थात् चौबीस घंटों में जो जो कृत्य हुए अथवा हो सकते हों, उन्हींका समावेश एक अभिनय में होना चाहिए। पीछे से एक फ्रांसीसी नाटककार ने यह नियम बना दिया कि चौबीस नहीं बल्कि तीस घंटों में जो जो कृत्य हो सकते अथवा हुए हों, उन्हीं का समावेश एक नाटक में होना चाहिए। पर साधारणतः नाटक प्रायः तीन चार घंटे में ही पूरे हो जाते हैं, इसलिये यदि चौबीस या तीस घंटों का काम तीन चार घंटों में कर दिखलाया जाय, तो उसे भी काल-संकलन नहीं कह सकते। और यदि तीन चार घंटों के अंदर चौबीस या तीस घंटों के कृत्य दिखलाने में काल-संकलन का पालन हो सकता है, तो फिर साल छः महीने का कृत्य दिखलाने में वह क्यों बाधक होता है? इससे सिद्ध है कि संकलन का यह नियम यूनानी नाटकों की बिल-

काल-संकलन

कुल आरंभिक अवस्था में बना था और पीछे से उन लोगों ने बिना समझे-बूझे उसका पालन किया था। पर अब प्रश्न यह होता है कि नाटक-रचना में काल या समय के संकलन का कहाँ तक और किस रूप में ध्यान रखना चाहिए। हमारी समझ में नाटक की घटनाएँ चाहे एक दिन की हों, चाहे एक सप्ताह की हों, चाहे एक मास की हों, चाहे एक वर्ष की हों और चाहे इससे भी अधिक समय की हों, काल-संकलन को उसमें कभी बाधक न होना चाहिए। यदि काल-संकलन का यूनानी या फ्रांसीसी अर्थ लिया जाय तो फिर आज-कल की दृष्टि से किसी अच्छे नाटक की रचना हो ही नहीं सकती। हाँ, इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि घटनाओं का क्रम बिलकुल ठीक हो, पीछे होनेवाली घटनाओं का उल्लेख पहले होनेवाली घटनाओं या दृश्यों के पहले न हो। दूसरी बात यह है कि दो घटनाओं के बीच में जो समय वास्तव में बीता हो, उस पर दर्शकों का ध्यान न जाने पावे। मान लीजिए कि पहले अंक के पहले दृश्य में जो घटना दिखलाई गई है, नाटककार उसके दो चार महीने पीछे की कोई घटना दिखलाना चाहता है। उस दशा में उसे वह पिछली घटना तुरंत दूसरे ही दृश्य में न दिखलानी चाहिए बल्कि बीच में दो एक और दृश्य रखकर तब दिखलानी चाहिए, और इन दोनों घटनाओं या दृश्यों के बीच में या तो बीच की कुछ घटनाएँ दिखलानी चाहिएँ या और कोई प्रासंगिक कथावस्तु ला रखनी चाहिए।

यदि ऐसा न किया जायगा तो पहले दृश्य में आज की और दूसरे ही दृश्य में आज से चार या छः महीने पीछे की घटना देखकर साधारण दर्शकों के मन में भी स्वभावतः यह प्रश्न उठेगा कि इतनी जल्दी यह समय कैसे बीत गया, अथवा इस बीच की और सब घटनाएँ क्या हुईं। पर यदि उन दोनों दृश्यों के बीच में दो एक और दृश्य रख दिए जायँगे, तो फिर दोनों घटनाओं के बीच के समय की ओर दर्शकों का ध्यान बिलकुल न जायगा और उनको घटना या वस्तु के विकास में कोई अस्वाभाविकता न मिलेगी। तीसरी बात यह है कि साधारणतः नाटकों में दो चार वर्षों की घटनाएँ तो सहज में खप सकती हैं, पर इससे अधिक समय की घटनाएँ एक ही नाटक में दिखलाने के लिये रचना-संबंधी विशेष कौशल और चातुर्य की आवश्यकता होती है। वह कौशल इसी बात में है कि बीच में बीतनेवाले समय पर दर्शकों का कभी ध्यान न जाने पावे और न उनको यह बतलाने की आवश्यकता पड़े कि बीच में इतना समय बीता है। हमें स्मरण है कि एक बार एक पारसी नाटक में पहले अंक की समाप्ति के उपरांत जब फिर हम दूसरा अंक देखने के लिये जाकर बैठे, तो कथावस्तु का विकास हमारी समझ में कुछ भी न आया और हम कुछ चकित से हो गए। जब हमने कथावस्तु को ठीक तरह से समझने के लिये अपने एक मित्र से "खुलासा तमाशा" लिया, तब दूसरे अंक के आरंभ में हमने लिखा हुआ पाया—"चौदह बरस बाद के

हालात" । अब जिस दर्शक के पास यह "खुलासा तमाशा" न हो, उसकी समझ में कथावस्तु का विकास क्योंकर आ सकता है ? इसलिये घटनाक्रम ऐसा न होना चाहिए जिसमें दर्शकों को यह बतलाने की आवश्यकता पड़े कि अमुक अमुक घट-नाओं के बीच में इतने इतने समय का अंतर है। वह अंतर तो बिना बतलाए आपसे आप दर्शकों की समझ में आ जाना चाहिए और उनको यह कहने का अवसर न मिलना चाहिए कि काल-संकलन का नियम भंग हुआ। अर्थात् नाटककार को काल-संकलन का वही अर्थ लेना चाहिए जो साधारण दर्शक आदि लेते हैं। इसके अतिरिक्त नाटककार के लिये काल-संकलन का कोई नया अर्थ नहीं हो सकता।

शकुंतला नाटक के पहले अंक में राजा दुष्यंत की शकुंतला के साथ भेंट होती है। तीसरे अंक में पहले उनका मिलाप होता है और तब दोनों का बिछोह होता है। इसके उपरांत बीच में जो समय बीत जाता है, उसपर हमारा विशेष ध्यान नहीं जाता और सातवें अंक में दुष्यंत अपने कुमार सर्वदमन को सिंह के बच्चों के साथ खेलता हुआ पाते हैं। फ्रांसीसी नाटककारों के लिये ऐसा नाटक बिलकुल हास्यास्पद होगा। पर वास्तव में इसमें हँसी की कोई बात नहीं है। दर्शक जिस समय नाटक देखने के लिये बैठते हैं, उस समय वे रस में निमग्न हो जाते हैं। पर साथ ही उन्हें इस बात का भी ध्यान रहता है कि हम अभिनय देख रहे हैं। जब एक अंक की

समाप्ति पर दूसरा अंक आरंभ होता है, तब हम समझ लेते हैं कि नाटक की कथावस्तु का नया काल आरंभ हुआ है; क्योंकि नाटक के भिन्न भिन्न अंकों में भिन्न भिन्न समयों की बातों का अभिनय होता है। इसलिये हमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं होता और नाटक में केवल आनंद ही आनंद मिलता है।

शकुंतला के इस उदाहरण से सिद्ध होता है कि हमारे प्राचीन आर्य भी काल-संकलन का महत्त्व समझते और उसका ध्यान रखते थे। यही नहीं, बल्कि हमारे यहाँ काल-संकलन का कई दृष्टियों से और पूरा पूरा ध्यान रखा जाता था। हमारे यहाँ रूपक के दस प्रकार माने गए हैं। उनमें से छठा प्रकार व्यायोग है। नियम है कि व्यायोग एक ही अंक का होना चाहिए और उसमें एक ही दिन का चरित्र रखा जाना चाहिए। रूपक का सातवाँ प्रकार समवकार तीन अंकों का होना चाहिए। उसके पहले अंक में बारह घड़ियों का चरित्र या वृत्तांत, दूसरे अंक में किसी के मत से चार घड़ियों का और किसी के मत से तीन घड़ियों का वृत्तांत और तीसरे अंक में दो घड़ियों का वृत्तांत या चरित्र होना चाहिए। इसी प्रकार उपरूपक का दुर्मल्लिका नामक जो पंद्रहवाँ प्रकार है, उसमें चार अंक होते हैं। पहले अंक में विट की क्रीड़ा तीन घड़ी की, दूसरे अंक मे विदूषक का विलास पाँच घड़ी का, तीसरे अंक में पीठमर्द का विलास छः घड़ी का और चौथे

अंक में नायक की क्रीड़ा दस घड़ी की होनी चाहिए। इन नियमों से सिद्ध होता है कि भारतीय नाटकों में औरों की अपेक्षा काल-संकलन का ध्यान बहुत अधिक और अच्छे ढंग से रखा जाता था।)

अब तीसरा संकलन स्थल या देश का है। यूनानियों के स्थल-संकलन का अर्थ यह है कि रंगशाला का दृश्य आदि से अंत तक एक ही रहना चाहिए। अर्थात् नाटक की रचना ऐसी होनी चाहिए जो एक ही स्थान में, एक ही दृश्य में दिखलाई जा सके। अभिनय के बीच में रंगभूमि के दृश्य में इस नियम के अनुसार किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। यूनानियों ने यह नियम इसलिये बनाया था कि उनके नाटकों के गानेवाले आदि से अंत तक रंगभूमि पर ही उपस्थित रहते थे और बीच बीच में आवश्यकता पड़ने पर गाने लग जाते थे। उनमें अंक और गर्भांक आदि तो होते ही न थे, इसलिये नाटक के बीच में कहीं विश्राम भी न होता था। जितनी देर तक गानेवाले गीत गाते रहते थे, उतनी देर तक दर्शकों के लिये एक प्रकार से विश्राम हो जाता था; पर रंगशाला में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त उनके नाटकों की रचना भी इतनी सादी और साधारण होती थी कि उन्हें स्थल के दृश्य में विशेष परिवर्तन की आवश्यकता ही न होती थी। और (यदि किसी अच्छे नाटककार को कभी नाटक का सौंदर्य बढ़ाने के लिये दृश्य-

स्थल-संकलन

परिवर्तन की आवश्यकता भी पड़ती थी, तो वह संकलनवाले इस नियम का पालन करने के लिये उसे बचा जाता था। नाटकों में अनेक ऐसे प्रयोग होते हैं जो उनके कर्ता पात्रों के अतिरिक्त दूसरे पात्रों के सामने नहीं होने चाहिएँ। पर यूनानी नाटकों में ऐसे प्रयोग भी सभी पात्रों के सामने हुआ करते थे। यह व्यवस्था कला की दृष्टि से दूषित और साथ ही नाटक के तत्वों का ध्यान रखते हुए बहुत कुछ अस्वाभाविक थी, इसी लिये हमारे यहाँ इसका ग्रहण नहीं हुआ। इन्हीं सब बातों का विचार करते हुए अनेक विद्वानों का यह मत है कि यूनानियों या लैटिनों आदि की अपेक्षा हिन्दुओं की सृष्टि-सौन्दर्य की कल्पना अधिक ललित और वर्णन अधिक सजीव होता है।

उपन्यासों और नाटकों के पाँचवें तत्व शैली पर अलग नवें अध्याय में विचार किया गया है, इसलिये न तो हमने

उद्देश्य

गद्य-काव्य के विवेचन में ही उस पर विचार किया है और न दृश्य काव्य के विवेचन में उस पर विचार करने की आवश्यकता है, इसलिये अब हम नाटक के छठे तत्व उद्देश्य को लेते हैं। उपन्यास की भाँति नाटक के उद्देश्य से भी हमारा तात्पर्य जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना से है। इस संबंध में गद्य काव्य के विवेचन में हम जो कुछ कह आए हैं, उसे यहाँ दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। वहाँ उपन्यास के उद्देश्य के संबंध में जो कुछ कहा जा चुका है, वही नाटकों के संबंध में भी अक्षरशः ठीक

समझना चाहिए। यहाँ हम पहले यह बतलाना चाहते हैं कि नाटकों के द्वारा जीवन की व्याख्या किस प्रकार होती है और तब नाटक के उद्देश्य के संबंध में दो एक विशेष बातें बतलाने का उद्योग करेंगे।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उपन्यास-लेखक तो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकारों से जीवन की व्याख्या करता है, पर नाटककार केवल प्रत्यक्ष रूप से ही यह काम कर सकता है। एक विद्वान् का मत है कि उपन्यास जीवन की सब से अधिक विस्तृत व्याख्या है। इसके विपरीत नाटक का यह क्षेत्र बहुत ही संकुचित है; क्योंकि इसमें नाटककार को स्वयं कुछ भी कहने का अधिकार नहीं होता। उपन्यासकार तो जीवन की व्याख्या करने का सब काम स्वयं करता है, पर नाटक में जीवन की व्याख्या समझने का सारा भार पाठकों या दर्शकों के ऊपर आ पड़ता है। नाटक में नाटककार स्वयं कभी हमारे सामने नहीं आता, बल्कि किसी न किसी पात्र के रूप में आता है; और उस दशा में स्वयं दर्शकों को ही उसका अभिप्राय और उद्देश्य समझना पड़ता है। कोई पात्र जितनी बातें कहता या जितने विचार प्रकट करता है, उन सबके लिये नाटककार ही उत्तरदायी माना जाता है। इसलिये नाटक के समस्त पात्रों के कथनों का आपस में मिलान करके और उनका ठीक ठीक अभिप्राय समझकर नाटक के उद्देश्य का निर्णय किया जाता है। यदि हम किसी एक ही पात्र के किसी एक

ही कथन को लेकर यह बतलाना चाहें कि अमुक नाटक का उद्देश्य यह है, तो बहुत संभव है कि हमारा निश्चित किया हुआ सिद्धांत भ्रम-पूर्ण सिद्ध हो। पर हाँ, किसी किसी पात्र के उद्गार अवश्य ऐसे होते हैं जो वास्तव में नाटककार के हृदय से ही निकले हुए होते हैं। बस ऐसे ही उद्गारों को चुनकर हमें किसी नाटक का उद्देश्य स्थिर करना चाहिए। नाटक के जिन पात्रों के साथ हमारी सहानुभूति हो, उनके उद्गारों की तुलना ऐसे पात्रों के उद्गारों के साथ करनी चाहिए जिनके साथ हमारी सहानुभूति न हो; और तब फिर हमें नाटक का उद्देश्य स्थिर करने में कोई कठिनता न होगी। जिन पात्रों के साथ हमारी कोई सहानुभूति नहीं होती, उनके उद्गार भी हमें कभी कभी अप्रत्यक्ष रूप से नाटक का उद्देश्य और जीवन की व्याख्या समझने में सहायता देते हैं। इसी लिये हमने ऊपर कहा है कि हमें सारे नाटक पर एक साथ विचार करके नाटक का उद्देश्य या नैतिक महत्व समझना चाहिए। रंगमंच पर हमें जो सृष्टि दिखाई देती है, उसका स्रष्टा नाटककार ही होता है; इसलिये उस सृष्टि में नाटककार के भावों, विचारों और आदर्शों आदि का होना बहुत ही स्वाभाविक और अनिवार्य है। उसकी रची हुई उसी सृष्टि से हमें इस बात का पता चलता है कि वह संसार को किस दृष्टि से देखता है, उसका क्या अर्थ समझता है और नैतिक आदर्शों को कहाँ तक महत्व देता है। जीवन का जो कुछ अर्थ उसकी समझ में आता है,

वही अर्थ वह अपनी उस कृति के द्वारा लोगों को समझाने का प्रयत्न करता है। इसलिये नाटकों की सभी बातों का ठीक ठीक विश्लेषण करके उसका उद्देश्य या अभिप्राय स्थिर किया जाता है। यहाँ प्रसंगवश हम यह भी कह देना चाहते हैं कि इस दृष्टि से भारत के प्राचीन नाटक बहुत उच्च कोटि के माने जाते हैं; क्योंकि उनमें सबसे अधिक जोर जीवन की व्याख्या पर ही दिया जाता है और सर्वश्रेष्ठ नैतिक आदर्श ही उपस्थित किए जाते हैं।

अँगरेजी के सुप्रसिद्ध कवि शेली ने एक अवसर पर कहा है—"काव्य का समाज के कल्याण के साथ जो संबंध है, वह नाटक में सबसे अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। इस बात में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि जो समाज जितना ही उन्नत होता है, उसकी रंगशाला भी उतनी ही अधिक उन्नत होती है। यदि किसी देश में किसी समय बहुत ही उच्च कोटि के नाटक रहे हों और पीछे से उन नाटकों का अंत हो गया हो, अथवा उनमें कुछ दोष आ गए हों, तो समझना चाहिए कि इसका कारण उस देश का उस समय का नैतिक पतन है।" इस कथन के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार दूषित नाटक किसी जाति के नैतिक पतन के सूचक होते हैं, उसी प्रकार अच्छे नाटक नैतिक उन्नति के सूचक होते हैं; और यदि नाटक के आदर्श में उत्तरोत्तर उन्नति होती जाय तो समझना चाहिए कि देश की नैतिक

उन्नति हो रही है। इससे सिद्ध है कि नाटकों का सबसे बड़ा उपयोग नैतिक उन्नति और सामाजिक कल्याण में होता है; और नाटकों के इसी उपयोग को ध्यान में रखकर नाटक लिखे जाने चाहिएँ। आजकल के फ्रांसीसी नाटकों में विवाह, तिलाक और हरामी लड़कों के पैतृक उत्तराधिकार संबंधी दृश्य और अभिनय ही अधिकता से देखने में आते हैं; और इन नाटकों से ही इस बात का पता चल जाता है कि आजकल फ्रांसीसियों का कितना अधिक नैतिक पतन हो रहा है। जर्मन नाटकों की भी प्रायः ऐसी ही दुर्दशा है। ये सब बातें देखकर वहाँ के देश-हितैषी सज्जन बहुत दुखी हो रहे हैं और ऐसे नाटकों के नाश पर बहुत जोर दे रहे हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि यदि शीघ्र ही इस प्रकार के नाटकों और अभिनयों का अंत न होगा, तो देश, नैतिक दृष्टि से, रसातल को चला जायगा। अतः नाटक लिखते समय लेखकों को उनमें सदा ऐसे उच्च आदर्शों और सामाजिक विचारों को स्थान देना चाहिए जो देश और समाज की उन्नति में पूर्ण रूप से सहायक हों। इसी लिये हमारे यहाँ के प्राचीन आचार्यों ने कहा है कि धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि ही नाटक की कथावस्तु के फल अथवा कार्य हैं; अर्थात् नाटकों से इन तीनों अथवा इनमें से किसी एक या दो की सिद्धि होना आवश्यक है। जिस नाटक से इनमें से किसी एक की भी सिद्धि न हो, वह नाटक ही निरर्थक है। धर्म, अर्थ अथवा काम की सिद्धि का अर्थ यह है कि मनुष्य की धार्मिकता और

नीतिमत्ता बढ़े, उसमें उत्तमतापूर्वक जीवन निर्वाह करने की योग्यता आवे और उसका आचरण सुधरे।

नाटकों का ठीक ठीक विवेचन करने के लिये सबसे पहले यह समझना आवश्यक है कि नाटक के मूल सिद्धांत क्या हैं।

नाटक-रचना के सिद्धांत

बहुधा आधुनिक नाटकीय कहानियों का मूल तत्व किसी न किसी प्रकार का विरोध हुआ करता है। नाटक में दो विरोधी भाव, पक्ष, सिद्धांत या दल आदि दिखलाए जाते हैं; और उन्हीं दोनों के विरोध के साथ साथ कथावस्तु का विकास होता चलता है। साधारण नाटकों में यह विरोध प्रायः व्यक्तिगत रूप में ही सामने आता है। किसी महात्मा और दुरात्मा या किसी सच्चे वीर और दुष्ट बलवान् का विरोध और अंत में उस महात्मा या वीर आदि की विजय का दृश्य ही अधिकांश नाटकों में दिखाया जाता है। पर अच्छे नाटकों में यह विरोध और भी अनेक रूपों में दिखलाया जा सकता है। किसी वीर को अपने दुर्भाग्य अथवा विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है; और किसी विचारवान् को स्वयं अपने ही तामस भावों का दमन करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि प्रायः किसी न किसी प्रकार का विरोध या विपरीतता ही नाटक का मूल आधार होती है। नाटक में जहाँ से यह विरोध या संघर्ष आरंभ होता है, मानों वहीं से मुख्य कथावस्तु का भी आरंभ होता है; और जहाँ इस विरोध या संघर्ष का कोई परिणाम निकलता

है, वहीं मानों कथावस्तु का अंत हो जाता है। जब कथावस्तु का आरंभ और अंत निश्चित हो गया, तब हम सहज में कह सकते हैं कि इन दोनों स्थानों के मध्य में कथावस्तु का विकास किस ढंग से होता है। कथावस्तु के आरंभ से जो संघर्ष या विरोध उत्पन्न होता है, वह पहले एक निश्चित सीमा तक बढ़ता जाता है; और उस सीमा के उपरांत किसी एक पक्ष या दल की जीत आरंभ होने लगती है; और तब अंत में सद् को असद् पर अथवा असद् को सद् पर विजय प्राप्त होती है। बीच में कभी कभी अंत में विजय पानेवाला दब भी सकता है, पर फिर भी उसकी विजय-प्राप्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती। इसलिये आधुनिक पाश्चात्य साहित्यकारों ने नाटक को पाँच भागों में विभक्त किया है। पहला आरंभ, जिसमें विरोध उत्पन्न करनेवाली कुछ घटनाएँ होती हैं; दूसरा विकास, जिसमें वे विरोध और झगड़े बढ़ते हैं; तीसरा चरम सीमा, जहाँ से किसी एक पक्ष की विजय का आरंभ होता है और चौथा उतार या निगति जिसमें विजयी दल की विजय निश्चित हो जाती है; और पाँचवाँ अंत या समाप्ति, जिसमें उस विरोध या झगड़े का अंत हो जाता है। पर हमारे यहाँ के आचार्यों का मत इससे कुछ भिन्न है। विरोध और झगड़े आजकल की सभ्यता के परिणाम हैं, अथवा कम से कम इनका विकास और वृद्धि आजकल की सभ्यता में हुई है। प्राचीन भारत में भी विरोध और झगड़े थे, पर वे इतने अधिक और

प्रत्यक्ष नहीं थे कि रंगशालाओं पर उनके अभिनय की आवश्यकता होती। हमारे यहाँ के प्राचीन नाटक तो केवल धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के उद्देश्य से रचे, खेले और देखे जाते थे। इसलिये हमारे यहाँ कथावस्तु के विभाग भी कुछ और ही ढंग से किए गए हैं। हमारे यहाँ भी कथावस्तु या रूपक के आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम ये पाँच ही विभाग किए गए हैं। इन पाँचों विभागों की ऊपर बतलाए हुए पाँचों विभागों के साथ तुलना की जा सकती है और दोनों में कुछ सामंजस्य भी स्थापित किया जा सकता है। हमारे यहाँ के आचार्यों के अनुसार किसी प्रकार का फल प्राप्त करने की उत्कंठा होती है और उसी उत्कंठा से नाटक का आरंभ होता है। उस फल की प्राप्ति के लिये जो व्यापार होता है, वह यत्न कहलाता है। आगे चलकर उस फल की प्राप्ति की आशा होने लगती है जिसे प्राप्त्याशा कहते हैं। इसके उपरांत विघ्नों का नाश होता है और फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है, जिसे नियताप्ति कहते हैं; और सबके अंत में फल-प्राप्ति होती है जो फलागम कहलाती है। इससे सिद्ध है कि हमारे यहाँ के नाटकों में विरोध भाव को कभी प्रधानता नहीं दी जाती थी और उनमें केवल उद्योग और सफलता का ही महत्व प्रतिपादित होता था। तो भी यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इन दोनों प्रकार के विभागों में, इस विरोधवाले तत्व को छोड़कर, और कोई विशेष अंतर नहीं है। आरंभ और अंत अथवा

फलागम के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है। शेष बीच की तीनों अवस्थाओं में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। एक में झगड़े का विकास होता है, दूसरे में फल-सिद्धि के लिये यत्न होता है; एक में विजय का निश्चय आरम्भ होने लगता है और दूसरे में फल-प्राप्ति का; एक में विजय निश्चित होती है और दूसरे में फल-प्राप्ति। यदि दोनों में कोई मुख्य अन्तर है तो वह यह कि पाश्चात्य विद्वानों ने विरोध या संघर्ष को प्रधानता देकर अपने विषय की सीमा बहुत संकुचित कर दी है; और हमारे यहाँ के आचार्यों ने अपना क्षेत्र बहुत विस्तृत रखा है। हमारे विभाग और विवेचन के अन्तर्गत उनके विभाग और उनका विवेचन सहज में आ सकता है; पर उनके संकुचित विवेचन में हमारे विस्तृत विवेचन के लिये स्थान नहीं है।

अस्तु; अब हमें इन दोनों प्रकार के विभागों आदि का ध्यान रखते हुए यह बतलाना है कि नाटक का आरम्भ, बीच की तीनों अवस्थाओं से उसका निर्वाह और फिर उसका अंत किस प्रकार करना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों ने अपने इन्हीं पाँचो विभागों के कारण यह नियम रखा है कि नाटक में पाँच अंक हों और एक एक अङ्क में क्रम से इन पाँचों में की एक एक बात आती चले। इसका तात्पर्य यह है कि जो इन पाँचों विभागों से परिचित हो, वह सहज में नाटक की सब बातें समझता चले। हमारे यहाँ भी साधारणतः नाटक के पाँच ही अङ्क रखे गए हैं। हमारे यहाँ

कथावस्तु का निर्वाह

इस दस अंकों के भी नाटक हैं, जैसे राजशेखर-कृत बाल रामायण, पर ये महानाटक कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ नाटिका, भाण, प्रहसन, व्यायोग आदि जो अनेक भेद हैं, उनमें कुछ कम या ज्यादा अंक भी होते हैं। प्रायः बँगला नाटक भी पाँच ही अंकों के होते हैं और गुजराती तथा मराठी नाटक तीन से पाँच अंकों तक के होते हैं। उर्दू नाटकों में केवल तीन ही अंक होते हैं और हिन्दीवाले भी प्रायः तीन ही अंकों का नाटक पसंद करते हैं। यदि नाटक-रचना के सिद्धांतों और इन पाँचों विभागों का ध्यान रखा जाय, तो नाटकों में पाँच अंक रखना ही समीचीन जान पड़ेगा। पर कठिनता यह है कि जिन नाटकों में पाँच अंक होते हैं, उनमें भी अंकों के अनुसार इन पाँचों तत्वों या विभागों का स्थापन नहीं होता। किसी में तीसरे अंक तक झगड़े का विकास ही होता रहता है और किसी में चौथे अंक तक भी प्राप्त्याशा के लक्षण नहीं दिखाई देते। इसका कारण यही है कि प्रायः नाटक लिखनेवाले नाटक-रचना के इन सिद्धांतों और तत्वों से या तो अपरिचित होते हैं और या जान-बूझकर उनकी उपेक्षा करते हैं। इस अनभिज्ञता या उपेक्षा का परिणाम यह होता है कि कथावस्तु का जैसा चाहिए, वैसा निर्वाह नहीं होता। उसका कोई अंग बहुत फूला हुआ और कोई बिलकुल सूखा हुआ जान पड़ता है। यदि ऊपर के विभागों के अनुसार, दूसरे ही अंक में यत्न की समाप्ति न हो जाय और बराबर चौथे अंक तक यत्न ही यत्न होता रहे, तो यह

स्पष्ट है कि प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम सब अंतिम और पाँचवें अंक में ही ठूसे जायँगे; और दर्शकों को यह कहने का अवसर मिलेगा कि बीच में तो नाटककार ने बहुत सी बातों का अनावश्यक रूप से विस्तार किया और अंत में बहुत शीघ्रतापूर्वक उसकी समाप्ति कर दी। हम यह नहीं कहते कि नाटक के पाँचों अंकों में से क्रमशः एक एक अंक में इन पाँचों तत्वों का समावेश बिलकुल निश्चित रूप से ही होना चाहिए; क्योंकि बहुत से लोग केवल तीन या चार अंकों के नाटक ही लिखना या देखना पसंद करते हैं। हम तो केवल यही कहना चाहते हैं कि नाटक चाहे जितने अंकों का हो, पर लेखक को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि उसकी उठान, निर्वाह और अंत सब कुछ आपेक्षिक हो। ऐसा न हो कि आधे से अधिक नाटक केवल उठान की ही भेंट हो जाय और अंत में यह जान पड़े कि लेखक ठोकर खाकर मुँह के बल गिर पड़ा है। अथवा यह भी न होना चाहिए कि नाटक की उठान तो पूरी तरह से हो ही नहीं, और बीच से ही उसका अंत होने लग जाय और वह अंत जबरदस्ती खींचा-ताना और बढ़ाया जाय। यदि नाटक में इनमें से कोई दोष आवेगा और उसकी कोई बात आवश्यकता से अधिक विस्तृत या संकुचित होगी, तो उससे नाटककार की अयोग्यता सिद्ध होगी और वह नाटक नाट्य शास्त्र या कला की दृष्टि से प्रशंसनीय न हो सकेगा।

आरम्भ में दर्शकों को उन सब बातों का पूरा पूरा ज्ञान करा देना चाहिए जिनकी नाटक को समझने में आवश्यकता होती है। आरम्भ के कुछ दृश्य प्रस्तावना या विषय-प्रवेश के रूप में होने चाहिएँ; और इन्हीं दृश्यों को ठीक ठीक उपस्थित करने में सबसे अधिक योग्यता की आवश्यकता होती है। नाटक का विषय जितना ही जटिल और उसके पात्रों की संख्या जितनी ही अधिक होती है, उतनी ही इस काम में कठिनता बढ़ती है। कोई कथा, कहानी, उपन्यास या नाटक आदि लिखने में सबसे बड़ी कठिनता यही होती है कि उसे किस प्रकार आरंभ किया जाय। इस कठिनता से पार पाने का सबसे सीधा उपाय यह है कि आरम्भ में कुछ ऐसे पात्र रखे जायँ जिनके कथोपकथन से दर्शकों को नाटक के विषय आदि का कुछ आभास मिल जाय। इसके उपरांत कथावस्तु का विकास होना चाहिए और इसी विकास से पाठकों को नाटक के उद्देश्य का पता लग जाना चाहिए। यहीं से दर्शकों के मन में उत्सुकता उत्पन्न हो कर प्रायः अन्त तक बराबर बढ़ती जानी चाहिए। प्रत्येक दृश्य का कथावस्तु के विकास में एक मुख्य और महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। नाटक के मध्य में कथावस्तु अपनी चरम सीमा को पहुँच जानी चाहिए और उस समय जो घटनाएँ हों, वे पिछली घटनाओं का बिलकुल स्वाभाविक और तर्कसिद्ध परिणाम होनी चाहिएँ। कई घटना ऐसी न होनी चाहिए जो अस्वाभाविक या जबरदस्ती ठूसी हुई मालूम

हो। और तब नाटक का उतार या निर्गति आरम्भ होनी चाहिए, जिसे संस्कृत नाटककार कार्य कहते हैं। फलागम या परिणाम की सिद्धि में जो कठिनाइयाँ हों, वे यहीं से दूर होनी चाहिएँ और तब फलागम या अन्त होना चाहिए। नाटक का अन्त ऐसा न होना चाहिए जिसमें दर्शकों के मन में फिर भी किसी प्रकार की जिज्ञासा बनी रहे; और उसका वास्तव में कोई परिकाण निकालना चाहिए।

हम पहले कह चुके हैं कि आधुनिक नाटकों का आधार प्रायः किसी न किसी प्रकार का विरोध हुआ करता है। यह विरोध बहुधा दो व्यक्तियों, दलों, पक्षों या सिद्धान्तों आदि का होता है। इस विरोध का प्रदर्शन अनेक प्रकारों से और अनेक रूपों में हो सकता है। नाटकों में सदा सद् और असद् का ही विरोध दिखलाया जाता है, जिसके कारण असद् के प्रति दर्शकों में अरुचि और सद् के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है; और इसी के द्वारा दर्शकों को अनेक प्रकार की नैतिक शिक्षाएँ मिलती हैं। अतः यह विरोध ऐसे ढंग से दिखलाना चाहिए जिसमें सद् के प्रति दर्शकों की श्रद्धा बढ़े और उनके मन पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़े; क्योंकि इसी से नाटक का नैतिक महत्व सिद्ध होता है।

दर्शकों की उत्सुकता बढ़ाने और अन्त में उनको चकित करने के लिये नाटककार कभी कभी अपने नाटक में किसी गुप्त भेद या रहस्य को भी स्थान देते हैं। वे पात्रों, घटनाओं

और उद्देश्यों आदि के संबंध में पहले तो कुछ बातें छिपा रखते हैं और तब किसी उपयुक्त अवसर पर उन बातों को प्रकट करके दर्शकों को चकित कर देते हैं। इससे यह लाभ होता है कि आदि से अन्त तक दर्शकों की उत्सुकता बनी रहती है और वे बड़े ध्यान से सब बातें समझने का उद्योग करते हैं। पर नाटक में इस प्रकार कोई गुप्त भेद या रहस्य छिपा रखने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं दर्शकों को धोखा न हो जाय और वे भटककर कथावस्तु से दूर न जा पड़ें।

अब हम संक्षेप में रूपकों आदि के भेद बतला कर यह अध्याय समाप्त करते हैं। हमारे यहाँ नाट्य के दो भेद किए गए हैं। एक रूपक और दूसरा उप-रूपक। फिर रूपक के दस और उप-रूपक के अठारह अवांतर भेद रखे गए हैं। रूपक के दस भेद और उनके संबंध की कुछ बातें इस प्रकार हैं—

रूपक के भेद

(१) नाटक—यह रूपक के सब भेदों में से मुख्य है। आचार्यों के मत से इसमें पाँच संधियाँ, चार वृत्तियाँ, चौंसठ संध्यंग, छत्तीस लक्षण और तैंतीस अलंकार होने चाहिएँ। पाँच से दस तक अङ्क होने चाहिएँ। इसका नायक धीरोदात्त, कुलीन, प्रतापी और दिव्य अथवा अदिव्य हो। शृंगार, वीर अथवा करुण रस की इसमें प्रधानता हो; और संधि में अद्भुत रस आना चाहिए। (२) प्रकरण—इसमें सब बातें प्रायः नाटक की सी ही होती हैं; अन्तर केवल यही है कि

इसकी कथा बहुत उन्नत नहीं होती और इसका विषय कल्पित होता है, किसी पुराण आदि से नहीं लिया जाता। इसमें श्रृंगार रस प्रधान रहता है। (३) भाण—इसमें धूर्तों और दुष्टों का चरित्र रहता है और इससे दर्शकों को खूब हँसाया जाता है। इसमें कोई व्यक्ति अपने अथवा दूसरे के अनुभव की बातें आकाश की ओर मुँह उठाकर कहता और आप ही उन बातों का उत्तर भी देता चलता है। (४) व्यायोग यह वीर रस-प्रधान होता है और इसमें स्त्रियाँ बिलकुल नहीं अथवा बहुत कम होती हैं। इसमें एक ही अंक होता है और आदि से अंत तक एक ही कार्य्य या उद्देश्य से सब क्रियाएँ होती हैं; और एक ही दिन की कथा का वर्णन होता है। (५) समवकार—इसमें तीन अङ्क और १२ तक नायक होते हैं और सब नायकों की क्रियाओं का फल पृथक् पृथक् होता है। इसमें वीर रस प्रधान होता है। (६) डिम—यह समवकार की अपेक्षा अधिक भयानक होता है। इसमें चार अङ्क और १६ तक नायक होते हैं जो प्रायः दैत्य, राक्षस, गंधर्व, भूत, प्रेत आदि तक होते हैं। इसमें अद्भुत और रौद्र रस प्रधान होते हैं। (७) इहामृग—इसमें एक धीरोदात्त नायक और उसका प्रतिपक्षी एक प्रतिनायक होता है। दोनों एक दूसरे का अपकार करने का यत्न करते हैं। नायिका के लिये उनमें परस्पर युद्ध भी होता है। नायक को नायिका तो नहीं मिलती, पर वह मरने से बच जाता है। (८) अंक—यह करुण-रस-प्रधान होता

है और इसमें स्त्रियों के शोक का विशेष वर्णन रहता है। इसमें एक ही अंक होता है। (९) वीथी—यह भाण से बहुत कुछ मिलती-जुलती होती है और इसमें एक ही अंक तथा एक ही नायक होता है। इसमें शृंगार रस तथा विनोद और आश्चर्य-जनक बातों की प्रधानता रहती है। (१०) प्रहसन—यह भी प्रायः भाण से मिलता-जुलता होता है और इसमें कल्पित निंद्य लोगों का चरित दिखाया है। यह हास्य-रस-प्रधान होता है, पर इससे लोगों को उपदेश भी मिलता है।

उप-रूपक

उप-रूपक के हमारे यहाँ १८ भेद माने गए हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका। हमारे यहाँ के आचार्यों ने केवल नाटक के काम के लिये नायकों और नायिकाओं के अनेक भेद किए हैं और वृत्तियाँ, अलंकार तथा लक्षण आदि भी अलग नियत किए हैं। उन्होंने यह भी बतलाया है कि किन पात्रों को किन भाषाओं का प्रयोग करना चाहिए और किसे किस प्रकार का संबोधन करना चाहिए। हमारे यहाँ यह भी निर्णय किया गया है कि कौन कौन से दृश्य रंगशाला में नहीं दिखलाने चाहिएँ। जैसे लंबी यात्रा, हत्या, युद्ध, राज्य-क्रान्ति, किलों आदि का घिराव, भोजन, स्नान, संभोग, नायक या नायिका आदि की मृत्यु इत्यादि। इन सब का पूरा पूरा

विवरण जानने के लिये लक्षण-ग्रंथों का सहारा लेना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की बातें बताना हमारे उद्देश्य के बाहर है। अंत में हम इतना ही कहना यथेष्ट समझते हैं कि नाटक लिखना सहज नहीं है और इसके लिये बहुत कुछ विद्या, बुद्धि, ज्ञान तथा रचना-कौशल की आवश्यकता होती है।

आठवाँ अध्याय

रसों का विवेचन

हम पिछले अध्यायों में यह बात अनेक बेर कई स्थानों पर लिख चुके हैं कि सब प्रकार के काव्यों में जीवन-व्यापार के निरीक्षण द्वारा जिस संचित सामग्री को कवि अपने कौशल की सहायता से काव्य-कला का रूप देता है, वह बुद्धि-तत्व, कल्पना-तत्व और रागात्मक-तत्व की आश्रित रहती है। हम यह भी बता चुके हैं कि बुद्धि-तत्व से हमारा अभिप्राय उन विचारों से है जिन्हें कोई लेखक या कवि अपने विषय के प्रतिपादन में प्रयुक्त करता और अपनी कृति में अभिव्यक्त करता है। कल्पना-तत्व से हमारा अभिप्राय मन में किसी विषय का चित्र अंकित करने की शक्ति से है, जिसे कवि या लेखक अपनी कृति में प्रदर्शित करके पाठकों के हृदय-चक्षु के सम्मुख भी वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। रागात्मक-तत्व से हमारा अभिप्राय उन भावों से है जिनको कवि या लेखक का काव्य-विषय स्वयं उसके हृदय में उत्पन्न करता है और जिनका वह अपनी कृति द्वारा अपने पाठकों के हृदय में संचार करना चाहता है। ये तीनों

काव्य के तत्व

तत्व सब प्रकार के काव्य के, चाहे वह कविता हो, चाहे गद्य-काव्य हो, आधार, प्राण या अंतरात्मा हैं। इनके बिना काव्य अपना सहज, सुचारु और मनोमुग्धकारी रूप धारण नहीं कर सकता, चाहे उसमें बाहरी सजधज या बनावट-सजावट कितनी ही अधिक और कितनी ही अच्छी क्यों न हो। इस अध्याय में हम काव्य के आधारों के विषय में विवेचन करेंगे और अगले अध्याय में उसकी बाहरी सजधज के संबंध में अपने विचार प्रकट करेंगे।

इन तीनों तत्वों का परस्पर बड़ा घनिष्ठ संबंध है; और काव्य में तो इनका ऐसा संमिश्रण हो जाता है कि इनका विश्लेषण कर के इन्हें अलग अलग करना कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असंभव भी है। प्रायः देखने में आता है कि एक ही पदार्थ के देखने पर हमारे मन में विचार, कल्पना तथा मनोवेगों की एक साथ उत्पत्ति होती है। यद्यपि ये तीनों बातें भिन्न भिन्न मानसिक क्रियाओं के व्यापारों के भिन्न भिन्न रूप हैं, पर कहाँ एक की समाप्ति होकर दूसरे का आरंभ होता है अथवा उनकी उत्पत्ति का क्रम किस प्रकार है, इसका निर्णय करना और एक विभाजक रेखा खींचकर उनकी सीमाएँ निर्धारित करना असंभव है। इस कठिनाई के रहते हुए भी हम तीनों तत्वों का कुछ विवरण देना आवश्यक समझते हैं।

मनुष्य का निर्माण इतना जटिल है कि अभी तक इस

निर्माण के तत्वों को पूरा पूरा समझने और समझाने में वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों विफल रहे हैं। साधारणतः वैज्ञानिकों के मत से मनुष्य शरीर और मन का संयोग है। शरीर का निर्माण जड़ पदार्थों से हुआ है; अतएव उसके विषय में पदार्थ-विज्ञान के विद्वानों ने बहुत कुछ सूक्ष्म विवेचना की है। शरीर के व्यापार, क्रियाएँ, गुण और कार्य पदार्थ-विज्ञान के सिद्धांतों और नियमों के अनुसार होते हैं। इसलिये शरीर-शास्त्र का विवेचन तो सहज है, परंतु मन का विवेचन उतना सहज नहीं है।

अंतःकरण की वृत्तियाँ

अंतःकरण से हमारा तात्पर्य उसी भीतरी इंद्रिय से है जो संकल्प, विकल्प, निश्चय, स्मरण तथा सुख-दुःख आदि का अनुभव करती है। कार्य-भेद से अंतःकरण की चार वृत्तियाँ मानी गई हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। मन की वृत्ति से संकल्प विकल्प होता है, बुद्धि का कार्य विवेक या निश्चय करना है; चित्त का कार्य बातों का अनुसंधान करना है और अहंकार वृत्ति से संसार के अन्य पदार्थों के साथ हमारा संबंध दिखाई पड़ता है। वेदांतसार के अनुसार मन और बुद्धि के अंतर्गत अनुसंधानात्मक वृत्ति को चित्त कहा है। पंचदशी में इंद्रियों का नियंता मन माना गया है, जो आंतरिक व्यापार में स्वतंत्र है; पर वाह्य व्यापार में इंद्रियाँ परतंत्र हैं। उस ग्रंथ में अंतःकरण की उत्पत्ति पंचभूतों की गुण-समष्टि से मानी गई है और मन और बुद्धि उसकी दो वृत्तियाँ बताई गई हैं। इनमें

से मन को संशयात्मक और बुद्धि को निश्चयात्मक कहा है। वेदांत में प्राण को मन का कारण कहा है और मृत्यु होने पर उसका प्राण में लय हो जाना माना है। कई दार्शनिक ग्रन्थों में मन या चित्त का स्थान हृदय माना है।

पाश्चात्य विद्वान् अंतःकरण के सब व्यापारों का स्थान मस्तिष्क में मानते हैं जो समस्त ज्ञान-तंतुओं का केंद्र-स्थान है। खोपड़ी के भीतर जो टेढ़ी-मेढ़ी गुरियों की सी बनावट होती है, वही मस्तिष्क है। उसी के सूक्ष्म मज्जा-तंतुजाल और कोशों की क्रिया के द्वारा सारे मानसिक व्यापार होते हैं। भूतवादी वैज्ञानिकों के मत से चित्त, मन या आत्मा कोई पृथक् वस्तु नहीं है; केवल व्यापार विशेष का नाम है, जो छोटे जीवों में बहुत ही अल्प परिमाण में होता है और बड़े जीवों में क्रमशः बढ़ता जाता है। इस व्यापार का प्राण-रस के कुछ विकारों के साथ नित्य संबंध है। प्राण-रस के ये विकार अत्यंत निम्न श्रेणी के जीवों में प्रायः शरीर भर में होते हैं; पर उच्च प्राणियों में क्रमशः इन विकारों के लिये विशेष स्थान नियत होते जाते हैं और उनसे इंद्रियों और मस्तिष्क की सृष्टि होती है।

पाश्चात्य विद्वान् मन के विषय में अभी तक अपने सिद्धांत स्थिर नहीं कर सके हैं और न उसकी कोई ठीक परिभाषा ही बता सके हैं। (कोई तो कहता है कि मन वह है जो विचार करता, स्मरण करता, तर्क करता और आकांक्षा करता है। दूसरा कहता है कि जिसे हम मन कहते हैं, वह केवल भिन्न

भिन्न विषयों के इंद्रिय-ज्ञान की राशि या ढेर है, जो किसी अज्ञात संबंध से इकट्ठा हो जाता है। तीसरा कहता है कि ज्ञान-विषयक कल्पनाओं के परे मन कोई ऐसी वस्तु है जो इन कल्पनाओं को देखती, समझती और इनके विषय में कई क्रियाएँ करती है, जैसे आकांक्षा, तर्क, स्मरण आदि। चौथे महाशय मन को मनोविकारों की श्रृंखला या माला मानते हैं। पाँचवें महाशय कहते हैं कि मन का यथार्थ ज्ञान उसके मनो-राग, संकल्प और बुद्धि-विषयक तीन विशिष्ट गुणों पर विचार करने से हो सकता है।

इन सब बातों के कहने का तात्पर्य इतना ही है कि अभी तक विद्वानों ने इस संबंध में कोई ऐसा सिद्धांत नहीं स्थिर किया है जो सब को मान्य हो। हमारे यहाँ अंतःकरण से प्रारंभ करके उसकी चार वृत्तियों में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को गिना दिया है। इसमें भी चित्त को मन और बुद्धि के अंतर्गत माना है। पाश्चात्य विद्वान् मन के द्वारा अंतर्बोध का होना मानते हैं और उसके गुण मनोराग, संकल्प और बुद्धि बताते हैं।

हमारा उद्देश्य मनोविज्ञान शास्त्र का विवेचन करना नहीं है। हमारे काम के लिये तो इतना ही जान लेना यथेष्ट होगा कि मनोराग और बुद्धि ऐसी मानसिक वृत्तियाँ हैं जिनका काव्य से घनिष्ट संबंध है। विचार और कल्पना भी बुद्धि के ही अंत-र्गत आती है।

मनोविज्ञान में बुद्धि को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। मानसिक कार्यों में इसकी प्रधानता रहती है। हमारे यहाँ इसे अंतःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति माना है। इसे हम मन की चेतन शक्ति भी कह सकते हैं। इसी की सहायता से सब प्रकार के इंद्रिय-ज्ञान या मनोवेगादि का बोध होता है। जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है, तब बुद्धि के ही द्वारा उसके संबंध के विचारों की उत्पत्ति होती है। दार्शनिकों ने विचार के दो अर्थ लिए हैं। पहला अर्थ तो उन सब मानसिक स्थितियों का है जिनका बुद्धि द्वारा अंतर्बोध या ज्ञान होता है। इस अर्थ के अनुसार विचार में मनोराग, संकल्प, इच्छा आदि सब का समावेश हो जाता है। दूसरा अर्थ शब्द का वह रूप है जो वाणी द्वारा प्रकाशित किया जाता है। कुछ लोग विचार से बुद्धि के उस कार्य का अर्थ लेते हैं जो कल्पना द्वारा होता है। साहित्य-शास्त्र के लिये इन सूक्ष्म विचारों की आवश्यकता नहीं है। हमारे लिये तो इतना ही जान लेना बहुत है कि जब हमारा मन बुद्धि द्वारा किसी ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब उसके संबंध में अनेक प्रकार के भाव हमारे मन में अभिव्यक्त होते हैं। जब हम किसी नदी-तालाब, पेड़-फूल, घर-दूकान, स्त्री-पुरुष आदि को देखते हैं, तब भिन्न भिन्न मानसिक क्रियाओं के कारण हमारे मन में कुछ भाव अभिव्यक्त होते हैं। इन्हीं मानसिक भावों का नाम विचार है। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, प्रत्येक लेखक या कवि अपने विषय के प्रतिपादन में कुछ

बुद्धि

विचारों का प्रयोग करता है और उन्हें अपनी कृति में अभिव्यक्त करता है। विचारों की उत्तमता के विषय में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यदि यह गुण किसी काव्य में न हो तो वह निकृष्ट, निरुपयोगी और हानिकारक हो जाता है। अतएव विचारों की श्रेष्ठता ध्यान देने योग्य है। कवि या लेखक को इनके द्वारा समाज का हित करने की ओर सदा दत्तचित्त रहना चाहिए। पर यह तभी संभव है जब वह स्वयं परिमार्जित, संस्कृत और उच्च विचारों का केंद्र हो और अपने पाठकों के मन में उन विचारों का संचार करके उन्हें उच्च भावों से परिपूर्ण तथा उसके कारण आनंदित कर सके। काव्य में बुद्धि-तत्व का यही उद्देश्य है और इसी को काव्य में सुचारु रूप से सुव्यवस्थित करने में कवि या लेखक का कौशल तथा उसकी महत्ता अभिव्यक्त होती है।

कल्पना तत्व

काव्य का दूसरा तत्व कल्पना है। दार्शनिकों ने सब प्रकार के ज्ञान की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं—परिज्ञान, स्मरण, कल्पना, विचार और सहज ज्ञान। सबसे पहले हमें बाह्य पदार्थों का ज्ञान अपनी ज्ञानेंद्रियों अर्थात् आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा से होता है। जब हम किसी मनुष्य के सामने जाते हैं, तब हमारे नेत्रों के द्वारा उस मनुष्य का प्रतिबिंब हमारे मन पर पड़ता है। जब तक हम उस मनुष्य को देखते हैं, तब तक वह प्रतिबिंब स्पष्ट रहता है; परन्तु जब हम नेत्र बंद कर लेते हैं, तब वह प्रतिबिंब विलीन हो जाता

है। इस प्रकार के ज्ञान को "परिज्ञान" कहते हैं। यदि हमने उस मनुष्य को ध्यान से देखा है, तो पीछे से आवश्यकता पड़ने पर "स्मरण" शक्ति की सहायता से हम उस मनुष्य के रूपादि का कुछ ध्यान कर सकते हैं; परन्तु फिर भी पहले की नाईं स्पष्ट चित्र हमारे सामने नहीं आ पाता। यदि हम उसी मनुष्य को बार बार देखें और ध्यान से उसके प्रत्येक अंग की बनावट तथा उसके रूपादि को अपने मन में बैठा लें, तो फिर हमारी स्मरण-शक्ति कुछ अधिक सहायता कर सकती है और हमारे मन में उस व्यक्ति का एक स्पष्ट चित्र सा बन जाता है। यह कार्य मन की स्मरण-शक्ति के द्वारा संपन्न होता है।

मान लीजिये कि उक्त मनुष्य, जिसका हमें पहले-पहल आँखों द्वारा परिज्ञान हुआ और जिसका चित्र हम अपने मन पर स्मरण-शक्ति द्वारा खचित कर सके हैं, एक अँगरेज है। हमने एक संन्यासी को भी देखा है और हमें उस संन्यासी के रूप, आकार तथा उसके वस्त्रों के रंग का स्मरण है। अब यदि हम चाहें तो अपने मन में उस अँगरेज का सूट, बूट छीनकर उसे संन्यासी का गेरुआ वस्त्र पहना सकते हैं; और तब हमारी मानसिक दृष्टि के सामने एक अँगरेज संन्यासी का चित्र उपस्थित हो जाता है। हमने बाह्य जगत् में केवल एक साधारण अँगरेज तथा एक संन्यासी को देखा; हमारी ज्ञानेंद्रियों ने हमें उनका तद्रूप बोध कराया; और स्मरण शक्ति ने उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं को मन में अंकित कर लिया। इसके अनंतर मन

की एक विशेष क्रिया से स्मरण-शक्ति द्वारा संचित अनुभवों को विभक्त कर और फिर उनके पृथक् पृथक् भागों को इच्छानुसार जोड़कर हमने मन में एक नवीन व्यक्ति की रचना कर ली जिसका अस्तित्व बाह्य जगत् में नहीं है, परंतु जिसका बाह्य जगत् से स्वतंत्र चित्र हमारे मन में रहता है। मन की इस क्रिया को "कल्पना" कहते हैं। जो उदाहरण हमने दिया है, वह साधारण कल्पना का है। उसके आगे उस कल्पना का प्रादुर्भाव होता है जिसे 'मन की तरंग' कहते हैं। मनोरागों का अस्तित्व भी इसका प्रधान लक्षण है। इन्हीं रागों के द्वारा यह कल्पना उत्तेजित होती है और काव्यों द्वारा आनंद का उद्रेक करने में सहायक बनती है। जब यह कल्पना और उत्तेजित हो जाती है, तब वह अपनी बिलकुल नई सृष्टि खड़ी करने में भी समर्थ होती है। यह कल्पना शक्ति की पराकाष्ठा है। इसी की सहायता से प्रतिभाशाली लेखक और कवि बड़े बड़े काव्य रचने में समर्थ होते हैं। विधायक कल्पना ही संसार में नए नए वैज्ञानिक आविष्कारों को संभव कर दिखाती है और संसार का ज्ञान बढ़ाती है।

कल्पना का आनंद दो प्रकार का होता है। एक तो वह आनंद है जो पदार्थों के वास्तविक अवलोकन तथा निरीक्षण द्वारा प्राप्त होता है। जब हम किसी खुले हुए समतल मैदान, विस्तृत रेगिस्तान, आकाश-चुंबित पर्वतमाला, ऊँची ऊँची चट्टानों, विपुल जल-राशि आदि को देखते हैं, तब हमारे मन में

एक विशेष प्रकार का आनंद उत्पन्न होता है। यदि इन पदार्थों में नवीनता, असाधारणता या सुंदरता भी वर्तमान हो तो हमारे आनंद की मात्रा और बढ़ जाती है। दूसरा आनंद वह है जो ऐसे पदार्थों से उद्भूत होता है जिनको हमारी आँखों ने एक बार देखा है और जो हमारे मन में फिर से स्मरण शक्ति की सहायता से उपस्थित होते हैं। इसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वे ठीक वैसे ही पदार्थ हों जो हमें पहले आनंद देनेवाले हो चुके हैं। हमारी कल्पना में यह शक्ति है कि जिन पदार्थों को हम एक बार देखकर आकृष्ट हो चुके हैं, उन्हें हमारी कल्पना अपनी रुचि के अनुसार घटा-बढ़ाकर या परिवर्तित करके हमारी मानसिक दृष्टि के सम्मुख उपस्थित करे और इस प्रकार हमें अपनी स्वतंत्र सृष्टि का अनुभव करावे।

इस प्रकार हमारी कल्पना शक्ति हमारे पूर्व-संचित अनुभवों के संमिश्रण से एक मनोहर चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करती है और कवि या लेखक अपनी शाब्दिक शक्ति से उस चित्र का ऐसा सुन्दर वर्णन करता है जो हमारे मन को मुग्ध कर लेता है और हम पर ऐसा प्रभाव डालता है कि हम उसे काल्पनिक न समझकर वास्तविक समझने और मानने लगते हैं। अतएव कवि या लेखक के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि वह अपने काल्पनिक वर्णन में अस्वाभाविकता न आने दे। हम यह बात पहले लिख चुके हैं कि जब कल्पना अत्यंत उत्तेजित होकर नई सृष्टि के निर्माण में लग जाती है और उस सृष्टि का

कवि या लेखक अपनी मनोहर भाषा में वर्णन करता है, तब वह काव्य-कला की सहायक होकर उसे उत्कृष्ट बनाने में समर्थ होती है। अतएव पहले साधारण कल्पना उद्भूत होती है, फिर वह मन की तरंग का रूप धारण करती है; और अंत में विधायकता से संपन्न कवि-कल्पना का रूप धारण करती है। काव्यों में मन की इन्हीं तरंगों और विधायक कल्पना का विशेष रूप से प्रयोग होता है। मन की तरंगों के उदाहरण तो उत्कृष्ट काव्य में पद पद पर मिलते हैं; पर विधायक कल्पना में विशेष कौशल की आवश्यकता होती है। इसके उदाहरण संस्कृत में मेघदूत काव्य तथा हिंदी में कवि मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावती' हैं।

मनोवेग या भाव

काव्य का तीसरा तत्व मनोवेग हैं जिन्हें साधारणतः भाव कहते हैं। भाव मन में उत्पन्न होनेवाले ऐसे विशेष प्रकार के विकार नहीं हैं, जो कभी उत्पन्न हों और कभी न हों। वे मानसिक जीवन के अंग-स्वरूप होकर उसमें सदा व्याप्त रहते हैं। मन में उठी हुई कोई ऐसी तरंग ही नहीं है जिसमें भावों का लेश न हो; अथवा हम यों कह सकते हैं कि वास्तव में कोई ऐसा ज्ञान ही नहीं है जो भाव-रहित हो। इस संसार में जो कुछ ज्ञान हम प्राप्त करते हैं, वह भावों ही के द्वारा होता है। हमारा यह विचार कि "यह विद्या हमारी है" एक भाव है। इसी भाव के कारण "हम" और "तुम" का विभेद माना जाता है। भावों में एक बड़ी विशेषता

यह होती है कि मनुष्य स्वयं तो भावों का अनुभव करता है; परंतु यदि कोई दूसरा व्यक्ति उन्हीं भावों के कुछ अंशों का अनुभव करना चाहे तो यह सर्वथा असंभव है। भाव प्रत्येक व्यक्ति की अंतरात्मा का एक विशेष धर्म है। अतएव शब्दों की सहायता से इस बात का वर्णन करना असंभव है कि वास्तव में भाव क्या हैं। मनुष्य उनका केवल अनुभव कर सकता है, परंतु उनके वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकता।

भावों के प्रकार

भाव कितने प्रकार के हैं अथवा किस प्रकार से अभिव्यक्त होते हैं, इन बातों का निश्चय करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि मन क्या वस्तु है; क्योंकि भाव का संबंध वास्तव में मन से ही है। मन अंतरात्मा की एक कार्यकारिणी शक्ति है। अतएव भाव इसी कार्यकारिणी शक्ति का एक विकार मात्र हैं। इस शक्ति का परिचालन दो ओर होता है—एक सुख की ओर और दूसरा दुःख की ओर। इन दोनों के बीच में सम भावों का भी परिचालन होता है। सुख के भाव मनुष्य को अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर करते हैं और दुःख के भाव, इसके विपरीत, कार्य की गति को रोकने का प्रयत्न करते हैं।

मन में अनेक प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। इन्हीं इच्छाओं से प्रेरित होकर मनुष्य अनेक लक्ष्यों को अपने सामने रखकर तथा उन लक्ष्यों तक पहुँचकर संतुष्टि प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मनुष्य की जितनी इच्छाएँ होती हैं, उतने

ही प्रकार के भाव भी होते हैं; पर इच्छाओं की गिनती असंख्य होने के कारण भावों की गिनती का भी ठिकाना नहीं है। फिर भी मनुष्यों के विशिष्ट विशिष्ट लक्ष्यों को लेकर हम यह जानने का प्रयत्न कर सकते हैं कि वास्तव में भाव कितने प्रकार के होते हैं।

विचार करने पर हम भावों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। सबसे पहले हमें स्थूल शरीर की ओर ध्यान देना चाहिए। मन की रचना ऐसी अद्भुत है कि शरीर के किसी अंश में किसी प्रकार का विकार होते ही आत्मा की भावुकता के कारण चट उसका संवाद मन तक पहुँच जाता है। स्वयं मानव शरीर में जब किसी बात की आवश्यकता होती है, तब उसका भी संवाद मन तक पहुँच जाता है और मन उस आवश्यकता को पूरा करने के प्रयत्न में अपनी शक्ति लगाने लग जाता है। उन आवश्यकताओं के पूर्ण हो जाने पर आनंद होता है और पूर्ण न होने की अवस्था में दुःख का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार स्थूल से संबंध रखनेवाले भावों को हम प्रथम श्रेणी में स्थान देते हैं। मनोविज्ञान-वेत्ता इस प्रकार के भावों को इंद्रिय-जनित भाव कहते हैं।

मन की दूसरी शक्ति वह है जिसके द्वारा वह संसार के सब अनुभवों को एकत्र करके उनसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस ज्ञान से संबंध रखनेवाले जितने भाव हैं, उन्हें हम दूसरी श्रेणी में रखते हैं। ऐसे भावों की संज्ञा प्रज्ञात्मक भाव है।

मन अपनी तीसरी शक्ति के द्वारा मनुष्य के विचारों को एकत्र करके किसी विशेष लक्ष्य का स्वरूप खड़ा करने अथवा उस लक्ष्य को पूर्ण या प्राप्त करने में यत्नशील होता है। मन को इस शक्ति से जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें हम तीसरी श्रेणी में स्थान देते हैं और उन्हें गुणात्मक भाव कहते हैं)। अब हम इन तीनों प्रकार के भावों पर विशेष रूप से विचार करेंगे।

इन्द्रिया-जनित भाव

सबसे पहले हम अपने स्थूल शरीर से संबंध रखनेवाले प्रथम श्रेणी के इंद्रिय-जनित भावों के विषय में तत्वज्ञों के मत का सारांश देते हैं। सबसे पहला तथा सबसे सरल माध्यम, जिसके द्वारा अन्तरात्मा अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, हमारा यह स्थूल शरीर ही है। इस शरीर को हम अवयवों का एक संघटित समूह कह सकते हैं। ये अवयव एक दूसरे से भिन्न होने पर भी आपस में ऐसे मिले हुए हैं कि उनकी समस्त शक्ति का उपयोग उनके पारस्परिक संबंध ही पर निर्भर रहता है। इन अवयवों के द्वारा जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह इन सब की विभिन्नता दूर कर देता है। यदि आँखें कुछ देखती हैं तो यह पूरा शरीर उसका अनुभव करता है। यदि शरीर के किसी अङ्ग में चोट लग जाती है तो यह समस्त शरीर उसका अनुभव करता है। इसका कारण यही है कि शरीर के ये सब अङ्ग या अवयव एक ही अन्तरात्मा से संबंध रखते हैं और इनके द्वारा अन्तरात्मा को जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसी से भावों की अभि-

व्यक्ति होती है। सब वस्तुओं की कोई निर्धारित सीमा होती है। इसी प्रकार इंद्रिय-ज्ञान की भी सीमा समझनी चाहिए। अपने वेग के सीमा से अधिक या कम हो जाने के कारण वे दुःखदायी प्रतीत होने लगते हैं। जब वे अपनी सीमा में रहते हैं, तभी उनका अनुभव सुख-कर होता है। सूर्य का अधिक प्रकाश नेत्रों को दुःखदायी होता है। इसी प्रकार बहुत ही सूक्ष्म प्रकाश भी दुःखदायी होता है, परंतु बीच का या सम प्रकाश मन को सुख देनेवाला होता है। बड़े जोर की चिल्लाहट अथवा बहुत धीमी बड़बड़ाहट कानों को कष्टकर होती है। परंतु साधारण स्वर से उच्चरित वाणी प्यारी लगती है। इसका कारण यही है कि या तो स्वर अथवा प्रकाश के अधिक तीव्र होने के कारण इंद्रियों को उसे ग्रहण करने में विशेष कष्ट होता है, अथवा अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण उनको ग्रहण करने में सामर्थ्य से अधिक प्रयत्न करना पड़ता है। इन दोनों के बीच की अवस्था अथवा सम भाव होने से इंद्रियाँ उसे सहज में ग्रहण कर लेती हैं। यही कारण है कि कर्णेंद्रिय के द्वारा मन को ताल तथा लय-युक्त गान से विशेष आनंद प्राप्त होता है। इसके साथ ही किसी भाव का अधिक समय तक मन में स्थिर रहना अथवा बहुत शीघ्रता से निकल जाना भी दुःखदायी होता है। जब तक मन किसी भाव में तल्लीन रहता है, तभी तक वह सुखदायी रहता है। इसका कारण यह है कि किसी भाव के बहुत थोड़ी देर तक मन में रहने से उसमें

परिपक्वता नहीं आती और बहुत देर तक रहने से उससे जी ऊब जाता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि ज्ञान से भावों की उत्पत्ति होती है। परंतु ये भाव, जिनका हम वर्णन कर रहे हैं और जिन्हें हमने प्रथम श्रेणी में गिना है, इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। इसी लिये इन्हें इंद्रिय-जनित भाव कहते हैं। जीभ द्वारा किसी स्वादिष्ट भोजन के आस्वादन से हमें आनंद होता है और किसी बुरे स्वादवाले भोजन के चखने से दुःख होता है। शरीर के किसी अंग में कष्ट पहुचने से आलस्य होता है, उसमें व्याधि होने से चिंता होती है। इसी प्रकार इंद्रियों द्वारा केवल हर्ष, विषाद, आलस्य, चिंता इत्यादि ही नहीं बल्कि शोक, भय आदि भाव भी अभिव्यक्त होते हैं।

दूसरे प्रकार के भाव वे हैं जो मन की ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करनेवाली शक्ति से संबंध रखते हैं। इंद्रिय-जनित भावों और इन भावों में यह अंतर है कि वे सीधे इंद्रिय-ज्ञान से प्राप्त होते हैं और ये भूत, भविष्य और वर्तमान अनुभवों द्वारा उन इंद्रिय-जनित भावों को विशेष-रूप से पुष्ट करते हैं। मान लीजिए कि किसी प्रकार हमारा हाथ कट गया। अब हाथ कटने का कष्ट तो हम अवश्य अनुभव करेंगे, क्योंकि वह इंद्रिय-जनित शारीरिक कष्ट है और आवश्यभावी है; पर उस समय इस कष्ट की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाती है जब हम इस बात का विचार करते हैं कि

प्रज्ञात्मक भाव

हाथ के बिना हमारे बहुत से काम रुक जायँगे। यह विचार अनुभव द्वारा प्राप्त होता है, क्योंकि हम जानते हैं कि हाथ से बहुत से काम होते हैं; और उसके न रहने पर हमें अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ेगा। इस प्रकार के भाव हमें इंद्रिय-जनित भावों से बहुत आगे ले जाते हैं। इनसे हममें केवल इस बात का ज्ञानोत्पन्न भाव रहता है कि हमें किसी प्रकार का सुख या दुःख है। पर किस पदार्थ से यह भाव अभिव्यक्त हुआ, इससे इसका कोई संबंध नहीं है। जब हम कोई कार्य करने में अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं और बीच में कोई बाधा उपस्थित होती है, तब विषाद का भाव अभिव्यक्त होता है। ऐसे भाव संचारी भावों का काम करते हैं।

हम पहले यह कह चुके हैं कि इस प्रकार से उत्पन्न भाव भूत, भविष्य और वर्तमान अनुभवों से संस्कृत होते हैं। जिस प्रकार होनेवाले बहुत से कार्यों का हमारा ज्ञान अनुभव द्वारा संस्कृत और परिवर्धित होता है, उसी प्रकार विचारों का भी संस्कार होते होते मन को एक बान सी पड़ जाती है। जब हम पुराने अनुभवों द्वारा नए अनुभवों का संशोधन करते हैं तो चिंता रूपी भाव की उत्पत्ति होती है। यदि हमसे कोई अपराध बन पड़ा और उसी का हम विचार करने लगे तो विवाद, जड़ता आदि भावों की अभिव्यक्ति होती है। जब कई कार्यों में से किसी एक कार्य को निश्चित करना होता है, तब तर्क वितर्क आदि भावों की

अभिव्यक्ति होती है। साधारणतः ये सब भाव संचारी या व्यभिचारी भावों के समान होते हैं; पर कभी कभी ये स्थायी भाव का रूप भी धारण कर लेते हैं। यदि हमें कोई अनुभव ऐसा हो रहा हो जिससे हमारे मन में इस बात का विचार उत्पन्न हो कि जो कार्य हमारे सामने है, उसको पूरा करने की शारीरिक शक्ति हममें नहीं है, तो भय रूपी स्थायी भाव की उत्पत्ति हो जाती है। हम कह चुके हैं कि भविष्य से संबंध रखनेवाले अनुभवों के द्वारा भी भाव अभिव्यक्त होते हैं। भविष्य में क्या होनेवाला है, इस विचार से उत्पन्न भाव औत्सुक्य कहलाता है। साहस एक ऐसा भाव है जिसके द्वारा मनुष्य आनेवाली आपत्तियों का सामना करने में अपने को समर्थ समझ लेता है। इसी प्रकार भविष्य से संबंध रखनेवाले विचारों से चिंता, निराशा आदि अनेक संचारी भावों की अभिव्यक्ति होती है। सारांश यह है कि दूसरी श्रेणी के भाव, जिन्हें प्रज्ञात्मक भाव कहते हैं, ऐसे होते हैं जो मन की ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करनेवाली शक्तियों से संबंध रखते हैं और भूत, भविष्य तथा वर्तमान अनुभवों के द्वारा इंद्रिय-जनित भावों को परिपुष्ट करते हैं। साधारणतः इन्हीं भावों को साहित्य में संचारी भाव कहते हैं। कभी कभी अनुकूल स्थिति पाकर ये स्थायी भाव का रूप भी धारण कर लेते हैं। मनुष्य की अंतरात्मा की वृत्ति सदा कोई कार्य करने की ओर अग्रसर होती है। इन कार्यों में कभी तो मनुष्य सफल-मनोरथ होता है

और कभी विघ्नों के आ जाने के कारण विफल-मनोरथ होता है। यही हर्ष तथा शोकादि भावों की अभिव्यक्ति का कारण हैं। अंतरात्मा के प्रत्येक कार्य का कोई न कोई लक्ष्य होता है। उसी लक्ष्य की ओर मन नियमित रूप से अपनी विचार शक्ति का प्रयोग किया करता है। इसमें निश्चलता होने से सुख और विचलता होने से दुःख होता है।

तीसरे प्रकार के भाव वे हैं जिन्हें गुणात्मक भाव कहते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जो कार्य मन द्वारा संपादित होते हैं, वे किसी स्थूल वस्तु के विषय में होते हैं। इसलिये हमारे सब भाव उस वस्तु विशेष द्वारा अभिव्यक्त होते और उसी में लीन हो जाते हैं। वह वस्तु, जिससे भाव अभिव्यक्त होते हैं, विभाव कहलाती है। विभाव दो प्रकार के होते हैं। एक वे, जिनसे मन में किसी का चित्र उपस्थित होता है और जिन्हें आलंबन विभाव कहते हैं। ये विभाव कल्पना शक्ति की सहायता से उपस्थित होते हैं। दूसरे वे जिनसे भाव उद्दीप्त या जाग्रत होते हैं और जिन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं। वास्तव में भाव और विभाव अलग नहीं किए जा सकते। वे एक ही ज्ञान के दो अंग हैं।

गुणात्मक भाव

भाव वास्तव में दो प्रकार के होते हैं-एक सामान्य और दूसरे परिवर्धित, उद्दीप्त या तीव्र। इन्हीं परिवर्धित, उद्दीप्त या तीव्र भावों को मनोवेग या राग कहते हैं। राग किसी वस्तु विशेष या आलंबन पर ही निर्भर रहता है, परंतु सामान्य

भाव से लिये किसी आलंबन की आवश्यकता नहीं होती। किसी की चिल्लाहट से चौंक पड़ना या किसी के दुःख से विषाद-युक्त होना सामान्य भाव है। पर किसी में प्रीति या घृणा होना व्यक्ति या वस्तु विशेष पर निर्भर रहता है। इसलिये जितने प्रकार के आलंबन होंगे, उतने ही प्रकार के रागात्मक भाव भी होंगे। एक झाड़ू के संबंध में हमारा जो भाव होगा, वही भाव गुलाब के एक फूल के संबंध में नहीं होगा; कारागृह के विषय में हमारा जो भाव होगा, वह उद्यान के लिये नहीं होगा। इसका कारण यही है कि अंतरात्मा से प्रत्येक आलंबन का संबंध भिन्न भिन्न प्रकार का होगा और इन्हीं आंतरिक संबंधों के अनुसार हमारे भाव होंगे।

अब हमें इन अनुराग-जनित भावों की व्यापकता की ओर ध्यान देना चाहिए। सामान्य भाव तो इंद्रिय-जनित और अव्यापक होते हैं, पर रागात्मक भाव अधिक तीव्र और व्यापक होते हैं। इन भावों में अंतरात्मा अपनी शक्ति को बाहर आलं-बन की ओर फेंकती है। अंतरात्मा सदा उन्नति की ओर अग्रसर रहती है। इस कार्य में उसे उन बाह्य पदार्थों से सामना करना पड़ता है जिन पर उसे अनुराग होता है। ये (आलंबन दो प्रकार के होते हैं—एक वस्तु विषयक और दूसरे व्यक्ति विषयक।) सांसारिक वस्तुएँ उसके अनुभव को अवश्य बढ़ाती हैं, पर वास्तव में उसे पूरा अनुभव मनुष्यों के द्वारा ही हो सकता है; क्योंकि एक अंतरामा वास्तव में दूसरी अंतरात्मा

में अपनी प्रतिच्छाया देख सकती है और उसी के द्वारा अपना अनुभव पूर्ण करती है। व्यक्ति विषयक भाव दो प्रकार के होते हैं—एक प्रज्ञात्मक और दूसरे सौंदर्य-विवेकी। मन में सदा नए अनुभव करने की इच्छा भरी रहती है। इस को पूरा करनेवाली वृत्ति को प्रज्ञात्मक भाव कहते हैं। मनो-मुग्धकारी वस्तु-विषयक अनुभव प्राप्त करने की वृत्ति को, जिसके द्वारा मनुष्य एक आदर्श अपने सामने रखकर उसको प्राप्त करने अथवा उसके अनुकूल होने की वृत्ति अपने मन में रखता है, सौंदर्य-विवेकी भाव कहते हैं। वस्तुओं में सौंदर्य गुण रहता है। वास्तव में उसी सुन्दरता को प्राप्त करने या तज्जनित आनंद का अनुभव करने की इच्छा ही को सौंदर्य-विवेकी भाव कहते हैं।

प्रत्येक भाव से मनुष्य कुछ न कुछ अनुभव प्राप्त करता रहता है। ज्यों ज्यों भावों का व्यापकत्व बढ़ता जाता है, त्यों त्यों अनुभवों की वृद्धि होती जाती है। इंद्रिय-जनित भावों से मनुष्य केवल शरीर संबंधी सुखों के साधन प्राप्त करने में लगा रहता है; प्रज्ञात्मक भावों से वह वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने में दत्तचित्त होता है; तथा सौंदर्य-विवेकी भावों से वह किसी आदर्श का निर्माण करने अथवा उसे प्राप्त करने में प्रयत्नशील होता है। सामाजिक भाव उसे परस्पर के संबंध-जनित व्यवहारों में लगाते हैं। इसी प्रकार जब उसमें धर्म-जनित भाव का उदय होता है, तब वह पूर्णता को प्राप्त होता है। इस अंतिम

भाव में पूर्व-कथित सब भावों का मिश्रण रहता है और इसकी व्यापकता इतनी अधिक है कि ये भाव उसी मनुष्य में उत्पन्न होंगे जिसमें स्वार्थ का लेश मात्र भी न होगा।

जिस प्रकार व्यापकता में भाव उत्तरोत्तर वृद्धि लाभ करते हैं, उसी प्रकार वे गहरे भी होते जाते हैं। एक बच्चे के भाव क्षणिक होते हैं। वे शीघ्र ही अभिव्यक्त होते और शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं। पर एक बड़े मनुष्य के विचार में परिपक्वता आ जाती है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार एक ही काम के बार बार करने में उसकी बान सी पड़ जाती है, उसी प्रकार विचारों में भावों की दशा होती है। किसी भाव पर बार बार मनन करते रहने से विचार-शक्ति का झुकाव उस ओर अधिक हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि थोड़ी सी उत्तेजना मिलते ही परिपक्व अवस्था के मनुष्य का चित्त चट उस भाव को पुनः अभिव्यक्त कर देता है। मन ऐसा चंचल है कि किसी एक वस्तु पर वह पूर्ण रूप से नहीं जमता। पर एक ही वस्तु का बार बार मनन करते रहने से मन का ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि उस भाव को मन में उद्भूत करने के लिये उसे कुछ सोचने विचारने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। चित्तवृत्ति जो कि इधर-उधर बिखरी रहती है, अभ्यास के कारण आवश्यकता के उपस्थित होते ही चट मनोनीत वस्तु पर आ जमती है और थोड़ी सी उत्तेजना भी उसे जाग्रत करने में समर्थ होती

है। इसी प्रकार मन का अभ्यास बढ़ते-बढ़ते ऐसा दृढ़ हो जाता है कि वह चित्तवृत्ति आचरण का रूप धारण कर लेती है।

भाव अपने आलंबन से सदा संबद्ध रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि ये आलंबन मनुष्य में कोई कार्य करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करनेवाले हो जाते हैं। ये प्रवृत्तियाँ पुनः भावों पर अपना प्रभाव डालकर उन्हें सुदृढ़ और सुस्पष्ट बना देती हैं। उदाहरण के लिये एक बच्चे को लीजिए। वह एक नारंगी खाता है। इससे उसे आनंद प्राप्त हाता है। यह आनंद उसमें पुनः नारंगी खाने की इच्छा उत्पन्न करता है, अर्थात् प्रवृत्ति का रूप धारण करता है। इसका फल यह होता है कि उस बच्चे का हर्ष रूपी भाव उत्तरोत्तर दृढ़ और स्पष्ट होता जाता है।

जिस प्रकार भाव अनुभव द्वारा सुखदायी तथा दुःखदायी प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार वस्तु या आलंबन भी सुखदायी तथा दुःखदायी हो जाते हैं। यही प्रेम या घृणा की उत्पत्ति का मूल कारण है। ज्यों ज्यों अनुभव द्वारा अंतरात्मा की उन्नति होती जाती है, त्यों त्यों भाव भी दृढ़ और स्पष्ट होते जाते हैं। मनुष्य केवल इंद्रिय-सुख-जनित संतोष से पूर्ण सुख नहीं प्राप्त कर सकता। ऐसे सुख क्षण में उत्पन्न होते और क्षण ही में नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य भूख प्यास की संतुष्टि से उतना सुख नहीं अनुभव करता जितना कि सुंदर वस्तुओं के निरीक्षण से प्राप्त करता है। इसके अनंतर उसका प्रेम व्यक्ति विशेष और अंत

में परमात्मा पर आकर स्थिर होता है। बात यह है कि मनुष्य अपनी अंतरात्मा का अनुभव और ज्ञान प्राप्त करना, उसे समझना और प्रत्यक्ष करना चाहता है। वह बाह्य पदार्थों, जीवों और मनुष्यों में इस ज्ञान की खोज करता करता स्वयं अपनी ही अंतरात्मा तक पहुँच जाता है और उसमें वास्तविक प्रेम का साक्षात् रूप देखकर परमात्मा की ओर बढ़ता है। दार्शनिकों का मत है कि भाव जितने ही तीव्र होते हैं, उतने ही वे अस्थिर भी होते हैं और उतनी ही शीघ्रता से वे विलीन भी हो जाते हैं। भूख बहुत शीघ्र लगती है, बहुत अधिक सताती है और इष्ट पदार्थ के मिलते ही शीघ्र नष्ट भी हो जाती है।

अस्तु, दार्शनिकों के मत से भाव तीन प्रकार के होते हैं— इंद्रिय-जनित, प्रज्ञात्मक और रागात्मक। जिस वस्तु से यह भाव व्यंजित होता है, वह आलंबन या विभाव कहाती है। विभाव के कारण मन में जो विकार उत्पन्न होता है, वह शरीर की भिन्न भिन्न क्रियाओं द्वारा प्रकट होता है; जैसे रोमांच, स्वेद आदि। इन्हें अनुभाव कहते हैं। जो भाव मुख्य भावों को पुष्टि करते हैं, और जो समय समय पर मुख्य भाव का रूप धारण कर लेते हैं, उन्हें संचारी भाव कहते हैं। अतएव स्थायी या मुख्य भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव ये चारों मिलकर रस को अभिव्यक्त करते हैं।

यहाँ तक तो हमने मनोविज्ञान-वेत्ताओं के विचारों के अनुसार भावों का विवेचन किया। अब हम साहित्यज्ञों के

विचारों और सिद्धांतों के अनुसार रस का निरूपण करते हैं। इस बात के कहने की अब आवश्यकता नहीं है कि रसों की व्याख्या भावों पर अवलंबित रहती है। "भावों में चित्त की एकाग्रता विशेष रूप से रहती है। वह एकाग्रता साधारण ज्ञान में नहीं पाई जाती। भावों की स्थिति में मानसिक क्रिया अत्यंत तीव्र हो जाती है। भावों की क्रिया संचालन शक्ति भी ज्ञान की संचालन शक्ति से कहीं अधिक होती है। धर्म, अर्थ और काम सभी में भावों से काम चलता है। भावों की प्रधानता धर्म में ही नहीं, वरन् राजनीति, समाजशास्त्र और विज्ञान में भी है। हर एक विषय के लिये विशेष रस और भाव काम में आते हैं। धर्म में शांत रस की प्रधानता रहती है। राजनीति और समाज-शास्त्र में हास्य, करुण, भयानक, वीभत्स, वीर आदि सभी रसों से काम लिया जाता है। प्रजनन शास्त्र का वात्सल्य और शृंगार रस से संबंध है। विज्ञान में अद्भुत रस की प्रधानता रहती है। इतिहास में वीर रस का काम पड़ता है। तात्पर्य यह कि जीवन के प्रायः सभी विभागों में भाव और रस से काम पड़ता है। जहाँ कोई युक्ति काम नहीं देती, वहाँ भावों को उत्तेजना देकर ही काम निकाला जाता है।" इन्हीं भावों का हमारे साहित्यशास्त्र में बड़ी सूक्ष्मता से विवेचन किया गया है।

रस-निरूपण

भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में लिखा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति

होती है। हमारे दार्शनिक तथा साहित्यिक दोनों इस बात पर सहमत हैं कि "भाव" और "चित्तवृत्ति" ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। किसी काव्य या अभिनय में आदि से अंत तक स्थिर रहने के कारण इनको स्थायी भावों की संज्ञा दी गई है। जब ये भाव, विभाव, अनुभाव आदि से अभिव्यक्त होते हैं, तब इन्हें रस की संज्ञा दी जाती है। 'रस किसमें तथा कैसे अभिव्यक्त होता है, इस संबंध में बहुत मतभेद है। भट्ट लोलट्ट प्रभृति तो स्त्री, उद्यान आदि आलंबन-उद्दीपन विभावों से उद्बुद्ध, कटाक्ष-भुजक्षेपादि अनुभावों से परिवृद्ध तथा निर्वेदादि व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट स्थायी भाव की अभिव्यक्ति, मुख्य रूप से रामादि में और गौण रूप से अभिनय करनेवाले नट में मानते हैं और उन्हीं में रस की सत्ता भी स्वीकार करते हैं। उनके मत से अभिनय देखनेवालों या काव्य पढ़नेवालों से रस का कोई संबंध ही नहीं है। उनके अनुसार तो भाव उन्हीं में उत्पन्न होते हैं, जिनका भिन्न-भिन्न मानसिक क्रियाओं से साक्षात् संबंध होता है; उन क्रियाओं को देखनेवाले या उनके परिणामों का प्रत्यक्ष करानेवाले तो पत्थर के निर्जीव पदार्थ से हैं। उनके सामने कितना ही घोर अत्याचार क्यों न हो जाय, उनमें न तो क्रोध ही का और न दया, करुणा आदि का ही भाव उत्पन्न होगा। वे लोग संसार रूपी रंगशाला में केवल अपने-अपने जीवन का अभिनय करनेवाले मनुष्यों में इन रसों की अभिव्यक्ति मुख्य रूप से मानते हैं।

पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि इसका प्रभाव गौण रूप से नट में भी होता है। इनके विपरीत उन लोगों ने जो सामाजिकों अर्थात् अभिनय देखनेवालों या काव्य पढ़नेवालों में रस की अभिव्यक्ति मानते हैं, लोलट्ट भट्ट आदि के मत का समर्थन न करके रसोपयोगी ललित प्रयोग या अभिनय से उद्बुद्ध, 'शकुंतला दुष्यंत की स्त्री है' इस प्रकार के विशेष ज्ञान से रहित, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव से अभिव्यक्त, काव्य या अभिनय रूपी अलौकिक व्यापार से अज्ञान रूपी आवरण तथा अपने पराये के ज्ञान के नष्ट हो जाने पर आनंदमय आत्म-चैतन्य से प्रकाशित, तथा पुरानी वासनाओं के रूप में पहले ही से विद्यमान, रति आदि स्थायी भावों को ही रस कहा है। इन लोगों का कहना है कि आत्मा तो आनंद-स्वरूप है ही और भाव भी अंतःकरण में पहले ही से विद्यमान हैं; परंतु बीच में अज्ञान रूपी आवरण होने के कारण स्थायी भाव आनंदमय आत्म-चैतन्य से प्रकाशित नहीं होते। अभिनय या काव्य-व्यापार से यह आवरण नष्ट हो जाता है और आनंदमय आत्म-चैतन्य दीपक के समान प्रकाशमान होता हुआ अंतःकरण के धर्म-स्वरूप स्थायी भावों को प्रकाशित कर देता है। ये भाव अंतःकरण के धर्म हैं, अतएव ये सदा वर्तमान रहते हैं; न ये उत्पन्न होते हैं और न इनका नाश होता है। केवल अज्ञान रूपी आवरण नष्ट होता ओर उत्पन्न होता रहता है और इसी से वे भाव भी लीन होते और अभिव्यक्त होते जान पड़ते हैं। इनको इसी

कारण ब्रह्मानंद-सहोदर भी कहा है; क्योंकि योगियों के सदृश सहृदयों की चित्तवृत्ति काव्य या अभिनय व्यापार से अज्ञानरूपी आवरण के नष्ट होने पर आनंदमय आत्म-चैतन्य से प्रकाशित होकर आनंदित हो जाती है। योगियों और सहृदयों में भेद इतना ही है कि एक में विषयों के परित्याग से और दूसरे में विषयों के स्वाद से आनंद का प्रकाश होता है। (एक तीसरा दल विद्वानों का है जो कहता है कि काव्य या अभिनय व्यापार से अभिव्यक्त, दुष्यंत में शकुंतला की रति देखकर तथा 'शकुंतला में रति रखनेवाला दुष्यंत मैं ही हूँ' यह समझकर शब्द की व्यंजना रूपी शक्ति और अंतःकरण के संस्कार रूपी दोष से अनुभूयमान, सीपी में रजत-ज्ञान के सदृश भ्रांतिमूलक, अनिर्वचनीय आत्म-चैतन्य से प्रकाशित शकुंतला विषयक रति आदि भाव का नाम ही रस है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि रस उस लोकोत्तर आनंद का नाम है जो काव्य या अभिनय-व्यापार द्वारा उद्बुद्ध और अन्य सहायक भावों द्वारा अभिव्क्त होता है।)

अब यदि काव्य या अभिनय व्यापार से सहृदय यह समझने लगता है कि शकुंतला में रति रखनेवाला दुष्यंत मैं ही हूँ और इसी कारण वह आह्लाद का अनुभव करता है, तो जहाँ करुण रस है, वहाँ आह्लाद कैसे माना जा सकता है? वहाँ तो दुःख ही अभिव्यक्त होना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि सत्य ज्ञान से कल्पित या भ्रांतिमूलक ज्ञान का फल भिन्न होता

है, तो फिर रति विषयक आनंद की प्राप्ति भी कैसे मानी जा सकती है ? रस्सी में साँप का भ्रांतिमूलक ज्ञान होने पर भी शरीर में कँपकँपी हो जाती है। इस दशा में केवल यही कहा जा सकता है कि काव्य तथा अभिनय व्यापार में यही विशेषता है कि उससे आह्लाद तो होता है, परंतु दुःख नहीं होता। यदि किसी को आनंद के सदृश दुःख भी अनुभव होता हो तो उसको फिर किसी प्रकार की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। अब यदि यह मान लिया जाय कि काव्य या अभिनय-व्यापार में नायक-नायकांतर्गत शोक भी सहृदय पाठकों या दर्शकों में हो जाता है, तो फिर वे काव्य क्यों पढ़ते और नाटक क्यों देखते हैं ? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि यद्यपि रोटी खाने में हाथ हिलाना पड़ता है, पर फिर भी लोग रोटी खाते हैं; क्योंकि हाथ हिलाने में जो कष्ट होता है, उसकी अपेक्षा भूख की शांति में अधिक आनंद है। इसी प्रकार करुण रस-प्रधान काव्य में अनिष्ट भाग की अपेक्षा इष्ट भाम के अधिक होने से लोग उसे पढ़ने या देखने में प्रवृत्त होते हैं। जो लोग करुण रस में भी आनंद ही मानते हैं, उनको यह समझना चाहिए कि यदि रसज्ञ अभिनय या काव्य-व्यापार से रो पड़ते हैं, तो इसका कारण कष्ट या दुःख नहीं होता, बल्कि एक प्रकार का आनंद ही होता है। बहुत दिनों के बिछुड़े हुए भाई जब मिलते हैं, तब वे प्रायः गले लगकर रो पड़ते हैं। तो क्या यह माना जाय कि उनको मिलाप के कारण दुःख हुआ है ?

वास्तव में यह आनंद का ही एक रूप या उद्गार है। प्रायः भगवद्भक्त भक्ति में अतिशय लीन हो जाते हैं और रो पड़ते हैं; पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनको भगवद्भक्ति में दुःख का अनुभव हुआ है। निस्संदेह कुछ लोग कह सकते हैं कि अभिनय देखते समय "पुत्र-वियोग से दुःखित दशरथ मैं ही हूँ" इस प्रकार के कल्पित ज्ञान से यदि करुण रस में भी आह्लाद माना जाय, तो स्वप्न या सन्निपात में लोग क्यों चौंक पड़ते हैं और आह्लाद अनुभव करने के बदले क्यों रो पड़ते हैं? इसका समाधान इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि यह काव्य या अभिनय व्यापार की विशेषता है कि भिन्न भिन्न रसों का संचार होने पर भी हमें एक प्रकार के आह्लाद का ही अनुभव होता है जो नित्य प्रति होनेवाले आह्लाद से भिन्न होता है।

यहाँ यह बात ध्यानपूर्वक समझ लेनी चाहिए कि वास्तविक अनुभूत भाव में तथा काव्य के भाव में एक बड़ा भेद है। जब बहुत दिनों के बिछुड़े हुए माता पुत्र अनेक दुःख और संकट सहकर मिलते हैं, तब उनमें एक विशेष प्रकार का भाव उत्पन्न होता है। ठीक वही भाव उस समय हमारे हृदय में नहीं उत्पन्न होता जब हम उन दोनों के कष्टों, आपदाओं और आनंद का वर्णन पढ़ते हैं अथवा उसका अभिनय देखते हैं। संसार में नित्य लाखों जीव मरा करते हैं। सबके लिये हमें दुःख नहीं होता; परंतु जब हम किसी के दुःख का विशेष प्रकार से वर्णन पढ़ते, सुनते या उसका अभिनय

देखते हैं, तो हममें करुण रस का संचार हो जाता है। सारांश यह कि काव्य या अभिनय-व्यापार में देखने या पढ़नेवालों को जो अनिर्वचनीय लोकोत्तर आनंद प्राप्त होता है, उसको साहित्य शास्त्र में रस कहते हैं। यह रस भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से परिकता को प्राप्त होता है; अथवा यों कह सकते हैं कि स्थायी भावों की परिपाकावस्था का नाम ही रस है।

भावों के विषय में हम विशेष रूप से लिख चुके हैं; अतएव उनके विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

स्थायी भाव

काव्य या अभिनय में आदि से अंत तक स्थिर रहने के कारण भावों को स्थायी भाव कहा गया है। यह प्रश्न उठ सकता है कि भाव तो क्षण क्षण में बदलते रहते हैं; फिर उनमें स्थिरता कहाँ से आ सकती है? यदि यह उत्तर दिया जाय कि सब भाव संस्कार रूप से स्थिर रहते हैं और विभाव आदि से अभिव्यक्त होते हैं, तो यह कहा जा सकता है कि इस अवस्था में रति से भिन्न कोई दूसरा व्यभिचारी भाव भी वहाँ पर क्यों स्थिर नहीं हो सकता? और यदि हो सकता है तो फिर व्यभिचारी भाव और स्थायी भाव में भेद ही क्या रहा? इसका उत्तर यह है कि जब एक ही भाव वारंवार अभिव्यक्त होता है और दूसरे भाव उसे पुष्ट करते हैं, तभी वह वास्तव में स्थायी भाव कहा जाता है। दूसरे भाव तो बिजली की चमक के समान उत्पन्न होते और स्थायी भाव

को पुष्ट करके लुप्त हो जाते हैं। इसलिये साहित्य-शास्त्रियों ने कहा है—"जो विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से नष्ट न होकर समुद्र की तरह उनको अपने में समा ले, और जो चिरकाल से चित्त में संस्कार रूप से रहता हुआ विभावादि से अभिव्यक्त होकर रसत्व को प्राप्त हो, वही स्थायी भाव है।"

स्थायी भाव और रस में कोई बड़ा भेद नहीं है। स्थायी भाव का परिपाक ही रस है। कुछ विद्वानों का मत है कि घड़े तथा घड़े में विद्यमान आकाश में जो भेद है, वही भेद स्थायी भाव तथा रस में है। दूसरे लोग कहते हैं कि सीपी में रजत विषयक भ्रांतिमय ज्ञान में और सत्य रजत विषयक ज्ञान में जो भेद है, वही भेद रस तथा स्थायी भाव में भी है। कुछ विद्वान् दोनों में उतना ही भेद मानते हैं जितना कि विषय तथा विषय-ज्ञान में है। हम संक्षेप में यह कह सकते हैं कि रस के प्रधान भाव या मनोवेग को स्थायी भाव कहते हैं। इस स्थायी भाव के कारण को विभाव, कार्य को अनुभाव तथा सहकारी भाव को संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं।

हमारे साहित्य-शास्त्रियों ने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत ये नौ रस माने हैं

रसों तथा स्थायी भावों की संख्या

और रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, ग्लानि, आश्चर्य और निर्वेद इन नौ मुख्य भावों को क्रमशः उनका स्थायी भाव माना है। जो लोग नट में ही रस की अवस्थिति मानते हैं, उनके लिये यह स्वाभाविक ही

नहीं बल्कि अनिवार्य था कि वे रसों में शांत रस को और स्थायी भावों में निर्वेद को स्थान न दें। उनका कहना था कि जो नट हाव-भाव दिखाता तथा अभिनय करता है, वह शांतिमय कैसे रह सकता है? अतएव नट की शक्ति के बाहर होने से शांत रस कोई रस ही नहीं है। परंतु दूसरे लोग रस की अभिव्यक्ति नट में न मानकर सहृदयों में मानते हैं, अतएव इस रस के लिये शांत या अशांत रहने की अपेक्षा नहीं है। इस पर यह कहा जा सकता है कि दर्शकों में वैराग्य आदि भावों के होने से उनमें शांत रस का आविर्भाव नहीं हो सकता। यदि उनमें इसकी सत्ता मान भी ली जाय, तो उनका नाटक देखना विचार-संगत नहीं जान पड़ता। परंतु यह बात भूलनी न चाहिए कि मनुष्यों में सभी भाव संस्कार रूप से विद्यमान रहते हैं; और काव्य या अभिनय-व्यापार द्वारा उनमें से कोई अभिव्यक्त हो जाता है। नट में शांति या निर्वेद के न होने से जो लोग उसमें शांत रस का आविर्भाव नहीं मानते, वे उसमें क्रोधादि के अभाव में रौद्रादि का आविर्भाव कैसे मान सकते हैं? शिक्षा तथा अभ्यास से यदि नट शृंगार रस का अभिनय कर सकता है, तो शांत रस का अभिनय भी उसकी शक्ति के बाहर नहीं है। यही कारण है कि संगीतरत्नाकर में लिखा है—"जो लोग नाट्य में आठ ही रसों को मानते हैं और शांत रस को रसों की कोटि से अलग कर देते हैं, उनको यह समझ लेना

चाहिए कि इस विचार से तो कोई रस रसों की कोटि में नहीं गिना जा सकता; क्योंकि नट को किसी रस का स्वयं स्वाद नहीं लेना पड़ता।' इस झगड़े का मूल रसों की स्थिति में मतभेद है। पर जैसा कि हम कह चुके हैं, रसों की अभिव्यक्ति नाटक देखनेवालों और काव्य पढ़ने या सुननेवालों में होती है। अतएव कोई कारण नहीं है कि शांत रस और निर्वेद स्थायी भाव को हम रसों और स्थायी भावों की कोटि में न मानें।

स्थायी भावों तथा रसों का वर्गीकरण चिर काल से श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया जा रहा है। समय समय पर विद्वानों ने इसकी त्रैकालिक सत्यता में संदेह प्रकट किया है; परंतु इसमें परिवर्त्तन करने से साहित्य-शास्त्र पर कुठाराघात होता देखकर उन्होंने मौन व्रत धारण करने ही में श्रेय समझ उसमें हस्तक्षेप नहीं किया। कुछ विद्वानों ने स्थायी भावों तथा रसों की संख्या में परिवर्त्तन करने का भी उद्योग किया है। विश्वनाथ पंडितराज ने स्नेह को स्थायी भाव रखकर वत्सल रस की और रुद्रट ने प्रीति को स्थायी भाव मानकर प्रेमान् रस की वृद्धि करने का यत्न किया है। इसी प्रकार भगवद्भक्तों ने श्रीकृष्ण में आलंबित, रोमांच, अश्रुपातादि से अनुभावित, हर्षादि से परिपोषित, पुराण-श्रवणादि के समय में अनुभूयमान भक्ति रस को रसों की कोटि में घुसाना चाहा; परंतु स्त्री-पुरुष विषयक रति के अन्ध भक्त आलंकारिकों को यह सब कुछ भी

न रुचा। उन्होंने भक्ति रस के स्थायी भाव अनुराग को, प्रेमान् रस के स्थायी भाव प्रीति को तथा वत्सल रस के स्थायी भाव स्नेह को रति के सम्मुख हेय, तुच्छ तथा सूखा प्रकट करते हुए उन्हें भावों के समूह में मिला दिया। जिन्होंने भगवदनुराग, बालक-स्नेह या पारस्परिक प्रीति को स्थायी भाव बनाकर स्त्री-पुरुष विषयक असात्विक रति को भावों के ढेर में फेंकना चाहा, उनके सिर पर अलंकार शास्त्र के चौपट हो जाने के भय का भूत सवार हो गया। किसी अंश में इस आशंका में सचाई भी है। इसमें संदेह नहीं कि अनुराग, प्रीति, स्नेह तथा रति में घनता, पूर्णता तथा स्थिरता के विचार से रति को ही प्रथम श्रेणी में रखना पड़ता है; परंतु जो लोग जुगुप्सा, शोक आदि को स्थायी भाव न मानकर भाव ही मानना चाहें, उनका समाधान करना असंभव है।

भाव तथा स्थायी भाव इन दोनों में 'स्थायी' शब्द विशेषण रूप से आकर दोनों का भेद स्पष्ट करता है। कुछ विद्वानों का मत है कि रति, शोक, क्रोध आदि आरंभ से अंत तक स्थिर रहते हैं; और जो तेंतीस संचारी या व्यभिचारी भाव हैं, उनमें यह गुण नहीं है। यही कारण है कि वे विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से अभिव्यक्त देवादि विषयक अनुराग तथा तेंतीस गौण भावों को "भाव" संज्ञा देते हैं। काव्य या अभि-नय में इनके आदि से अंत तक स्थिर न रहने से और विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों को अपने में लीन करने में अशक्त होने से

इनका पूर्ण रूप से परिपाक नहीं होता और इसी लिये ये रसावस्था को भी प्राप्त नहीं होते।

काव्य या अभिनय का समाज तथा जाति से जो संबंध है, उसके विषय में हम लिख चुके हैं। मुख्यतया उन्हीं में रसों या भावों की अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि समाज तथा जाति के प्रतिकूल वर्णन तथा अनुचित प्रसंग से अभिव्यक्त भाव तथा रस को भावाभास तथा रसाभास माना जाता है। नीच पुरुष की उत्तम स्त्री पर, उत्तम स्त्री की नीच पुरुष पर, एक स्त्री या पुरुष की अनेक पुरुषों या स्त्रियों पर प्रीति, देवता, गुरु, मुनि तथा पूज्य व्यक्तियों का उपहास, अशोच्य विषयक शोक, पूज्यों पर क्रोध, अनुचित तथा अयथार्थ विषय में उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद भावाभास तथा रसाभास के उदाहरण हैं। जब भाव को अंकुरित होने के अनंतर उद्दीपक विभाव तथा व्यभिचारी भाव से उद्दीपन और परिपोषण न मिले, तब उसको भावोदय, जब उसके स्थान पर दूसरा भाव प्रबल होकर उसको अपने में लीन कर ले, तब उसको भाव-शांति, जब दो भाव एक से प्रबल हों, तब उसको भाव-संधि; और जब अनेक भाव प्रबल हों या एक को दूसरा, दूसरे को तीसरा तथा तीसरे को चौथा दबाकर प्रबल हो, तब उसको भाव-शबलता का नाम दिया जाता है।

भावाभास तथा रसाभास

"जो भाव रस के उपयोगी होकर जल की तरंगों की

भाँति उसमें संचरण करते हैं, उनको संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं।" स्थायी भावों की भाँति यह रस-सिद्धि तक स्थिर नहीं रहते, बल्कि अत्यंत चंचलता-पूर्वक सब रसों में संचरित होते रहते हैं। हमारे मन के भाव आपस में एक दूसरे से ऐसे मिले रहते हैं कि उनको अलग अलग करके उनकी सीमा निर्धारित करना कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असंभव है। हमारा मानसिक जीवन बड़ा ही जटिल है। एक भाव के साथ ही दूसरे अनेक भावों का उदय होता है। वे आपस में मिश्रित रहते हैं, वे अकेले उद्भूत नहीं हो सकते। इन संचारी भावों में एक विशेषता यह है कि वे सदा संचारी या सहायक ही नहीं बने रहते, कभी कभी उनमें से कई एक स्वयं भी स्थायी भाव बन जाते हैं। दूसरे कई संचारी भाव ऐसे हैं जो एक ही स्थायी भाव में नहीं बल्कि कई स्थायी भावों में अनुकूल स्थिति पाने पर मिश्रित हो जाते हैं। मुख्य संचारी भाव ३३ माने गए हैं। कई लोगों का मत है कि चित्तवृत्तियों को ३३ भावों में विभक्त करना ठीक नहीं है। मात्सर्य, उद्वेग, दंभ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैव्य, क्षमा, वितर्क, उत्कंठा, विनय, संशय, धृष्टता आदि अनेक भाव हैं जो इन ३३ भावों में नहीं आ सकते। इस प्रकार तो इन भावों की गिनती का कोई ठिकाना नहीं हो सकता। पर यदि काम चलाने का उद्देश्य हो तो असूया में मात्सर्य, त्रास में उद्वेग, अवहित्थ में दंभ, अमर्ष में ईर्ष्या, मति में

व्यभिचारी भाव

विवेक तथा निर्णय, दैन्य में क्लैव्य, धृति में क्षमा, औत्सुक्य में वितर्क तथा उत्कंठा, लज्जा या व्रीड़ा में विनय, तर्क में संशय, तथा चापल्य में धृष्टता को अंतर्गत मान सकते हैं। व्यभिचारी भावों में से कोई किसी के प्रति अनुभाव तथा किसी के प्रति विभाव हो जाता है; जैसे ईर्ष्या निर्वेद में विभाव और असूया में अनुभाव होती है, वैसे ही निद्रा में चिंता विभाव और औत्सुक्य में अनुभाव होती है।

हम यह कह चुके हैं कि भाव एक प्रकार की चित्तवृत्ति या मनोविकार हैं कोई मनोविकार या भाव स्वयं उत्पन्न नहीं होता। एक विकार दूसरे विकार को उत्पन्न करता है।

विभाव

जो व्यक्ति या पदार्थ आदि भावों को उत्पन्न करते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जिनका आलंबन करके भाव उत्पन्न होते हैं और दूसरे वे जिनके सहारे भावों का उद्दीपन होता है। मान लीजिए कि हमारे एक प्रिय मित्र का देहावसान हो गया। हमको इसके कारण अत्यंत शोक हुआ। उसका चित्र अथवा उसकी दी हुई किसी वस्तु को देखकर हमारा शोक और भी बढ़ गया। उसका स्मरण करते ही हमारी आँखों में आँसू भर आए और हम रोने लग पड़े। अन्य संचारी भावों ने हमारे इस शोक भाव की पुष्टि की। अब यहाँ स्थायी भाव तो शोक हुआ। इसका आलंबन मित्र का देहावसान है और उसके चित्रादि का दर्शन उस शोक भाव को और भी उद्दीप्त कर

देता है। ठीक इसी विभेद को लेकर विभावों को आलंबन और उद्दीपन विभागों में विभक्त किया गया है।

हम यह बात लिख चुके हैं कि भावों की उत्पत्ति के अनंतर शरीर में जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे अनुभाव कहलाते हैं।

अनुभाव

यदि कोई मनुष्य किसी को कोई लगती बात कह दे तो उसके सुनते ही उस दूसरे मनुष्य के मन में क्रोध हो आवेगा, उसके नेत्र लाल हो जायँगे, होंठ फड़फड़ाने लगेंगे, भौंहें चढ़ जायँगी, नथने फूल जायँगे। अब यहाँ क्रोध तो मुख्य या स्थायी भाव हुआ; लगती बात कहनेवाला मनुष्य आलंबन विभाव हुआ; उसकी लगती बात उद्दीपन विभाव हुई; और सुननेवाले की आँखों का लाल होना, होंठों का फड़फड़ाना, भौंहों का चढ़ जाना तथा नथनों का फूल जाना अनुभाव हुआ। यदि उस लगती बात कहनेवाले मनुष्य ने उस दूसरे मनुष्य का पहले कभी अनादर या अपकार किया हो, तो उस बात की स्मृति उस क्रोध के भाव को और भी बढ़ा देगी। यह स्मृति संचारी भाव का काम करेगी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि कैसे एक भाव के परिपाक में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव सहायता पहुँचाते हैं।

अनुभाव चार प्रकार के माने गए हैं—कायिक, मानसिक, आहार्य और सात्विक। आँख, भौंह, हाथ आदि शरीर के अंगों द्वारा जो चेष्टाएँ की जाती हैं, उन्हें कायिक या कृत्रिम अनुभाव कहते हैं। ये मनोविकारों के अनंतर होते हैं और उन्हीं के

अनुरूप शरीर की भिन्न भिन्न क्रियाएँ और मुख की चेष्टाएँ उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार का मनोविकार उत्पन्न हुआ हो, अथवा अभिनय में नाट्य द्वारा जिन मनोविकारों को प्रदर्शित करना हो, उन्हीं के अनुकूल मानसिक अवस्था को मानसिक अनुभाव कहते हैं। कायिक तथा मानसिक अनुभावों के अंतर्गत बारह हाव माने गए हैं। वेष-भूषा से अभिनय में जो भाव प्रदर्शित किये जाते हैं, उन्हें आहार्य अनुभाव कहते हैं। शरीर के सहज अंग-विकार अथवा सजीव शरीर धर्म से उत्पन्न होनेवाले स्वाभाविक अंगविकारों को सात्विक अनुभाव कहते हैं। ये आठ माने गए हैं।

हमारा उद्देश्य रसों पर कोई निबंध लिखना नहीं था; अतएव हमने मुख्य बातों का संक्षेप में वर्णन कर दिया है और उस पर यथास्थान अपने विचार भी दे दिए हैं। हमारी भारतीय कविता को समझना और उसका रसास्वादन करना रसों का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त किये बिना नहीं हो सकता। सब देशों में काव्य का प्रधान आधार मनोवेग या भाव माने गए हैं। उन्हीं भावों या मनोवेगों को लेकर हमारे यहाँ बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया गया है और उसे रस का नाम देकर काव्य का सर्वस्व मान लिया है। बात एक ही है; केवल उसके विवेचन का ढंग अलग अलग है। अब हम काव्य के एक और तत्व "शैली" का विवेचन करके इस विषय को समाप्त करते हैं।

नवाँ अध्याय

शैली का विवेचन

हम पिछले अध्याय में काव्य के तीन तत्वों का विवेचन कर चुके हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि उनमें एक चौथा तत्व मानना आवश्यक है। उनका कहना है कि कवि या लेखक की सामग्री चाहे कैसी ही उत्तम क्यों न हो और उसके भाव, विचार और कल्पनाएँ चाहे कितनी ही परिपक्व और अद्भुत क्यों न हों, पर जब तक उसकी कृति में रूप-सौंदर्य नहीं आवेगा, जब तक वह अपनी सामग्री को ऐसा रूप न दे सकेगा जो अनुक्रम, सौष्ठव और प्रभावोत्पादकता के सिद्धांतों के अनुकूल हो, तब तक उसकी कृति काव्य न कहला सकेगी। अतएव चौथा तत्त्व अर्थात् रचना-चमत्कार भी नितांत आवश्यक है।

रचना-चमत्कार का दूसरा नाम शैली है। किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है। हम पहले लिख चुके हैं कि किसी किसी के मत से शैली विचारों का परिधान है। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि परिधान का शरीर से अलग और निज का अस्तित्व होता है, उनकी उस व्यक्ति से भिन्न स्थिति होती है। जैसे मनुष्य से विचार अलग

शैली का रूप

नहीं हो सकते, वैसे ही उन विचारों को व्यंजित करने का ढंग भी उनसे अलग नहीं हो सकता। अतएव शैली को विचारों का परिधान न कहकर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ संगत होगा। अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।

काव्य की अंतरात्मा का हम विशेष रूप से विवेचन कर चुके हैं। अब उसके बाह्य या प्रत्यक्ष रूप के विषय में भी कुछ विचार करना आवश्यक है; क्योंकि भाव, विचार और कल्पना यदि हमारे ही मन में उत्पन्न होकर लीन हो जायँ, तो संसार को उनसे कोई लाभ न हो और हमारा जीवन व्यर्थ हो जाय। मनुष्य समाज में रहना चाहता है। वह उसका अंग है। उसी में उसके जीवन और कर्त्तव्य का साफल्य है। वह अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है और दूसरों के भावों, विचारों और कल्पनाओं को स्वयं जानना चाहता है। सारांश यह है कि मनुष्य-समाज में भावों, विचारों और कल्पनाओं का विनिमय नित्य प्रति होता रहता है। भावों, विचारों और कल्पनाओं का यही विनिमय संसार के साहित्य का मूल है। इसी आधार पर साहित्य का प्रासाद खड़ा होता है। जिस जाति का यह प्रासाद जितना ही मनोहर, विस्तृत और भव्य होगा, वह जाति उतनी ही उन्नत मानी जायगी। इसके अतिरिक्त हमें आपस के नित्य के व्यवहार में कभी दूसरों को समझाना, कभी उन्हें अपने पक्ष में करना और कभी प्रसन्न

करना पड़ता है। यदि वे शक्तियाँ आदि अपने स्वाभाविक रूप में वर्त्तमान न हों तो मनुष्यों के सब काम रुक जायँ। साहित्य-शास्त्र का काम इन्हीं शक्तियों को परिमार्जित और उत्तेजित करके उन्हें अधिक उपयोगी बनाना है। अतएव यह स्पष्ट हुआ कि भाव, विचार और कल्पना तो हम में नैसर्गिक अवस्था में वर्तमान रहती है; और साथ ही उन्हें व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी हम में रहती है। अब यदि उस शक्ति को बढ़ाकर, संस्कृत और उन्नत करके, हम उसका उपयोग कर सकें, तो उन भावों, विचारों और कल्पनाओं के द्वारा हम संसार के ज्ञान-भांडार की वृद्धि करके उसका बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं। इसी शक्ति को साहित्य में शैली कहते हैं।

हम कह चुके हैं कि मनुष्य को प्रायः दूसरों को समझाना, किसी कार्य में प्रवृत्त कराना अथवा प्रसन्न करना पड़ता है। ये तीनों काम मनुष्य की भिन्न भिन्न तीन मानसिक शक्तियों से संबंध रखते हैं। समझना या समझाना बुद्धि का काम है; प्रवृत्त होना या करना संकल्प का काम है और प्रसन्न करना या होना भावों का काम है। परंतु प्रवृत्त करने या होने में बुद्धि और भाव दोनों सहायक होते हैं। इन्हीं के प्रभाव से हम संकल्प शक्ति को मनोनीत रूप देने में समर्थ होते हैं। बुद्धि की सहायता से हम किसी बात का वर्णन, कथन या प्रतिपादन करते हैं; और भावों की सहायता से काव्यों की रचना कर मनुष्य का समस्त संसार से रागात्मक संबंध

स्थापित करते हैं। इसलिये शैली की विशेषता इसी बात में होती है कि मनुष्य के ऊपर कहे हुए तीनों कामों को पूरा करने के लिये हम अपनी भाषा को, अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को अधिकाधिक प्रभावशाली बना सकें। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम इस बात का विचार करें कि यह प्रभाव कैसे उत्पन्न हो सकता है।

शब्दों का महत्व

भाषा ऐसे सार्थक शब्द-समूहों का नाम है जो एक विशेष क्रम से व्यवस्थित होकर हमारे मन की बात दूसरे के मन तक पहुँचाने और उसके द्वारा उसे प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। अतएव भाषा का मूल आधार शब्द हैं जिन्हें उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूल-तत्व समझना चाहिए। प्रायः देखने में आता है कि जिन लेखकों की लेखनी-शैली प्रौढ़ नहीं है, जो अभी अपने साहित्यिक जीवन की प्रारंभिक अवस्था में ही हैं, उनकी कृतियों में शब्दों का बाहुल्य और भावों तथा विचारों आदि की न्यूनता रहती है। ज्यों ज्यों उनका अनुभव बढ़ता जाता है और उनमें लेखन-शक्ति की वृद्धि होती जाती है, त्यों त्यों उनमें शब्दों की कमी और भावों की वृद्धि होती जाती है। मध्यावस्था में प्रायः शब्दों और भावों आदि में समानता आ जाती है और प्रौढ़ावस्था में भावों की अधिकता तथा शब्दों की कमी स्पष्ट देख पड़ती है। उस समय ऐसा जान पड़ता है कि मानों शब्दों और भावों में होड़ मची हुई है। दोनों कवि या लेखक की

कृति में अग्रसर होकर प्रधान स्थान ग्रहण करने के लिये उत्सुक हो रहे हैं। पर इस दौड़ में शब्द पीछे रह जाते हैं और भाव आगे निकल जाते हैं। एक ही भाव के लिये अनेक शब्द मिलने लगते हैं और लेखक या कवि उपयुक्त शब्दों को ग्रहण करने, सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को प्रदर्शित करने और थोड़े में बड़ी बड़ी गंभीर और भावपूर्ण बातें कहने में समर्थ होता है। अतएव प्रारंभिक अवस्था में प्रायः शब्दाडंबर ही अधिक देख पड़ता है। उस समय लेखक को अपने भाव स्पष्ट करने के लिये अनेक शब्दों को खोज खोज कर लाना और सजाना पड़ता है। इससे प्रायः स्वाभाविकता की कमी हो जाती है और शब्दों को छटा में भी वैसी मनोहरता नहीं देख पड़ती। एक ही बात अनेक प्रकार के शब्दों और वाक्यों में घुमा-फिराकर कहनी पड़ती है। पर प्रौढ़ावस्था में ये सब बातें नहीं रह जातीं। वहाँ तो एक शब्द के भी घटाने बढ़ाने की जगह नहीं रहती। जो लेखक या कवि विद्याव्यसनी नहीं होते, जिन्हें अपने विचारों को प्रौढ़ करने का अवसर नहीं मिलता, या जिनकी उस ओर प्रवृत्ति नहीं होती, उनमें यह दोष अंत तक वर्तमान रहता है और उनकी कृति वाग्बाहुल्य से भरी रहती है। इसलिये लेखकों या कवियों को शब्दों के चुनाव पर बहुत ध्यान देना चाहिए। उपयुक्त शब्दों का प्रयोग सब से आवश्यक बात है; और यह गुण प्रतिपादित करने में उन्हें दत्तचित्त रहना चाहिए। इस कार्य में स्मरण-शक्ति बहुत

सहायता देती है। शब्दों के आधार पर ही उत्तम काव्य-रचना हो सकती है। इस नींव पर यह सुंदर प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। अतएव यह आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है कि कवि या लेखक का शब्द-भांडार बहुत प्रचुर हो और उसे इस बात का भली भाँति स्मरण रहे कि मेरे भांडार में कौन कौन से रत्न कहाँ रखे हैं, जिनमें प्रयोजन पड़ते ही वह उन रत्नों को निकाल सके। ऐसा न हो कि उनको ढूँढ़ने में ही उसे बहुत सा समय नष्ट करना पड़े और अंत में झूठे कांतिहीन रत्नों को इधर-उधर से मँगनी माँगकर अपना काम चलाना पड़े।

कवि या लेखक के लिये शब्द-भांडार का महत्व कितना अधिक है, यह इसी से समझ लेना चाहिए कि युरोप में साहित्यालोचकों ने बड़े बड़े कवियों और लेखकों द्वारा प्रयुक्त शब्दों की गिनती तक कर डाली है और उससे वे उनके पांडित्य की थाह लेते हैं। हमारे यहाँ इस ओर अभी ध्यान नहीं गया है। परंतु जब तक ऐसा न हो, तब तक उनकी भावों को व्यंजन करने की शक्ति और उसके ढंग के आधार पर ही हमें उनके विषय में अपने सिद्धांत स्थिर करने होंगे। हम किसी कवि या लेखक के ग्रंथ को ध्यानपूर्वक पढ़कर इस बात का पता लगा सकते हैं कि उसकी शक्ति कैसी है, उसने शब्दों का कैसा प्रयोग किया है और कहाँ तक वह इस कार्य में दूसरों से बढ़ गया या पीछे रह गया है। इसी प्रकार हम

यह भी सहज ही में जान सकते हैं कि किस प्रकार के भाव प्रकट करने में कौन कहाँ तक कृतकार्य हुआ है। यह अनुमान करना कि सब विषयों पर लिखने के लिये सबके पास यथेष्ट शब्द-सामग्री होगी, उचित नहीं होगा। सब मनुष्यों का स्वभाव एक सा नहीं होता और न उनकी रुचि ही एक सी होती है। इस अवस्था में यह आशा करना कि सब में सब विषयों पर अपने भाव प्रकट करने की एक सी शक्ति होगी, जान-बूझकर अपने को भ्रम में डालना होगा। संसार में हमको रुचि-वैचित्र्य का निरंतर साक्षात्कार होता रहता है; और इसी रुचि-वैचित्र्य के कारण लोगों के विचार और भाव भी भिन्न होते हैं। अतएव जिसकी जिस बात में अधिक रुचि होगी, उसी के विषय में वह अधिक सोचे-विचारेगा और अपने भावों तथा विचारों को अधिक स्पष्टता और सुगमता से प्रकट कर सकेगा। इसी कारण उस विषय से संबंध रखनेवाला उसका शब्द-भांडार भी अधिक पूर्ण और विस्तृत होगा। पर इतना होते हुए भी शब्दों के प्रयोग की शक्ति केवल रुचि पर निर्भर नहीं हो सकती। रुचि इस कार्य में सहायक अवश्य हो सकती है; पर केवल उसी पर भरोसा करने से शब्दों का प्रयोग करने की शक्ति नहीं आ सकती। यदि हम कई भिन्न भिन्न पुरुषों को चुन लें और उन्हें गिने हुए सौ दो सौ शब्द देकर अपनी अपनी रुचि के अनुसार अपने ही चुने हुए विषयों के संबंध में अपने अपने भावों तथा विचारों को प्रकट करने के लिये कहें, तो हम देखेंगे कि सामग्री

की समानता होने पर भी उनमें हर एक का ढंग निराला है। यदि एक में विचारों की गंभीरता, भावों की मनोहरता तथा भाषा का उपयुक्त गठन है, तो दूसरे में विचारों की निस्सारता, भावों की अरोचकता और भाषा की शिथिलता है; और तीसरे में भावों और विचारों की ओर से उदासीनता तथा वाग्बाहुल्य की ही विशेषता है। इसलिये केवल प्रयुक्त शब्दों की संख्या से ही किसी के पांडित्य की थाह लेना अनुचित और असंगत होगा। उन शब्दों के प्रयोग के ढंग पर विचार करना भी नितांत आवश्यक है। अर्थात् हमें इस बात का भी विवेचन करना चाहिए कि किसी वाक्य में शब्द किस प्रकार सजाए गए हैं और उनको वाक्य-रूपी माला में चुनकर गूथने में कैसा कौशल दिखाया गया है।

हमारे यहाँ शब्दों में शक्ति, गुण और वृत्ति ये तीन बातें मानी गई हैं। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वयं शब्द कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखते। सार्थक होने पर भी शब्द जब तक वाक्यों में पिरोए नहीं जाते, तब तक न तो उनकी शक्ति ही प्रादुर्भूत होती है, न उनके गुण ही स्पष्ट होते हैं और न वे किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने में ही समर्थ होते हैं। उनमें शक्ति या गुण आदि के अंतर्हित रहते हुए भी उनमें विशेषता, महत्व, सामर्थ्य या प्रभाव का प्रादुर्भाव केवल वाक्यों में सुचारु रूप से उनके सजाए जाने पर ही होता है। अतएव हम वाक्यों के विचार के साथ ही इनका भी विचार करेंगे।

शैली के विवेचन में वाक्य का स्थान बड़े महत्व का है। रचना-शैली में इन्हीं पर निर्भर रहकर पूरा कौशल दिखाया जा सकता है और इसी में इनकी विशेषता अनुभूत हो सकती है। इस संबंध में सब से पहली बात, जिस पर हमें विचार करना चाहिए, शब्दों का उपयुक्त प्रयोग है। जिस भाव या विचार को हम प्रकट करना चाहते हैं, ठीक उसी को प्रत्यक्ष करनेवाले शब्दों का हमें उपयोग करना चाहिए। बिना सोचे-समझे शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग वाक्यों की सुंदरता नष्ट करता और लेखक के शब्द-भांडार की अपूर्णता अथवा उसकी असावधानी प्रकट करता है। अतएव वाक्यों में प्रयोग करने के लिये शब्दों का चुनाव बड़े ध्यान और विवेचन से करना चाहिए।

इसके अनंतर हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि वाक्यों की रचना किस प्रकार से हो। वैयाकरणों ने वाक्यों के अनेक प्रकार बताए हैं और उनकी रीतियों तथा शुद्धि आदि पर भी विचार किया है। पर हमें वैयाकरण की दृष्टि से वाक्यों पर विचार नहीं करना है। हमें तो यह देखना है कि हम किस प्रकार वाक्यों की रचना और प्रयोग करके अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रयोजन के लिये सब से अधिक अच्छा वाक्य वह होता है जिसे हम वाक्योच्चय कह सकते हैं और जिसमें तब तक अर्थ स्पष्ट नहीं होता, जब तक वह वाक्य

वाक्यों की विशेषता

समाप्त नहीं हो जाता। हम उदाहरण देकर यह बात स्पष्ट करेंगे। नीचे लिखा वाक्य इसका अच्छा उदाहरण है—

"चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें, हमारे सब कष्टों का अंत यदि किसी बात से हो सकता है, तो वह केवल स्वराज्य से।"

इस वाक्य का प्रधान अंग "वह केवल स्वराज्य से (हो सकता है)" है, जो सब के अंत में आता है। इस अंतिम अंश में कर्त्ता "वह" है। पहले के जितने अंश हैं, वे अंतिम वाक्यांश के सहायक मात्र हैं। वे हमारे अर्थ या भाव की पुष्टि मात्र करते हैं और पढ़नेवाले या सुननेवाले में उत्कंठा उत्पन्न करके उसके ध्यान को अंत तक आकर्षित करते हुए उसमें एक प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। यह पढ़ते ही कि "चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें" हम यह जानने के लिये उत्सुक हो जाते हैं कि लेखक या वक्ता क्या कहना चाहता है। दूसरे वाक्य को पढ़ते ही वह हमारी जिज्ञासा को संकुचित कर हमारा ध्यान एक मुख्य बात पर स्थिर करता हुआ मूल भाव को जानने के लिये हमारी उत्सुकता को विशेष जाग्रत कर देता है। अंतिम वाक्यांश को पढ़ते ही हमारा संतोष हो जाता है और लेखक का भाव हमारे मन पर स्पष्ट अंकित हो जाता है। ऐसे वाक्य पढ़नेवाले के ध्यान को आकर्षित करके उसे मुग्ध करने, उसकी जिज्ञासा को तीव्रता देने तथा आवश्यक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

दूसरी बात जो वाक्यों की रचना में ध्यान देने योग्य है,

वह शब्दों का संघटन तथा भाषा की प्रौढ़ता है। वाक्यों में इन दोनों गुणों का होना भी आवश्यक है। यदि किसी वाक्य में संघटन का अभाव हो, यदि एक वाक्यांश कहकर उसे समझाने या स्पष्ट करने के लिये अनेक ऐसे छोटे छोटे शब्द-समूहों का प्रयोग किया जाय जो अधिकतर विशेषणात्मक हों, तो छोटे छोटे वाक्यांशों की भूल-भुलइयाँ में मुख्य भाव प्रायः लुप्त सा हो जायगा; और वह वाक्य अपनी जटिलता के कारण पढ़नेवाले को निरुत्साहित कर उसकी जिज्ञासा मंद कर देगा तथा किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न न कर सकेगा। अतएव ऐसे वाक्यों के प्रयोग से बचना चाहिए। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वाक्योच्चय बहुत बड़े तथा लंबे न हों। उनके बहुत अधिक विस्तार से संघटनात्मक गुणों का नाश हो जाता है और वे मनोरंजक होने के बदले अरुचिकर हो जाते हैं। वाक्यों की लंबाई या विस्तार की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। यह तो लेखक के अभ्यास, कौशल और सौष्ठव-बुद्धि पर निर्भर है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि लेख या भाषण के विषय के आधार पर इस सीमा को निर्धारित करना उचित होगा। जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिये छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है। सरल और सुबोध विषयों के लिये यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों, तो उनसे उतनी हानि नहीं होती। कई लेखकों में यह प्रवृत्ति

देखने में आती है कि वे जान-बूझकर अपने वाक्यों को विस्तृत और जटिल बनाते हैं और उन्हें अनावश्यक वाक्यांशों से लादे चलते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पढ़नेवाले ऊब जाते हैं और प्रायः लेखक स्वयं यह बात भूल जाता है कि किस मुख्य भाव को लेकर मैंने अपना वाक्य आरंभ किया था। ऐसे वाक्य के समाप्त होते ही वह मुख्य भाव भूलकर और किसी दूसरे गौण भाव को लेकर आगे दौड़ चलता है और अपने वाक्यों में परस्पर संबंध स्थापित करने की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। इस भारी दोष से बचने ही में लाभ है।

(जब किसी वाक्य के वाक्यांश एक से रूप और आकार के होते हैं, तब उन्हें समीकृत वाक्य कहते हैं) इन समीकृत वाक्यों की समरूपता या तो व्याकरण के अनुसार उनकी बनावट से होती है अथवा शब्दों के उच्चारण या अवधारण पर निर्भर रहती है। इन वाक्यांशों का अर्थ भिन्न होता है और शब्द भी प्रायः भिन्न ही होते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिये हम एक उदाहरण देते हैं—

"चाहे हमारी निंदा हो चाहे स्तुति, चाहे हमारी आज ही मृत्यु हो, चाहे हम अभी बरसों जीएँ, चाहे हमें लक्ष्मी स्वीकार करे, चाहे हमारा सारा जीवन दरिद्रमय हो जाय, परंतु जो व्रत हमने धारण किया है, उससे हम कभी विचलित न होंगे"।

इस प्रकार के वाक्यों का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है—एक तो जब वाक्यों की शृंखला किसी एक ही प्रणाली पर बनाई

जाती है, तब वह हमारी स्मरण शक्ति को सहायता पहुँचाती है और एक से वाक्यांशों की आवृत्ति मन को प्रभावित करती है; और जब हम यह जान लेते हैं कि भिन्न भिन्न वाक्यांशों में किस बात में समानता है, तब हमें केवल उनकी विभिन्नता का ही ध्यान रखना आवश्यक होता है। प्रबंध-रचना का यह साधारण नियम है कि यदि दो वस्तुओं में समानता दिखाई जाय, तो रचना में भी उनको समान ही स्थान मिलना चाहिए। समीकृत वाक्यों द्वारा रचना के इस सिद्धांत का पालन बड़ी सुगमता से हो सकता है।

समीकृत वाक्यों का दूसरा प्रभाव एक प्रकार का सुखद विस्मय उत्पन्न करना है। समरूप वाक्यों द्वारा भिन्न भाव प्रदर्शित करने से मन को आनंद प्राप्त होता है और कुछ कुछ संगीत के लय-सुर का सा अनुभव होने लगता है। जब एक वाक्यांश द्वारा भिन्न परंतु साथ ही नवीन भाव का उद्बोधन कराया जाता है, तब हमारे आनंद और विस्मय की मात्रा बढ़ जाती है। जैसे यदि हम यह कहें कि 'यह अशक्य तो है। पर असंभव नहीं' अथवा 'यह कठिन तो है, पर अशक्य नहीं' तो यहाँ 'अशक्य' और 'असंभव' तथा 'कठिन' और 'अशक्य' के संयोग से वाक्यांश में एक प्रकार की विशेषता आ जाती है जो हमारे आनंद और विस्मय का कारण होती है। इसी प्रकार को यदि हम और परिमार्जित करके केवल दो शब्दों को वाक्यांशों में भिन्न भिन्न स्थान दे दें, जैसे 'तुम्हारा कहना

अविश्वसनीय है, पर असत्य नहीं, और उसका कहना असत्य है, पर अविश्वसनीय नहीं' तो वाक्यांश की सुंदरता, आनंद-दायिता और विस्मयकारिता और भी बढ़ जाती है।

वाक्यों में सबसे अधिक ध्यान रखने की वस्तु अवधारण का संस्थान है; अर्थात् इस बात का ध्यान रखना कि वाक्य की किस बात पर हम अधिक जोर देना चाहते हैं और उसका प्रयोग कैसे होना चाहिए। साधारण नियम यह है कि जिस बात पर जोर देना हो, वह वाक्य के आदि अथवा अंत में रखी जाय। आदि में रहने से वह पहले ही ध्यान आकर्षित करती है और अंत में रहने से स्मृति में अधिक काल तक ठहर सकती है। मध्य का स्थान साधारण और अप्रधान बातों के लिये छोड़ देना चाहिए। इस नियम का पालन प्रस्तावना या उपसंहार रूप में आए हुए वाक्यों में नहीं होना चाहिए। अवधारण को आदि या अंत में स्थान देने से वाक्य में स्पष्टता आ जाती है और वह लालित्य-गुण से संपन्न हो जाता है।

भारतीय शैली के आधार

जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं, हमारे यहाँ शब्दों की शक्तियाँ तीन प्रकार की मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। वास्तव में ये शब्दों की शक्तियाँ नहीं हैं, किंतु उनके अर्थों के भेद हैं। इस कारण इनका महत्व वाक्यों में ही देख पड़ता है। जब तक शब्द स्वतंत्र रहते हैं, अर्थात् किसी वाक्य या वाक्यांश के अंग नहीं बन जाते, तब तक उनका कोई निश्चित या सर्वसम्मत

अर्थ ही लिया जाता है; परंतु वाक्यों में पिरोए जाने पर उनका अर्थ अवस्थानुकूल वाच्य, लक्ष्य या व्यंग्य हो जाता है। जिन शब्दों का एक ही अर्थ होता है, उनके संबंध में तो केवल लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का ही उपयोग देख पड़ता है; पर जहाँ एक शब्द के कई अर्थ होते हैं, वहाँ अभिधा शक्ति द्वारा अभिप्रेत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। शब्द को सुनते ही यदि उसके अर्थ का बोध हो जाय, तो यह उसकी अभिधा शक्ति का कार्य हुआ। पर शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं; इसलिये जिस शक्ति के कारण कोई शब्द किसी एक ही अर्थ को सूचित करता है, उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। इसका निर्णय कि कहाँ किस शब्द का क्या अर्थ है, संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ-प्रकरण, प्रसंग, चिह्न, सामर्थ्य, औचित्य, देशबल, काल-भेद, और स्वर-भेद से किया जाता है। जैसे 'मरु में जीवन दूरि है' कहने से मरुभूमि के कारण यहाँ 'जीवन' का अर्थ केवल 'पानी' ही लिया जा सकता है, दूसरा नहीं। अतएव यहाँ 'जीवन' का अर्थ 'पानी' उस शब्द की अभिधा शक्ति से लगाया गया। जहाँ शब्द के प्रधान या मुख्य अर्थ को छोड़कर किसी दूसरे अर्थ की इसलिये कल्पना करनी पड़ती है कि किसी वाक्य में उसकी संगति बैठे, वहाँ शब्द की लक्षणा शक्ति से काम लेना पड़ता है। जैसे—

> अंग अंग नग जगमगत, दीप-शिखा सी देह।
> दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उँजेरो गेह॥

यहाँ बढ़ाने का अर्थ 'वृद्धि करना' या 'अधिक करना' मानने से दोहे का भाव स्पष्ट नहीं होता; और 'दीया बढ़ाने' से मुहाविरे का अर्थ 'दीया बुझाना' करने से दोहे में चमत्कार आ जाता है। एक दूसरा उदाहरण देकर इस भाव को और भी स्पष्ट कर देना उचित होगा।

> फली सकल मन-कामना, लूट्यौ अगणित चैन।
> आजु अचै हरि-रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन॥

इस दोहे में फली, लूट्यौ, अचै और भये प्रफुल्लित—ये शब्द विचारणीय हैं। साधारणतः वृक्ष फलते हैं, भौतिक पदार्थ लूटे जा सकते हैं, पेय पदार्थ का आचमन किया जा सकता है और फूल प्रफुल्लित (विकसित) होते हैं; पर यहाँ मनोकामना का फलना (पूर्ण होना), चैन का लूटना (उपभोग करना), हरि-रूप का अचवना (दर्शन करना) और नैन का प्रफुल्लित होना (देखना) कहा गया है। यहाँ ये सब शब्द अपनी लक्षणा शक्ति के कारण भिन्न भिन्न अर्थ देते हैं। इस शब्द-शक्ति के अनेक भेद और उपभेद माने गए हैं। विस्तार-भय से इनका वर्णन हमें छोड़ना पड़ता है।

तीसरी शक्ति व्यंजना है जिससे शब्द या शब्द-समूह के वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है; अर्थात् जिससे साधारण अर्थ को छोड़कर किसी विशेष अर्थ का बोध होता है। जैसे यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे से कहे कि 'तुम्हारे मुँह से शठता झलक रही है' और इसका उत्तर

वह यह दे कि 'मुझे आज ही जान पड़ा कि मेरा मुँह दर्पण है' तो इससे यह भाव निकला कि तुमने अपने मुँह का मेरे दर्पण-रूपी मुँह में प्रतिबिंब देखकर शठता की झलक देख ली; इससे वास्तव में तुम ने अपनी ही प्रतिच्छाया देखी है; अर्थात् तुम्हीं शठ हो, मैं नहीं। इसके भी अनेक भेद और उपभेद माने गए हैं।

हमारे शास्त्रियों ने यह निश्चय किया है कि सर्वोत्तम वाक्य वही है जिसमें व्यंग्यार्थ रहता है; क्योंकि सबसे अधिक चमत्कार इसी के द्वारा आ सकता है। पश्चिमी विद्वानों ने व्यंग्य को एक प्रकार का अलंकार माना है; और हमारे यहाँ तो इसके अनेक भेद तथा उपभेद करके इस अलंकार का बड़ा विस्तार किया गया है। सारांश यही है कि हमारे यहाँ शब्द की शक्तियों का विवरण देकर पहले उनको वाक्यों में विशेषता उत्पन्न करने-वाला माना और फिर अलंकारों में उनकी गणना करके उन्हें रसों का उत्कर्ष बढ़ानेवाले कहा है। हमारे यहाँ काव्यों के अनेक गुण भी माने गए हैं और उन्हें "प्रधान रस का उत्कर्ष बढ़ानेवाले रसधर्म" कहा है। काव्यों में रसों की प्रधानता होने और उन्हीं के आधार पर समस्त साहित्यिक सृष्टि की रचना होने के कारण सब बातों में रस का संबंध हो जाता है। पर वास्तव में ये गुण शब्दों से और उनके द्वारा वाक्यों से संबंध रखते हैं।

यों तो हमारे शास्त्रियों ने अपनी विस्तार-प्रियता और श्रेणी-विभाग की कुशलता के कारण कई गुण माने हैं, पर

मुख्य गुण तीन ही गहे गए हैं; यथा माधुर्य, ओज और प्रसाद। इन तीनों गुणों को उत्पन्न करने के लिये शब्दों की बनावट के भी तीन प्रकार कहे गए हैं, जिन्हें वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ, गुणों के अनुसार ही, मधुरा, परुषा और प्रौढ़ा हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर पद या वाक्य-रचना की भी तीन रीतियाँ, वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली मानी गई हैं। इन रीतियों के नाम देशभागों के नामों पर हैं। इससे जान पड़ता है कि उन उन देशभागों के कवियों ने एक एक ढंग का विशेष रूप से अनुकरण किया था; अतएव उन्हीं के आधार पर ये नाम भी रख दिए गए हैं। माधुर्य गुण के लिये मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति, ओज गुण के लिये परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति तथा प्रसाद गुण के लिये प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति आवश्यक मानी गई है। शब्दों में किन किन वर्णों के प्रयोग से कौन सी वृत्ति होती है और पदों या वाक्यों में समासों की न्यूनता या अधिकता के विचार से कौन सी रीति होती है, इसका भी विवेचन किया गया है। इन्हीं तीनों बातों का विवेचन हमारे भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार रचना-शैली में किया गया है। पर यहाँ यह बात न भूलनी चाहिए कि हमारा साहित्य-भांडार पद्य में है। गद्य का तो अभी आरंभिक काल ही समझना चाहिए। इसलिये गद्य की शैली के विचार से अभी हमारे यहाँ विवेचन ही नहीं हुआ है। अपना कोई विशेष ढंग न होने के कारण और अँगरेजी का पठन-पाठन अधिक होने से

हमारे गद्य पर अँगरेजी भाषा की गद्य शैली का बहुत अधिक प्रभाव पड़ रहा है; और यह एक प्रकार से अनिवार्य भी है। इसी कारण हमने पहले अँगरेजी सिद्धांतों के अनुकूल शब्दों और वाक्यों के संबंध में विचार किया है और फिर अपने भारतीय सिद्धांतों का उल्लेख किया है। गुणों के संबंध में एक और बात का निर्देश कर देना आवश्यक है। रसों की प्रधानता के कारण हमारे शास्त्रियों ने यह भी बताया है कि माधुर्य गुण शृंगार, करुण और शांत रस को, ओज गुण वीर, वीभत्स और रौद्र रस को और प्रसाद गुण सब रसों को विशेष प्रकार से परिपुष्ट करता है। पर विशेष विशेष प्रसंगों के उपस्थित होने पर इनमें कुछ परिवर्तन भी हो जाता है। जैसे शृंगार रस का पोषक माधुर्य गुण माना गया है। पर यदि नायक धीरोदात्त या निशाचर हो, अथवा अवस्था विशेष में क्रुद्ध या उत्तेजित हो गया हो, तो उसके कथन या भाषण में ओज गुण होना आवश्यक और आनंददायक होगा। इसी प्रकार रौद्र, वीर आदि रसों की परिपुष्टि के लिये गौड़ी रीति का अनुसरण वांछनीय कहा गया है; पर अभिनय में बड़े बड़े समासों की वाक्य-रचना से दर्शकों में अरुचि उत्पन्न होने की बहुत संभावना है। जिस बात के समझने में उन्हें कठिनता होगी, उससे चमत्कृत होकर अलौकिक आनंद का प्राप्त करना उनके लिये कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असंभव हो जायगा। ऐसे अवसरों पर नियत सिद्धांत के प्रतिकूल रचना करना कोई दोष

मुख्य गुण तीन ही गहे गए हैं; यथा माधुर्य, ओज और प्रसाद। इन तीनों गुणों को उत्पन्न करने के लिये शब्दों की बनावट के भी तीन प्रकार कहे गए हैं, जिन्हें वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ, गुणों के अनुसार ही, मधुरा, परुषा और प्रौढ़ा हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर पद या वाक्य-रचना की भी तीन रीतियाँ, वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली मानी गई हैं। इन रीतियों के नाम देशभागों के नामों पर हैं। इससे जान पड़ता है कि उन उन देशभागों के कवियों ने एक एक ढंग का विशेष रूप से अनुकरण किया था; अतएव उन्हीं के आधार पर ये नाम भी रख दिए गए हैं। माधुर्य गुण के लिये मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति, ओज गुण के लिये परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति तथा प्रसाद गुण के लिये प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति आवश्यक मानी गई है। शब्दों में किन किन वर्णों के प्रयोग से कौन सी वृत्ति होती है और पदों या वाक्यों में समासों की न्यूनता या अधिकता के विचार से कौन सी रीति होती है, इसका भी विवेचन किया गया है। इन्हीं तीनों बातों का विवेचन हमारे भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार रचना-शैली में किया गया है। पर यहाँ यह बात न भूलनी चाहिए कि हमारा साहित्य-भांडार पद्य में है। गद्य का तो अभी आरंभिक काल ही समझना चाहिए। इसलिये गद्य की शैली के विचार से अभी हमारे यहाँ विवेचन ही नहीं हुआ है। अपना कोई विशेष ढंग न होने के कारण और अँगरेजी का पठन-पाठन अधिक होने से

हमारे गद्य पर अँगरेजी भाषा की गद्य शैली का बहुत अधिक प्रभाव पड़ रहा है; और यह एक प्रकार से अनिवार्य भी है। इसी कारण हमने पहले अँगरेजी सिद्धांतों के अनुकूल शब्दों और वाक्यों के संबंध में विचार किया है और फिर अपने भारतीय सिद्धांतों का उल्लेख किया है। गुणों के संबंध में एक और बात का निर्देश कर देना आवश्यक है। रसों की प्रधानता के कारण हमारे शास्त्रियों ने यह भी बताया है कि माधुर्य गुण शृंगार, करुण और शांत रस को, ओज गुण वीर, बीभत्स और रौद्र रस को और प्रसाद गुण सब रसों को विशेष प्रकार से परिपुष्ट करता है। पर विशेष विशेष प्रसंगों के उपस्थित होने पर इनमें कुछ परिवर्तन भी हो जाता है। जैसे शृंगार रस का पोषक माधुर्य गुण माना गया है। पर यदि नायक धीरोदात्त या निशाचर हो, अथवा अवस्था विशेष में क्रुद्ध या उत्तेजित हो गया हो, तो उसके कथन या भाषण में ओज गुण होना आवश्यक और आनंददायक होगा। इसी प्रकार रौद्र, वीर आदि रसों की परिपुष्टि के लिये गौड़ी रीति का अनुसरण वांछनीय कहा गया है; पर अभिनय में बड़े बड़े समासों की वाक्य-रचना से दर्शकों में अरुचि उत्पन्न होने की बहुत संभावना है। जिस बात के समझने में उन्हें कठिनता होगी, उससे चमत्कृत होकर अलौकिक आनंद का प्राप्त करना उनके लिये कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असंभव हो जायगा। ऐसे अवसरों पर नियत सिद्धांत के प्रतिकूल रचना करना कोई दोष

नहीं माना जाता; बल्कि वह लेखक या कवि की कुशलता तथा विचक्षणता का ही द्योतक होता है।

हम शब्दों और वाक्यों के विषय में संक्षेप में लिख चुके हैं। अब पदों के संबंध में कुछ विवेचन करना आवश्यक है। परंतु

अलंकारों का स्थान

जिस प्रकार वाक्यों के विचार के अनंतर गुण, रीति आदि पर हमने विचार किया है, उसी प्रकार अलंकारों के संबंध में भी विवेचन करना आवश्यक है। जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते, उसका उत्कर्ष बढ़ाते और रस, भाव आदि को उत्तेजित करते हैं। इन्हें शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म कहा है; क्योंकि जैसे भूषणों के बिना भी शरीर की नैसर्गिक शोभा बनी रहती है, उसी प्रकार अलंकार न रहने पर भी शब्द और अर्थ की सहज सुंदरता, मधुरता आदि बनी रहती है। हम पहले लिख चुके हैं कि वाक्यों की अंतरात्मा और बाह्यालंकारों में बड़ा भेद है। दोनों को एक मानना अथवा एक को दूसरे का स्थानापन्न करना काव्य के मर्म को न जानकर उसे नष्ट करना है। काव्यों में भाव, विचार और कल्पना उसकी अंतरात्मा के मुख्य स्वरूप कहे गए हैं; और वास्तव में काव्य की महत्ता इन्हीं के कारण प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करती है। अलंकार इस महत्ता को बढ़ा सकते हैं, उसे अधिक सुंदर और मनोहर बना सकते हैं; परंतु भाव, विचार तथा

कल्पना का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते और न उनके आधिपत्य का विनाश करके उनके स्थान के अधिकारी हो सकते हैं। हम भावों, विचारों तथा कल्पनाओं को काव्य-राज्य के अधिकारी कह सकते हैं और अलंकारों को उनके पारिपार्श्विक का स्थान दे सकते हैं। दुर्भाग्यवश हमारी हिंदी कविता में इस बात का ध्यान न रखकर अलंकारों को ही सब कुछ मान लिया गया है; और लोगों ने उन्हीं के पठन-पाठन तथा विवेचन को कविता का सर्वस्व समझ रखा है। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि अलंकार अत्यंत हेय तथा तुच्छ और इसलिये सर्वथा त्याज्य हैं। हम केवल यह बताना चाहते हैं कि उनका स्थान गौण है और उन्हें अपने अधिकार की सीमा के अंदर ही रखकर अपना कौशल दिखाने का अवसर देना चाहिए; दूसरों के विशेष महत्व के अधिकार का अपहरण करने में उन्हें किसी प्रकार की सहायता न देनी चाहिए।

हम कह चुके हैं कि अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। इसी लिये अलंकारों के दो भेद किए गए हैं—एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार। यदि कहीं कहीं एक ही साथ दोनों प्रकार के अलंकार आ जाते हैं, तो उनको उभयालंकार की संज्ञा दी जाती है। शब्दालंकार पाँच प्रकार के माने जाते हैं। अर्थात्-वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। चित्रालंकार में शब्दों के निबंधन से भिन्न भिन्न प्रकार के चित्र बनाए जाते हैं। केवल शब्दों को किसी वांछित क्रम से बैठाना ही इस

नहीं माना जाता; बल्कि वह लेखक या कवि की कुशलता तथा विचक्षणता का ही द्योतक होता है।

हम शब्दों और वाक्यों के विषय में संक्षेप में लिख चुके हैं। अब पदों के संबंध में कुछ विवेचन करना आवश्यक है। परंतु

अलंकारों का स्थान

जिस प्रकार वाक्यों के विचार के अनंतर गुण, रीति आदि पर हमने विचार किया है, उसी प्रकार अलंकारों के संबंध में भी विवेचन करना आवश्यक है। (जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते, उसका उत्कर्ष बढ़ाते और रस, भाव आदि को उत्तेजित करते हैं।) इन्हें शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म कहा है; क्योंकि जैसे भूषणों के बिना भी शरीर की नैसर्गिक शोभा बनी रहती है, उसी प्रकार अलंकार न रहने पर भी शब्द और अर्थ की सहज सुंदरता, मधुरता आदि बनी रहती है। हम पहले लिख चुके हैं कि वाक्यों की अंतरात्मा और बाह्यालंकारों में बड़ा भेद है। दोनों को एक मानना अथवा एक को दूसरे का स्थानापन्न करना काव्य के मर्म को न जानकर उसे नष्ट करना है। काव्यों में भाव, विचार और कल्पना उसकी अंतरात्मा के मुख्य स्वरूप कहे गए हैं; और वास्तव में काव्य की महत्ता इन्हीं के कारण प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करती है। अलंकार इस महत्ता को बढ़ा सकते हैं, उसे अधिक सुंदर और मनोहर बना सकते हैं; परंतु भाव, विचार तथा

कल्पना का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते और न उनके आधिपत्य का विनाश करके उनके स्थान के अधिकारी हो सकते हैं। हम भावों, विचारों तथा कल्पनाओं को काव्य-राज्य के अधिकारी कह सकते हैं और अलंकारों को उनके पारिपार्श्वक का स्थान दे सकते हैं। दुर्भाग्यवश हमारी हिंदी कविता में इस बात का ध्यान न रखकर अलंकारों को ही सब कुछ मान लिया गया है; और लोगों ने उन्हीं के पठन-पाठन तथा विवेचन को कविता का सर्वस्व समझ रखा है। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि अलंकार अत्यंत हेय तथा तुच्छ और इसलिये सर्वथा त्याज्य हैं। हम केवल यह बताना चाहते हैं कि उनका स्थान गौण है और उन्हें अपने अधिकार की सीमा के अंदर ही रखकर अपना कौशल दिखाने का अवसर देना चाहिए; दूसरों के विशेष महत्व के अधिकार का अपहरण करने में उन्हें किसी प्रकार की सहायता न देनी चाहिए।

हम कह चुके हैं कि अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। इसी लिये अलंकारों के दो भेद किए गए हैं—एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार। यदि कहीं कहीं एक ही साथ दोनों प्रकार के अलंकार आ जाते हैं, तो उनको उभयालंकार की संज्ञा दी जाती है। शब्दालंकार पाँच प्रकार के माने जाते हैं। अर्थात्-वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। चित्रालंकार में शब्दों के निबंधन से भिन्न भिन्न प्रकार के चित्र बनाए जाते हैं। केवल शब्दों को किसी वांछित क्रम से बैठाना ही इस

नहीं माना जाता; बल्कि वह लेखक या कवि की कुशलता तथा विचक्षणता का ही द्योतक होता है।

हम शब्दों और वाक्यों के विषय में संक्षेप में लिख चुके हैं। अब पदों के संबंध में कुछ विवेचन करना आवश्यक है। परंतु जिस प्रकार वाक्यों के विचार के अनंतर गुण, रीति आदि पर हमने विचार किया है, उसी प्रकार अलंकारों के संबंध में भी विवेचन करना आवश्यक है।

अलंकारों का स्थान

(जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते, उसका उत्कर्ष बढ़ाते और रस, भाव आदि को उत्तेजित करते हैं।) इन्हें शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म कहा है; क्योंकि जैसे भूषणों के बिना भी शरीर की नैसर्गिक शोभा बनी रहती है, उसी प्रकार अलंकार न रहने पर भी शब्द और अर्थ की सहज सुंदरता, मधुरता आदि बनी रहती है। हम पहले लिख चुके हैं कि वाक्यों की अंतरात्मा और बाह्यालंकारों में बड़ा भेद है। दोनों को एक मानना अथवा एक को दूसरे का स्थानापन्न करना काव्य के मर्म को न जानकर उसे नष्ट करना है। काव्यों में भाव, विचार और कल्पना उसकी अंतरात्मा के मुख्य स्वरूप कहे गए हैं; और वास्तव में काव्य की महत्ता इन्हीं के कारण प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करती है। अलंकार इस महत्ता को बढ़ा सकते हैं, उसे अधिक सुंदर और मनोहर बना सकते हैं; परंतु भाव, विचार तथा

कल्पना का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते और न उनके आधिपत्य का विनाश करके उनके स्थान के अधिकारी हो सकते हैं। हम भावों, विचारों तथा कल्पनाओं को काव्य-राज्य के अधिकारी कह सकते हैं और अलंकारों को उनके पारिपार्श्वक का स्थान दे सकते हैं। दुर्भाग्यवश हमारी हिंदी कविता में इस बात का ध्यान न रखकर अलंकारों को ही सब कुछ मान लिया गया है; और लोगों ने उन्हीं के पठन-पाठन तथा विवेचन को कविता का सर्वस्व समझ रखा है। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि अलंकार अत्यंत हेय तथा तुच्छ और इसलिये सर्वथा त्याज्य हैं। हम केवल यह बताना चाहते हैं कि उनका स्थान गौण है और उन्हें अपने अधिकार की सीमा के अंदर ही रखकर अपना कौशल दिखाने का अवसर देना चाहिए; दूसरों के विशेष महत्व के अधिकार का अपहरण करने में उन्हें किसी प्रकार की सहायता न देनी चाहिए।

हम कह चुके हैं कि अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। इसी लिये अलंकारों के दो भेद किए गए हैं—एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार। यदि कहीं कहीं एक ही साथ दोनों प्रकार के अलंकार आ जाते हैं, तो उनको उभयालंकार की संज्ञा दी जाती है। शब्दालंकार पाँच प्रकार के माने जाते हैं। अर्थात्-वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। चित्रालंकार में शब्दों के निबंधन से भिन्न भिन्न प्रकार के चित्र बनाए जाते हैं। केवल शब्दों को किसी वांछित क्रम से बैठाना ही इस

नहीं माना जाता; बल्कि वह लेखक या कवि की कुशलता तथा विचक्षणता का ही द्योतक होता है।

हम शब्दों और वाक्यों के विषय में संक्षेप में लिख चुके हैं। अब पदों के संबंध में कुछ विवेचन करना आवश्यक है। परंतु जिस प्रकार वाक्यों के विचार के अनंतर गुण, रीति आदि पर हमने विचार किया है, उसी प्रकार अलंकारों के संबंध में भी विवेचन करना आवश्यक है।

अलंकारों का स्थान

(जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते, उसका उत्कर्ष बढ़ाते और रस, भाव आदि को उत्तेजित करते हैं।) इन्हें शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म कहा है; क्योंकि जैसे भूषणों के बिना भी शरीर की नैसर्गिक शोभा बनी रहती है, उसी प्रकार अलंकार न रहने पर भी शब्द और अर्थ की सहज सुंदरता, मधुरता आदि बनी रहती है। हम पहले लिख चुके हैं कि वाक्यों की अंतरात्मा और बाह्यालंकारों में बड़ा भेद है। दोनों को एक मानना अथवा एक को दूसरे का स्थानापन्न करना काव्य के मर्म को न जानकर उसे नष्ट करना है। काव्यों में भाव, विचार और कल्पना उसकी अंतरात्मा के मुख्य स्वरूप कहे गए हैं; और वास्तव में काव्य की महत्ता इन्हीं के कारण प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करती है। अलंकार इस महत्ता को बढ़ा सकते हैं, उसे अधिक सुंदर और मनोहर बना सकते हैं; परंतु भाव, विचार तथा

कल्पना का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते और न उनके आधिपत्य का विनाश करके उनके स्थान के अधिकारी हो सकते हैं। हम भावों, विचारों तथा कल्पनाओं को काव्य-राज्य के अधिकारी कह सकते हैं और अलंकारों को उनके पारिपार्श्वक का स्थान दे सकते हैं। दुर्भाग्यवश हमारी हिंदी कविता में इस बात का ध्यान न रखकर अलंकारों को ही सब कुछ मान लिया गया है; और लोगों ने उन्हीं के पठन-पाठन तथा विवेचन को कविता का सर्वस्व समझ रखा है। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि अलंकार अत्यंत हेय तथा तुच्छ और इसलिये सर्वथा त्याज्य हैं। हम केवल यह बताना चाहते हैं कि उनका स्थान गौण है और उन्हें अपने अधिकार की सीमा के अंदर ही रखकर अपना कौशल दिखाने का अवसर देना चाहिए; दूसरों के विशेष महत्व के अधिकार का अपहरण करने में उन्हें किसी प्रकार की सहायता न देनी चाहिए।

हम कह चुके हैं कि अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। इसी लिये अलंकारों के दो भेद किए गए हैं—एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार। यदि कहीं कहीं एक ही साथ दोनों प्रकार के अलंकार आ जाते हैं, तो उनको उभयालंकार की संज्ञा दी जाती है। शब्दालंकार पाँच प्रकार के माने जाते हैं। अर्थात्-वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। चित्रालंकार में शब्दों के निबंधन से भिन्न भिन्न प्रकार के चित्र बनाए जाते हैं। केवल शब्दों को किसी वांछित क्रम से बैठाना ही इस

अलंकार का मुख्य कर्म है। इसमें एक प्रकार का मानसिक कौशल दिखाना पड़ता है। प्रायः ऐसा करने में शब्दों को बहुत कुछ तोड़ने मरोड़ने की भी आवश्यकता पड़ती है; अतएव इसमें स्वाभाविकता का बहुत कुछ नाश हो जाता है। श्लेष और यमक में बहुत थोड़ा भेद है। जहाँ एक शब्द अनेक अर्थ दे, वहाँ श्लेष और जहाँ एक शब्द अनेक बेर आवे और साथ ही भिन्न भिन्न अर्थ भी दे, वहाँ यमक अलंकार होता है। अनुप्रास में स्वरों के भिन्न रहते हुए भी सदृश वर्णों का कई बेर प्रयोग होता है। कहीं व्यंजन आपस में बार बार मिल जाते हैं, कहीं व्यंजनों का एक प्रकार से एक बेर साम्य अथवा अनेक प्रकार से कई बेर साम्य होता है। पद के अंत में आनेवाले सस्वर व्यंजनों का साम्य भी अनुप्रास के ही अंतर्गत माना जाता है। जहाँ एक अभिप्राय से कहे हुए वाक्य को किसी दूसरे अर्थ में लगा दिया जाता है, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। इन सबके बड़े ही सूक्ष्म और अनेक उपभेद किए गए हैं। पर इनका तत्व यही है कि वर्णों की मैत्री, संयोग या आवृत्ति के कारण शब्दों में जो चमत्कार आ जाता है, उसे ही अलंकार माना गया है। अर्थालंकारों की संख्या का तो ठिकाना ही नहीं है। ये अलंकार कल्पना के द्वारा बुद्धि को प्रभावित करते हैं, अतएव इनके सूक्ष्म विचार में बुद्धि के तत्वों का विचार आवश्यक हो जाता है। हमारी प्रज्ञात्मक शक्तियाँ तीन भिन्न भिन्न रूपों से हमें प्रभावित करती हैं; अर्थात् साम्य, विरोध और सान्निध्य से।

जब समान पदार्थ हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, तब उनकी समानता का भाव हमारे मन पर अंकित हो जाता है। इसी प्रकार जब हम पदार्थों में विभेद देखते हैं, तब उनका पारस्परिक विरोध या अपेक्षता हमारे मन पर जम जाती है। जब हम एक पदार्थ को दूसरे के अनंतर और दूसरे को तीसरे के अनंतर देखते हैं, अथवा दो का अभ्युदय एक साथ देखते हैं, तब हमारी मानसिक शक्ति बिना किसी प्रकार के व्यतिक्रम के हमारे मस्तिष्क पर अपनी छाप जमाती जाती है और काम पड़ने पर स्मरण-शक्ति को सहायका से हम उन्हें पुनः यथारूप उपस्थित करने में समर्थ होते हैं; अथवा जब दो पदार्थ एक दूसरे के अनंतर हमारे ध्यान में अवस्थित होते हैं या जब उनमें से एक ही पदार्थ कभी समता और कभी विरोध का भाव व्यक्त करता है, तब हम अपने मन में उसका संबंध स्थापित करते हैं और एक का स्मरण होते हो दूसरा आपसे आप हमारे ध्यान में आ जाता है। इसे ही सान्निध्य या तटस्थता कहते हैं।

हमारे यहाँ अलंकारों की संख्या का ठिकाना नहीं है। उन्हें श्रेणीबद्ध करने का भी कोई उद्योग नहीं किया गया है। इससे बिना आधार के चलने के कारण उनकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यहाँ इस बात पर ध्यान दिला देना आवश्यक है कि अलंकार यथार्थ में वर्णन करने की एक शैली है, वर्णन का विषय नहीं है। अतएव वर्णित विषयों के आधार

अलंकार का मुख्य कर्म है। इसमें एक प्रकार का मानसिक कौशल दिखाना पड़ता है। प्रायः ऐसा करने में शब्दों को बहुत कुछ तोड़ने मरोड़ने की भी आवश्यकता पड़ती है; अतएव इसमें स्वाभाविकता का बहुत कुछ नाश हो जाता है। श्लेष और यमक में बहुत थोड़ा भेद है। जहाँ एक शब्द अनेक अर्थ दे, वहाँ श्लेष और जहाँ एक शब्द अनेक बेर आवे और साथ ही भिन्न भिन्न अर्थ भी दे, वहाँ यमक अलंकार होता है। अनुप्रास में स्वरों के भिन्न रहते हुए भी सदृश वर्णों का कई बेर प्रयोग होता है। कहीं व्यंजन आपस में बार बार मिल जाते हैं, कहीं व्यंजनों का एक प्रकार से एक बेर साम्य अथवा अनेक प्रकार से कई बेर साम्य होता है। पद के अंत में आनेवाले सस्वर व्यंजनों का साम्य भी अनुप्रास के ही अंतर्गत माना जाता है। जहाँ एक अभिप्राय से कहे हुए वाक्य को किसी दूसरे अर्थ में लगा दिया जाता है, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। इन सबके बड़े ही सूक्ष्म और अनेक उपभेद किए गए हैं। पर इनका तत्व यही है कि वर्णों की मैत्री, संयोग या आवृत्ति के कारण शब्दों में जो चमत्कार आ जाता है, उसे ही अलंकार माना गया है। अर्थालंकारों की संख्या का तो ठिकाना ही नहीं है। ये अलंकार कल्पना के द्वारा बुद्धि को प्रभावित करते हैं, अतएव इनके सूक्ष्म विचार में बुद्धि के तत्वों का विचार आवश्यक हो जाता है। हमारी प्रज्ञात्मक शक्तियाँ तीन भिन्न भिन्न रूपों से हमें प्रभावित करती हैं; अर्थात् साम्य, विरोध और सान्निध्य से।

जब समान पदार्थ हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, तब उनकी समानता का भाव हमारे मन पर अंकित हो जाता है। इसी प्रकार जब हम पदार्थों में विभेद देखते हैं, तब उनका पारस्परिक विरोध या अपेक्षता हमारे मन पर जम जाती है। जब हम एक पदार्थ को दूसरे के अनंतर और दूसरे को तीसरे के अनंतर देखते हैं, अथवा दो का अभ्युदय एक साथ देखते हैं, तब हमारी मानसिक शक्ति बिना किसी प्रकार के व्यतिक्रम के हमारे मस्तिष्क पर अपनी छाप जमाती जाती है और काम पड़ने पर स्मरण-शक्ति को सहायता से हम उन्हें पुनः यथारूप उपस्थित करने में समर्थ होते हैं; अथवा जब दो पदार्थ एक दूसरे के अनंतर हमारे ध्यान में अवस्थित होते हैं या जब उनमें से एक ही पदार्थ कभी समता और कभी विरोध का भाव व्यक्त करता है, तब हम अपने मन में उसका संबंध स्थापित करते हैं और एक का स्मरण होते ही दूसरा आपसे आप हमारे ध्यान में आ जाता है। इसे ही सान्निध्य या तटस्थता कहते हैं।

हमारे यहाँ अलंकारों की संख्या का ठिकाना नहीं है। उन्हें श्रेणीबद्ध करने का भी कोई उद्योग नहीं किया गया है। इससे बिना आधार के चलने के कारण उनकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यहाँ इस बात पर ध्यान दिला देना आवश्यक है कि अलंकार यथार्थ में वर्णन करने की एक शैली है, वर्णन का विषय नहीं है। अतएव वर्णित विषयों के आधार

पर अलंकारों की रचना करके उनकी संख्या बढ़ाना उचित नहीं है। स्वभावोक्ति और उदात्त अलंकारों का संबंध वर्णित विषय से होने के कारण इनकी गणना अलंकारों में नहीं होनी चाहिए। हमारे यहाँ कुछ लोगों ने अलंकारों की संख्या घटाकर ६१ भी मानी है; पर इसमें भी एक अलंकार के अनेक भेद तथा उपभेद आ मिले हैं। साम्य, विरोध और सान्निध्य या तटस्थता के विचार से हम इन अलंकारों की तीन श्रेणियाँ बना सकते हैं और उनमें के उपभेदों को घटाकर अलंकारों की संख्या नियत कर सकते हैं।

अब हमको केवल पद-विन्यास के संबंध में कुछ विचार करना है। पदों से हमारा तात्पर्य वाक्यों के समूहों से है।

पद-विन्यास

किसी विषय पर कोई ग्रंथ लिखने का विचार करते ही पहले उसके मुख्य मुख्य विभाग कर लिए जाते हैं, जो आगे चलकर परिच्छेदों या अध्यायों के रूप में प्रकट होते हैं। एक एक अध्याय में मुख्य विषय के प्रधान प्रधान अंशों का प्रतिपादन किया जाता है। इस संबंध में ध्यान रखने की बात इतनी ही है कि परिच्छेदों का निश्चय इस प्रकार से किया जाय कि मुख्य विषय की प्रधान प्रधान बातें एक एक परिच्छेद में आ जायँ; उनकी आवृत्ति करने की आवश्यकता न पड़े और न वे एक दूसरे को अतिव्याप्त करें। ऐसा कर लेने से सब परिच्छेद एक दूसरे से संबद्ध जान पड़ेंगे और प्रतिपादित विषय को हृदयंगम करने में सुगम-

ता होगी। परिच्छेदों में प्रधान विषयों को अनेक उपभागों में बाँटकर उन्हें सुव्यवस्थित करना पड़ता है जिसमें पदों की एक पूर्ण शृंखला सी बन जाय। इस शृङ्खला की एक कड़ी के टूट जाने से सारी शृंखला अव्यवस्थित और असंबद्ध हो सकती है। पदों में इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि उनमें किसी एक बात का प्रतिपादन किया जाय और उस पद के समस्त वाक्य एक दूसरे से इस भाँति मिले रहें कि यदि बीच में से कोई वाक्य निकाल दिया जाय, तो वाक्यों की स्पष्टता नष्ट होकर उनकी शिथिलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इस मुख्य सिद्धांत को सामने रखकर पदों की रचना आरंभ करनी चाहिए। इस संबंध में दो बातें विशेष गौरव की हैं—एक तो वाक्यों का एक दूसरे से संबंध तथा संक्रमण, और दूसरे वाक्यों के भावों में क्रमशः विकास या परिवर्तन। वाक्यों के संबंध और संक्रमण में उच्छृंखलता को बचाकर उन्हें इस प्रकार से संघटित करना चाहिए कि ऐसा जान पड़े कि बिना किसी अवरोध या परिश्रम के हम एक वाक्य से दूसरे वाक्य पर स्वभावतः सरकते चले जा रहे हैं और अंत में परिणाम पर पहुँचकर ही साँस लेते हैं। इन दोनों बातों में सफलता प्राप्त करने के लिये संयोजक और वियोजक शब्दों के उपयुक्त प्रयोगों को बड़े ध्यान और कौशल से काव्य या लेख में लाना चाहिए। जहाँ ऐसे शब्दों की आवश्यकता न जान पड़े, वहाँ वाक्यों के भावों से ही उनका काम लेना चाहिए।

पर अलंकारों की रचना करके उनकी संख्या बढ़ाना उचित नहीं है। स्वभावोक्ति और उदात्त अलंकारों का संबंध वर्णित विषय से होने के कारण इनकी गणना अलंकारों में नहीं होनी चाहिए। हमारे यहाँ कुछ लोगों ने अलंकारों की संख्या घटाकर ६१ भी मानी है; पर इसमें भी एक अलंकार के अनेक भेद तथा उपभेद आ मिले हैं। साम्य, विरोध और सान्निध्य या तट-स्थता के विचार से हम इन अलंकारों की तीन श्रेणियाँ बना सकते हैं और उनमें के उपभेदों को घटाकर अलंकारों की संख्या नियत कर सकते हैं।

अब हमको केवल पद-विन्यास के संबंध में कुछ विचार करना है। पदों से हमारा तात्पर्य वाक्यों के समूहों से है।

पद-विन्यास

किसी विषय पर कोई ग्रंथ लिखने का विचार करते ही पहले उसके मुख्य मुख्य विभाग कर लिए जाते हैं, जो आगे चलकर परिच्छेदों या अध्यायों के रूप में प्रकट होते हैं। एक एक अध्याय में मुख्य विषय के प्रधान प्रधान अंशों का प्रतिपादन किया जाता है। इस संबंध में ध्यान रखने की बात इतनी ही है कि परिच्छेदों का निश्चय इस प्रकार से किया जाय कि मुख्य विषय की प्रधान प्रधान बातें एक एक परिच्छेद में आ जायँ; उनकी आवृत्ति करने की आवश्यकता न पड़े और न वे एक दूसरे को अतिव्याप्त करें। ऐसा कर लेने से सब परिच्छेद एक दूसरे से संबद्ध जान पड़ेंगे और प्रतिपादित विषय को हृदयंगम करने में सुगम-

ता होगी। परिच्छेदों में प्रधान विषयों को अनेक उपभागों में बाँटकर उन्हें सुव्यवस्थित करना पड़ता है जिसमें पदों की एक पूर्ण शृंखला सी बन जाय। इस शृङ्खला की एक कड़ी के टूट जाने से सारी शृंखला अव्यवस्थित और असंबद्ध हो सकती है। पदों में इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि उनमें किसी एक बात का प्रतिपादन किया जाय और उस पद के समस्त वाक्य एक दूसरे से इस भाँति मिले रहें कि यदि बीच में से कोई वाक्य निकाल दिया जाय, तो वाक्यों की स्पष्टता नष्ट होकर उनकी शिथिलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इस मुख्य सिद्धांत को सामने रखकर पदों की रचना आरंभ करनी चाहिए। इस संबंध में दो बातें विशेष गौरव की हैं—एक तो वाक्यों का एक दूसरे से संबंध तथा संक्रमण, और दूसरे वाक्यों के भावों में क्रमशः विकास या परिवर्तन। वाक्यों के संबंध और संक्रमण में उच्छृंखलता को बचाकर उन्हें इस प्रकार से संघटित करना चाहिए कि ऐसा जान पड़े कि बिना किसी अवरोध या परिश्रम के हम एक वाक्य से दूसरे वाक्य पर स्वभावतः सरकते चले जा रहे हैं और अंत में परिणाम पर पहुँचकर ही साँस लेते हैं। इन दोनों बातों में सफलता प्राप्त करने के लिये संयोजक और वियोजक शब्दों के उपयुक्त प्रयोगों को बड़े ध्यान और कौशल से काव्य या लेख में लाना चाहिए। जहाँ ऐसे शब्दों की आवश्यकता न जान पड़े, वहाँ वाक्यों के भावों से ही उनका काम लेना चाहिए।

शब्दों, वाक्यों और पदों का विवेचन समाप्त करके हम शैली के गुणों या विशेषताओं के संबंध में कुछ विचार करना चाहते हैं। हम वाक्यों के संबंध में विवेचन करते हुए शैली के गुण तीन गुणों, माधुर्य, ओज और प्रसाद का उल्लेख कर चुके हैं, तथा शब्दों, वाक्यों और पदों के संबंध में भी उनकी मुख्य मुख्य विशेषताएँ बता चुके हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने शैली के गुणों को दो भागों में विभक्त किया है—एक प्रज्ञात्मक और दूसरा रागात्मक। प्रज्ञात्मक गुणों में उन्होंने प्रसाद और स्पष्टता को और रागात्मक में शक्ति, करुण और हास्य को गिनाया है। इनके अतिरिक्त लालित्य के विचार से माधुर्य, सस्वरता और कलात्मक विवेचन को भी शैली की विशेषताओं में स्थान दिया है। शैली के गुणों का यह विभाजन वैज्ञानिक रीति पर किया हुआ नहीं जान हड़ता। हमारे यहाँ के माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीनों गुण अधिक संगत, व्यापक और सुव्यवस्थित जान पड़ते हैं। हमारे यहाँ आचार्यों ने इन गुणों और शब्दार्थालंकारों को रसों का परिपोषक तथा उत्कर्षसाधक मानकर इस विभाग को सर्वथा संगत, व्यवस्थित और वैज्ञानिक बना दिया है। अतएव हमारे यहाँ काव्य की अंतरात्मा के अंतर्गत भावों को मुख्य स्थान देकर रसों को जो उसका मूल आधार बना दिया है, उससे इस विषय की विवेचना बड़ी ही सुव्यवस्थित और सुंदर हो गई है। इन गुणों के विषय में हम पहले ही विशेष रूप से लिख चुके हैं।

अतएव यहाँ उसके उद्धरण की आवश्यकता नहीं है।

शैली के संबंध में हमें अब केवल एक बात की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता रह गई है। कविता के विवेचन में

वृत्त

गद्य और पद्य के संबंध में विचार करते हुए हम इस बात पर जोर दे चुके हैं कि गद्य और पद्य का मुख्य भेद वृत्त पर निर्भर रहता है। काव्य-कला और संगीत-कला के पारस्परिक संबंध का भी हम उल्लेख कर चुके हैं। इस संबंध को सुदृढ़ और स्पष्ट करने के लिये ही कविता में वृत्त की आवश्यकता होती है। सच बात तो यह है कि ईश्वर की समस्त सृष्टि, प्रकृति का समस्त साम्राज्य संगीतमय है। हम जिधर आँख उठाकर देखते और कान लगाकर सुनते हैं, उधर ही हमें सौंदर्य और संगीत स्पष्ट देख और सुन पड़ता है। जब हम यह समझ चुके हैं कि कविता समस्त सृष्टि से हमारा रागात्मक संबंध स्थापित करती और उसे सुदृढ़ बनाए रहती है, तब इस बात का प्रतिपादन करने की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई कि संगीत उस कविता को कितना मधुर, कोमल, मनोमोहक और आह्लादकारी बना देता है। इसी दृष्टि से हमारे आचार्यों ने कविता के इस अंग पर विशेष विचार किया है और इसका आवश्यकता से अधिक विस्तार भी किया है। संगीत कला का आधार सुर और लय है। अतएव काव्य में सुर और लय उत्पन्न करने तथा भिन्न भिन्न सुरों और लयों में परस्पर मित्रता का संबंध स्थापित करने के लिये हमारे यहाँ विशेष रूप से

शब्दों, वाक्यों और पदों का विवेचन समाप्त करके हम शैली के गुणों या विशेषताओं के संबंध में कुछ विचार करना

शैली के गुण

चाहते हैं। हम वाक्यों के संबंध में विवेचन करते हुए तीन गुणों, माधुर्य, ओज और प्रसाद का उल्लेख कर चुके हैं, तथा शब्दों, वाक्यों और पदों के संबंध में भी उनकी मुख्य मुख्य विशेषताएँ बता चुके हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने शैली के गुणों को दो भागों में विभक्त किया है—एक प्रज्ञात्मक और दूसरा रागात्मक। प्रज्ञात्मक गुणों में उन्होंने प्रसाद और स्पष्टता को और रागात्मक में शक्ति, करुण और हास्य को गिनाया है। इनके अतिरिक्त लालित्य के विचार से माधुर्य, सस्वरता और कलात्मक विवेचन को भी शैली की विशेषताओं में स्थान दिया है। शैली के गुणों का यह विभाजन वैज्ञानिक रीति पर किया हुआ नहीं जान हड़ता। हमारे यहाँ के माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीनों गुण अधिक संगत, व्यापक और सुव्यवस्थित जान पड़ते हैं। हमारे यहाँ आचार्यों ने इन गुणों और शब्दार्थालंकारों को रसों का परिपोषक तथा उत्कर्षसाधक मानकर इस विभाग को सर्वथा संगत, व्यवस्थित और वैज्ञानिक बना दिया है। अतएव हमारे यहाँ काव्य की अंतरात्मा के अंतर्गत भावों को मुख्य स्थान देकर रसों को जो उसका मूल आधार बना दिया है, उससे इस विषय की विवेचना बड़ी ही सुव्यवस्थित और सुंदर हो गई है। इन गुणों के विषय में हम पहले ही विशेष रूप से लिख चुके हैं।

अतएव यहाँ उसके उद्धरण की आवश्यकता नहीं है।

शैली के संबंध में हमें अब केवल एक बात की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता रह गई है। कविता के विवेचन में गद्य और पद्य के संबंध में विचार करते हुए हम इस बात पर जोर दे चुके हैं कि गद्य और पद्य का मुख्य भेद वृत्त पर निर्भर रहता है। काव्य-कला और संगीत-कला के पारस्परिक संबंध का भी हम उल्लेख कर चुके हैं। इस संबंध को सुदृढ़ और स्पष्ट करने के लिये ही कविता में वृत्त की आवश्यकता होती है। सच बात तो यह है कि ईश्वर की समस्त सृष्टि, प्रकृति का समस्त साम्राज्य संगीतमय है। हम जिधर आँख उठाकर देखते और कान लगाकर सुनते हैं, उधर ही हमें सौंदर्य और संगीत स्पष्ट देख और सुन पड़ता है। जब हम यह समझ चुके हैं कि कविता समस्त सृष्टि से हमारा रागात्मक संबंध स्थापित करती और उसे सुदृढ़ बनाए रहती है, तब इस बात का प्रतिपादन करने की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई कि संगीत उस कविता को कितना मधुर, कोमल, मनोमोहक और आह्लादकारी बना देता है। इसी दृष्टि से हमारे आचार्यों ने कविता के इस अंग पर विशेष विचार किया है और इसका आवश्यकता से अधिक विस्तार भी किया है। संगीत कला का आधार सुर और लय है। अतएव काव्य में सुर और लय उत्पन्न करने तथा भिन्न भिन्न सुरों और लयों में परस्पर मित्रता का संबंध स्थापित करने के लिये हमारे यहाँ विशेष रूप से

वृत्त

विवेचन किया गया है। हम ऊपर वृत्तियों तथा शब्दालंकारों का उल्लेख कर चुके हैं। एक प्रकार से ये दोनों बातें भी संगीतात्मक गुण की उत्पादक और उत्कर्षसाधक हैं। परंतु पिंगलशास्त्र में यह विषय बड़े विस्तार के साथ लिखा गया है। इसका मूल आधार वर्णों की लघुता और गुरुता तथा उनका पारस्परिक संयोग अथवा उनकी संख्या है। इस दृष्टि से हमारे यहाँ दो प्रकार के वृत्त माने गए हैं—एक मात्रामूलक और दूसरे वर्ण-मूलक। मात्रामूलक वृत्तों में लघु-गुरु के विचार से मात्राओं की संख्याएँ नियत रहती हैं और इनकी गणना को सुगम करने तथा मात्राओं का तारतम्य व्यवस्थित करने के लिये गणों की कल्पना की गई है। वर्णमूलक छंदों में प्रत्येक चरण के वर्णों की संख्या नियत रहती है। दोनों प्रकार के छंदों में जिन स्थानों पर वर्णों का उच्चारण करने में जिह्वा को रुकावट या अवरोध होता है, अथवा जहाँ विश्राम की आवश्यकता होती है, उन स्थानों का भी विवेचन करके उन्हें नियत कर दिया है। ऐसे स्थानों को यति, विश्राम या विराम कहते हैं। यहाँ इस संबंध में विस्तारपूर्वक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

उपसंहार

अंत में इस शैली-विवेचन को समाप्त करते हुए हम यह कह देना आवश्यक तथा उचित समझते हैं कि आजकल हमारे यहाँ शैली-विवेचन के संबंध में विशेष कर इसी विषय पर विचार किया जाता है कि अपने भावों और विचारों को प्रकट करने में हम अपने यहाँ के ठेठ,

संस्कृत या विदेशी शब्दों का कहाँ तक प्रयोग करते हैं। मानो शब्दों की व्युत्पत्ति ही सबसे महत्व की बात है। जब दो जातियों का सम्मिलन होता है, तब उनमें परस्पर भावों, विचारों तथा शब्दों का विनिमय होता ही है। यही नहीं, बल्कि एक जाति की प्रकृति, रहन-सहन, सद्गुणों तथा दुर्गुणों तक का भी दूसरी जाति पर प्रभाव पड़ता है। वे इन बातों से लाख उद्योग करने पर भी बच नहीं सकतीं। जब यह अटल नियम सब अवस्थाओं में लग सकता है, निरंतर लगता आया है और लगता रहेगा, तब इस पर इतना आगा-पीछा करने की क्या आवश्यकता है? इस संबंध में जो कुछ विचार करने तथा ध्यान में रखने की बात है, वह यही है कि जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें, तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर, हम उनके पूर्व रूप-रंग, आकार-प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनका स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन रहेगी। हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम उन्हें अपने शब्द-कुल में पूर्णतया सम्मिलित करके बिलकुल अपना बना लें। हमारी शक्ति, हमारी भाषा की शक्ति इसी में है कि हम उन्हें अपने रंग में रँग कर ऐसा अपना लें कि फिर उनमें विदेशीपन की झलक भी न रह जाय। यह हमारे लिये

विवेचन किया गया है। हम ऊपर वृत्तियों तथा शब्दालंकारों का उल्लेख कर चुके हैं। एक प्रकार से ये दोनों बातें भी संगीतात्मक गुण की उत्पादक और उत्कर्षसाधक हैं। परंतु पिंगलशास्त्र में यह विषय बड़े विस्तार के साथ लिखा गया है। इसका मूल आधार वर्णों की लघुता और गुरुता तथा उनका पारस्परिक संयोग अथवा उनकी संख्या है। इस दृष्टि से हमारे यहाँ दो प्रकार के वृत्त माने गए हैं—एक मात्रामूलक और दूसरे वर्ण-मूलक। मात्रामूलक वृत्तों में लघु-गुरु के विचार से मात्राओं की संख्याएँ नियत रहती हैं और इनकी गणना को सुगम करने तथा मात्राओं का तारतम्य व्यवस्थित करने के लिये गणों की कल्पना की गई है। वर्णमूलक छंदों में प्रत्येक चरण के वर्णों की संख्या नियत रहती है। दोनों प्रकार के छंदों में जिन स्थानों पर वर्णों का उच्चारण करने में जिह्वा को रुकावट या अवरोध होता है, अथवा जहाँ विश्राम की आवश्यकता होती है, उन स्थानों का भी विवेचन करके उन्हें नियत कर दिया है। ऐसे स्थानों को यति, विश्राम या विराम कहते हैं। यहाँ इस संबंध में विस्तारपूर्वक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

उपसंहार

अंत में इस शैली-विवेचन को समाप्त करते हुए हम यह कह देना आवश्यक तथा उचित समझते हैं कि आजकल हमारे यहाँ शैली-विवेचन के संबंध में विशेष कर इसी विषय पर विचार किया जाता है कि अपने भावों और विचारों को प्रकट करने में हम अपने यहाँ के ठेठ,

संस्कृत या विदेशी शब्दों का कहाँ तक प्रयोग करते हैं। मानो शब्दों की व्युत्पत्ति ही सबसे महत्व की बात है। जब दो जातियों का सम्मिलन होता है, तब उनमें परस्पर भावों, विचारों तथा शब्दों का विनिमय होता ही है। यही नहीं, बल्कि एक जाति की प्रकृति, रहन-सहन, सद्गुणों तथा दुर्गुणों तक का भी दूसरी जाति पर प्रभाव पड़ता है। वे इन बातों से लाख उद्योग करने पर भी बच नहीं सकतीं। जब यह अटल नियम सब अवस्थाओं में लग सकता है, निरंतर लगता आया है और लगता रहेगा, तब इस पर इतना आगा-पीछा करने की क्या आवश्यकता है? इस संबंध में जो कुछ विचार करने तथा ध्यान में रखने की बात है, वह यही है कि जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें, तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर, हम उनके पूर्व रूप-रंग, आकार-प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनका स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन रहेगी। हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम उन्हें अपने शब्द-कुल में पूर्णतया सम्मिलित करके बिलकुल अपना बना लें। हमारी शक्ति, हमारी भाषा की शक्ति इसी में है कि हम उन्हें अपने रंग में रँग कर ऐसा अपना लें कि फिर उनमें विदेशीपन की झलक भी न रह जाय। यह हमारे लिये

कोई नया काम नहीं होगा। बहुत वर्षों से नहीं, अनेक शताब्दियों से हम इस प्रकार की विजय करते आए हैं और अब हमें इसमें हिचकिचाने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरी बात, जिस पर हम ध्यान दिलाना चाहते हैं, यह भ्रमात्मक विश्वास है कि शैली की कठिनता या सरलता शब्दों के प्रयोग पर निर्भर रहती है। भाषा की कठिनता या सरलता केवल शब्दों की तत्समता या तद्भवता पर निर्भर नहीं रहती। विचारों की गूढ़ता, विषय-प्रतिपादन की गंभीरता, मुहाविरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और वाक्यों की जटिलता किसी भाषा को कठिन तथा इसके विपरीत गुणों की स्थिति ही उसे सरल बनाती है। रचना-शैली में यह बात सदा ध्यान में रखना आवश्यक है।

दसवाँ अध्याय

साहित्य की आलोचना

आलोचना का कार्य

साहित्य क्षेत्र में, ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके संबंध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। यह आलोचना काव्य, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि सभी की हो सकती है; यहाँ तक कि स्वयं आलोचनात्मक ग्रंथों की भी आलोचना हो सकती है। यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें, तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।

किसी ग्रंथ की आलोचना करने के समय हम उस ग्रंथ और उसके कर्ता का वास्तविक अभिप्राय समझना चाहते हैं; और तब उसके संबंध में अपनी कोई सम्मति स्थिर करना चाहते हैं। दूसरों ने किसी ग्रंथ या उसके कर्ता की जो आलोचना की हो, उससे भी हम लाभ उठा सकते हैं; पर वह लाभ उतना अधिक और वास्तविक नहीं हो सकता जितना स्वयं अध्ययन करने से होता है; क्योंकि उस दशा में हम उस आलोचक के विचारों से प्रभावान्वित हो जायँगे और अपनी निज की कोई सम्मति स्थिर करने में असमर्थ होंगे। हाँ अपनी

कोई नया काम नहीं होगा। बहुत वर्षों से नहीं, अनेक शताब्दियों से हम इस प्रकार की विजय करते आए हैं और अब हमें इसमें हिचकिचाने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरी बात, जिस पर हम ध्यान दिलाना चाहते हैं, यह भ्रमात्मक विश्वास है कि शैली की कठिनता या सरलता शब्दों के प्रयोग पर निर्भर रहती है। भाषा को कठिनता या सरलता केवल शब्दों की तत्समता या तद्भवता पर निर्भर नहीं रहती। विचारों की गूढ़ता, विषय-प्रतिपादन की गंभीरता, मुहाविरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और वाक्यों की जटिलता किसी भाषा को कठिन तथा इसके विपरीत गुणों की स्थिति ही उसे सरल बनाती है। रचना-शैली में यह बात सदा ध्यान में रखना आवश्यक है।

दसवाँ अध्याय

साहित्य की आलोचना

आलोचना का कार्य

साहित्य क्षेत्र में, ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके संबंध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। यह आलोचना काव्य, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि सभी की हो सकती है; यहाँ तक कि स्वयं आलोचनात्मक ग्रंथों की भी आलोचना हो सकती है। यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें, तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।

किसी ग्रंथ की आलोचना करने के समय हम उस ग्रंथ और उसके कर्ता का वास्तविक अभिप्राय समझना चाहते हैं; और तब उसके संबंध में अपनी कोई सम्मति स्थिर करना चाहते हैं। दूसरों ने किसी ग्रंथ या उसके कर्ता की जो आलोचना की हो, उससे भी हम लाभ उठा सकते हैं; पर वह लाभ उतना अधिक और वास्तविक नहीं हो सकता जितना स्वयं अध्ययन करने से होता है; क्योंकि उस दशा में हम उस आलोचक के विचारों से प्रभावान्वित हो जायँगे और अपनी निज की कोई सम्मति स्थिर करने में असमर्थ होंगे। हाँ अपनी

आलोचना में हम दूसरे आलोचकों के अध्ययन और आलोचना से कुछ लाभ अवश्य उठा सकते हैं। यदि कोई अच्छा कवि जीवन की व्याख्या करता है, तो एक अच्छा आलोचक हमें वह व्याख्या समझाने में सहायक होता है। कोई अच्छा आलोचक साधारण पाठकों की अपेक्षा अधिक ज्ञान-संपन्न होता है; उसका अध्ययन भी अधिक गंभीर और पूर्ण होता है; और इसलिये वह किसी कवि या लेखक की कृति के भिन्न भिन्न अंगों पर प्रकाश डालकर हमें अनेक नई बातें बतलाता और अनेक नए मार्ग दिखलाता है। वह हमारे मार्ग में एक अच्छे मित्र और पथ-दर्शक का काम देता है। वह हमें सिखलाता है कि अध्ययन किस प्रकार सचेत होकर और आँखें खोलकर करना चाहिए। चाहे उसकी सम्मति और निर्णय से हम सहमत हों और चाहे न हों, पर इसमें संदेह नहीं कि उसकी आलोचना से हम बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं और हमारा ज्ञान बहुत कुछ बढ़ सकता है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, आलोचना से दो काम होते हैं। एक तो किसी कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या की जाती है, और दूसरे उसके संबंध में कोई मत स्थिर किया जाता है। बहुधा आलोचक इन दोनों कामों को एक साथ मिला देते हैं और व्याख्या के अंतर्गत ही मत भी स्थिर कर लेते हैं। पर अब कुछ पाश्चात्य विद्वान् यह कहने लगे हैं कि आलोचक का काम केवल कृति की व्याख्या करना

है और उसे अपना कोई मत प्रकट नहीं करना चाहिए; क्योंकि उस मत का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है जिससे आगे चलकर आलोचना के काम में बाधा पड़ती है। पर यह मत उतना ठीक नहीं जान पड़ता। प्रत्येक व्यक्ति किसी ग्रंथ के विषय में, उसकी आलोचना करने के साथ ही साथ अपना मत भी प्रकट कर सकता है और उसके उस मत से लोग लाभ भी उठा सकते हैं।

यदि हम थोड़ी देर के लिये यह भी मान लें कि आलोचक को अपना मत प्रकट करने का कोई अधिकार नहीं है, तो भी यह प्रश्न उठता है कि व्याख्याता के रूप में आलोचक का क्या मत है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जान पड़ेगा कि व्याख्या का काम भी बहुत बड़ा और टेढ़ा है। किसी ग्रंथ की व्याख्या करने के लिये आलोचक को पूरा पूरा अध्ययन करना पड़ेगा; उसे ग्रंथ के ऊपरी गुणों और दोषों को छोड़कर भीतरी भावों तक पहुँचना पड़ेगा और यह देखना पड़ेगा कि उसमें कौन सी बातें साधारण और क्षणिक हैं और कौन सी बातें विशेषता-युक्त और स्थायी हैं; तथा उसे इस बात का पता लगाना पड़ेगा कि उसमें कला या नीति आदि के कौन कौन से सिद्धांत आदि हैं। उस ग्रंथ में जो गुण छिपे हुए होंगे, उनको वह प्रकाशित करेगा और उसमें इधर उधर बिखरे हुए तत्वों को एकत्र करके उन पर विचार करेगा। इस प्रकार वह हमें बतलावेगा कि विषय, भाव और कला आदि की दृष्टी से वह ग्रंथ कैसा है। इस दशा में उस ग्रंथ के गुण या दोष लोगों

आलोचना में हम दूसरे आलोचकों के अध्ययन और आलोचना से कुछ लाभ अवश्य उठा सकते हैं। यदि कोई अच्छा कवि जीवन की व्याख्या करता है, तो एक अच्छा आलोचक हमें वह व्याख्या समझाने में सहायक होता है। कोई अच्छा आलोचक साधारण पाठकों की अपेक्षा अधिक ज्ञान-संपन्न होता है; उसका अध्ययन भी अधिक गंभीर और पूर्ण होता है; और इसलिये वह किसी कवि या लेखक की कृति के भिन्न भिन्न अंगों पर प्रकाश डालकर हमें अनेक नई बातें बतलाता और अनेक नए मार्ग दिखलाता है। वह हमारे मार्ग में एक अच्छे मित्र और पथ-दर्शक का काम देता है। वह हमें सिखलाता है कि अध्ययन किस प्रकार सचेत होकर और आँखें खोलकर करना चाहिए। चाहे उसकी सम्मति और निर्णय से हम सहमत हों और चाहे न हों, पर इसमें संदेह नहीं कि उसकी आलोचना से हम बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं और हमारा ज्ञान बहुत कुछ बढ़ सकता है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, आलोचना से दो काम होते हैं। एक तो किसी कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या की जाती है, और दूसरे उसके संबंध में कोई मत स्थिर किया जाता है। बहुधा आलोचक इन दोनों कामों को एक साथ मिला देते हैं और व्याख्या के अंतर्गत ही मत भी स्थिर कर लेते हैं। पर अब कुछ पाश्चात्य विद्वान् यह कहने लगे हैं कि आलोचक का काम केवल कृति की व्याख्या करना

है और उसे अपना कोई मत प्रकट नहीं करना चाहिए; क्योंकि उस मत का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है जिससे आगे चलकर आलोचना के काम में वाधा पड़ती है। पर यह मत उतना ठीक नहीं जान पड़ता। प्रत्येक व्यक्ति किसी ग्रंथ के विषय में, उसकी आलोचना करने के साथ ही साथ अपना मत भी प्रकट कर सकता है और उसके उस मत से लोग लाभ भी उठा सकते हैं।

यदि हम थोड़ी देर के लिये यह भी मान लें कि आलोचक को अपना मत प्रकट करने का कोई अधिकार नहीं है, तो भी यह प्रश्न उठता है कि व्याख्याता के रूप में आलोचक का क्या मत है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जान पड़ेगा कि व्याख्या का काम भी बहुत बड़ा और टेढ़ा है। किसी ग्रंथ की व्याख्या करने के लिये आलोचक को पूरा पूरा अध्ययन करना पड़ेगा; उसे ग्रंथ के ऊपरी गुणों और दोषों को छोड़कर भीतरी भावों तक पहुँचना पड़ेगा और यह देखना पड़ेगा कि उसमें कौन सी बातें साधारण और क्षणिक हैं और कौन सी बातें विशेषता-युक्त और स्थायी हैं; तथा उसे इस बात का पता लगाना पड़ेगा कि उसमें कला या नीति आदि के कौन कौन से सिद्धांत आदि हैं। उस ग्रंथ में जो गुण छिपे हुए होंगे, उनको वह प्रकाशित करेगा और उसमें इधर उधर बिखरे हुए तत्वों को एकत्र करके उन पर विचार करेगा। इस प्रकार वह हमें बतलावेगा कि विषय, भाव और कला आदि की दृष्टी से वह ग्रंथ कैसा है। इस दशा में उस ग्रंथ के गुण या दोष लोगों

के सामने आपसे आप आ जायँगे। परंतु आलोचना का यह काम वह अपनी निज की रीति से करेगा। वह केवल आलोच्य ग्रंथ को भी देखकर उसकी आलोचना कर सकता है और उसी विषय के दूसरे ग्रंथों के साथ उसकी तुलना भी कर सकता है। वह आवश्यकता पड़ने पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी उस पर विचार कर सकता है, नैतिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है, सामाजिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है और साहित्यिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है। परंतु एक बात निश्चित है। वह चाहे जिस दृष्टि से और चाहे जिस प्रकार विचार करे, उसका एक मात्र उद्देश्य यही होगा कि वह स्वयं उस ग्रंथ तथा उसके कर्ता का अभिप्राय समझे और दूसरों को भी समझावे। हाँ, यह संभव है कि वह स्वयं अपनी रुचि के अनुसार उसके संबंध में किसी प्रकार का निर्णय न करे।

परंतु पाठकों के मन में यह प्रश्न उठना बहुत ही स्वाभाविक और अनिवार्य है कि अमुक ग्रंथ में जीवन की जो व्याख्या की गई है और जो दूसरी बातें बतलाई गई हैं, वे ठीक हैं या नहीं; कला की दृष्टि से वह ग्रंथ अच्छा है या नहीं; इत्यादि। इस प्रकार के प्रश्न हमारे मन में आपसे आप उठते हैं और हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। उस ग्रंथ को पढ़ने से पहले कम से कम सचेत होने के लिये हमें ऐसे प्रश्नों के उत्तर जानना आवश्यक होता है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम जो कुछ कह

आलोचना का उद्देश्य

रहे हैं, वह कोरे वैज्ञानिक ग्रंथों के संबंध में नहीं कह रहे हैं, बल्कि साधारण साहित्य के संबंध में कह रहे हैं; क्योंकि नीति और कला आदि की दृष्टि से शुद्ध साहित्य पर ही विचार किया जाता है; भूगर्भ-शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र या दूसरे अनेक शास्त्रों और वैज्ञानिक ग्रंथों का इस दृष्टि से विचार नहीं होता। भूगर्भ शास्त्र तो हमें केवल यही बतला कर रह जाता है कि पृथ्वी का यह रूप किस प्रकार और कितने दिनों में हुआ, अथवा इसमें कितने समय में क्या परिवर्तन होता है। पर साहित्य का संबंध जीवन की व्याख्या, नीति, समाज आदि अनेक बातों से होता है और इसी कारण उसके गुणों और दोषों के विवेचन की भी आवश्यकता होती है। भूगर्भ शास्त्र के ग्रंथ में भी गुण और दोष हो सकते हैं, पर उन गुणों और दोषों का पता लगाना केवल भूगर्भ शास्त्र के पूर्ण पंडितों का ही काम है, साधारण पाठकों की शक्ति के यह बाहर है। साधारण साहित्य के सम्बन्ध में जहाँ गुणों और दोषों का विवेचन होगा, वहाँ विवेचक या आलोचक का मत और निर्णय भी आपसे आप आ जायगा।

"भिन्न रुचिर्हिलोकः" वाले सिद्धांत के अनुसार सभी लोग अलग अलग अपने मत के अनुसार किसी ग्रंथ को अच्छा या बुरा बतलाते हैं। हमें जो कहानी अच्छी लगती है, संभव है कि वही आपको बिलकुल पसंद न आवे। हमारी समझ में जो नाटक किसी काम का नहीं है, उसी को और लोग लंबी-चौड़ी प्रशंसा कर सकते हैं। जो मनुष्य कुछ भी समझ रखता है,

के सामने आपसे आप आ जायँगे। परंतु आलोचना का यह काम वह अपनी निज की रीति से करेगा। वह केवल आलोच्य ग्रंथ को भी देखकर उसकी आलोचना कर सकता है और उसी विषय के दूसरे ग्रंथों के साथ उसकी तुलना भी कर सकता है। वह आवश्यकता पड़ने पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी उस पर विचार कर सकता है, नैतिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है, सामाजिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है और साहित्यिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है। परंतु एक बात निश्चित है। वह चाहे जिस दृष्टि से और चाहे जिस प्रकार विचार करे, उसका एक मात्र उद्देश्य यही होगा कि वह स्वयं उस ग्रंथ तथा उसके कर्ता का अभिप्राय समझे और दूसरों को भी समझावे। हाँ, यह संभव है कि वह स्वयं अपनी रुचि के अनुसार उसके संबंध में किसी प्रकार का निर्णय न करे।

आलोचना का उद्देश्य

परंतु पाठकों के मन में यह प्रश्न उठना बहुत ही स्वाभाविक और अनिवार्य है कि अमुक ग्रंथ में जीवन की जो व्याख्या की गई है और जो दूसरी बातें बतलाई गई हैं, वे ठीक हैं या नहीं; कला की दृष्टि से वह ग्रंथ अच्छा है या नहीं; इत्यादि। इस प्रकार के प्रश्न हमारे मन में आपसे आप उठते हैं और हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। उस ग्रंथ को पढ़ने से पहले कम से कम सचेत होने के लिये हमें ऐसे प्रश्नों के उत्तर जानना आवश्यक होता है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम जो कुछ कह

रहे हैं, वह कोरे वैज्ञानिक ग्रंथों के संबंध में नहीं कह रहे हैं, बल्कि साधारण साहित्य के संबंध में कह रहे हैं; क्योंकि नीति और कला आदि की दृष्टि से शुद्ध साहित्य पर ही विचार किया जाता है; भूगर्भ-शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र या दूसरे अनेक शास्त्रों और वैज्ञानिक ग्रंथों का इस दृष्टि से विचार नहीं होता। भूगर्भ शास्त्र तो हमें केवल यही बतला कर रह जाता है कि पृथ्वी का यह रूप किस प्रकार और कितने दिनों में हुआ, अथवा इसमें कितने समय में क्या परिवर्तन होता है। पर साहित्य का संबंध जीवन की व्याख्या, नीति, समाज आदि अनेक बातों से होता है और इसी कारण उसके गुणों और दोषों के विवेचन की भी आवश्यकता होती है। भूगर्भ शास्त्र के ग्रंथ में भी गुण और दोष हो सकते हैं, पर उन गुणों और दोषों का पता लगाना केवल भूगर्भ शास्त्र के पूर्ण पंडितों का ही काम है, साधारण पाठकों की शक्ति के यह बाहर है। साधारण साहित्य के सम्बन्ध में जहाँ गुणों और दोषों का विवेचन होगा, वहाँ विवेचक या आलोचक का मत और निर्णय भी आपसे आप आ जायगा।

"भिन्न रुचिर्हिलोकः" वाले सिद्धांत के अनुसार सभी लोग अलग अलग अपने मत के अनुसार किसी ग्रंथ को अच्छा या बुरा बतलाते हैं। हमें जो कहानी अच्छी लगती है, संभव है कि वही आपको बिलकुल पसंद न आवे। हमारी समझ में जो नाटक किसी काम का नहीं है, उसी को और लोग लंबी-चौड़ी प्रशंसा कर सकते हैं। जो मनुष्य कुछ भी समझ रखता है,

वह किसी ग्रंथ को पढ़ने के समय उसके संबंध में अपनी कोई न कोई, अच्छी या बुरी, सम्मति भी अवश्य ही स्थिर कर लेता है। जब हमारा कोई मित्र हमें कोई नई पुस्तक लाकर पढ़ने के लिये देता है, तब सबसे पहले हम उससे यही प्रश्न करते हैं कि यह पुस्तक कैसी है; और तब उसके उपरांत हम स्वयं उस पुस्तक को पढ़कर उसके संबंध में अपना भी कोई मत स्थिर करते हैं। एक बार किसी पुस्तक को पढ़कर जो मत निश्चित किया जाता है, दो तीन बार विशेष ध्यानपूर्वक उसी पुस्तक को पढ़ने पर उस मत में परिवर्तन भी हो सकता है। बल्कि ज्यों ज्यों हम किसी पुस्तक का अधिकाधिक अध्ययन करते हैं, त्यों त्यों मत स्थिर करने में हमारी असमर्थता और कठिनता बढ़ती जाती है; और इसी कठिनता को दूर करने के लिये अच्छे आलोचकों की आवश्यकता होती है। यदि हम केवल अच्छी पुस्तकें ही पढ़ना चाहें और निकम्मी या रद्दी पुस्तकों से बचना चाहें, तो अच्छे आलोचकों की सम्मतियाँ हमारे बहुत काम की हो सकती हैं।

काव्य का विवेचन करते हुए हम यह बात बतला चुके हैं कि किसी कवि की कृति को अच्छी तरह समझने के लिये यदि उस कवि के प्रति श्रद्धा नहीं तो कम से कम सहानुभूति तो अवश्य होनी चाहिए। श्रद्धा या सहानुभूति का अभाव हमें उस कवि या लेखक की आत्मा तक पहुँचने ही नहीं देता। यही कारण है कि श्रद्धा या सहानुभूति के अभाव में तथा मन

में राग-द्वेष का भाव रखकर जो आलोचना की जाती है, उसका विद्वानों में कोई आदर नहीं होता। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ऐसी आलोचना कोई आलोचना ही नहीं होती। यहाँ हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते हैं कि इस श्रद्धा और सहानुभूति के अतिरिक्त समालोचक में और किन किन गुणों की आवश्यकता होती है।

आलोचक के आवश्यक गुण

सबसे पहले समालोचक को विद्वान्, बुद्धिमान्, गुणग्राही और निष्पक्ष होना चाहिए; और जिसमें ये सब गुण न हों, उसको समालोचना के काम से दूर ही रहना चाहिए। जिस समालोचक में ये सब गुण होंगे, वह बहुत सहज में आलोच्य ग्रंथ की बातों का मर्म समझ जायगा। आलोचक का मुख्य कार्य यह है कि वह आलोच्य ग्रंथ को उसके बिलकुल वास्तविक स्वरूप में देखे। किसी बुरे भाव अथया पक्षपात से प्रेरित होकर वह जो कुछ कहेगा, उसकी गणना निंदा अथवा स्तुति में ही होगी; उसके उस कथन को आलोचना में स्थान न मिलेगा। समालोचक यदि विद्वान् न होगा, तो वह ग्रंथ के गुण न समझ सकेगा; यदि वह बुद्धिमान् न होगा तो नीर-क्षीर के विवेक में असमर्थ होगा; और यदि वह निष्पक्ष न होगा, तो उसका विवेचन निरर्थक और अग्राह्य होगा। समालोचक के लिये आवश्यक विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता और गुणग्राहकता तो बहुत से लोगों में हो सकती और होती है, पर राग-द्वेष या पक्षपात से बहुत

वह किसी ग्रंथ को पढ़ने के समय उसके संबंध में अपनी कोई न कोई, अच्छी या बुरी, सम्मति भी अवश्य ही स्थिर कर लेता है। जब हमारा कोई मित्र हमें कोई नई पुस्तक लाकर पढ़ने के लिये देता है, तब सबसे पहले हम उससे यही प्रश्न करते हैं कि यह पुस्तक कैसी है; और तब उसके उपरांत हम स्वयं उस पुस्तक को पढ़कर उसके संबंध में अपना भी कोई मत स्थिर करते हैं। एक बार किसी पुस्तक को पढ़कर जो मत निश्चित किया जाता है, दो तीन बार विशेष ध्यानपूर्वक उसी पुस्तक को पढ़ने पर उस मत में परिवर्तन भी हो सकता है। बल्कि ज्यों ज्यों हम किसी पुस्तक का अधिकाधिक अध्ययन करते हैं, त्यों त्यों मत स्थिर करने में हमारी असमर्थता और कठिनता बढ़ती जाती है; और इसी कठिनता को दूर करने के लिये अच्छे आलोचकों की आवश्यकता होती है। यदि हम केवल अच्छी पुस्तकें ही पढ़ना चाहें और निकम्मी या रद्दी पुस्तकों से बचना चाहें, तो अच्छे आलोचकों की सम्मतियाँ हमारे बहुत काम की हो सकती हैं।

काव्य का विवेचन करते हुए हम यह बात बतला चुके हैं कि किसी कवि की कृति को अच्छी तरह समझने के लिये यदि उस कवि के प्रति श्रद्धा नहीं तो कम से कम सहानुभूति तो अवश्य होनी चाहिए। श्रद्धा या सहानुभूति का अभाव हमें उस कवि या लेखक की आत्मा तक पहुँचने ही नहीं देता। यही कारण है कि श्रद्धा या सहानुभूति के अभाव में तथा मन

में राग-द्वेष का भाव रखकर जो आलोचना की जाती है, उसका विद्वानों में कोई आदर नहीं होता। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ऐसी आलोचना कोई आलोचना ही नहीं होती। यहाँ हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते हैं कि इस श्रद्धा और सहानुभूति के अतिरिक्त समालोचक में और किन किन गुणों की आवश्यकता होती है।

आलोचक के आवश्यक गुण

सबसे पहले समालोचक को विद्वान्, बुद्धिमान्, गुणग्राही और निष्पक्ष होना चाहिए; और जिसमें ये सब गुण न हों, उसको समालोचना के काम से दूर ही रहना चाहिए। जिस समालोचक में ये सब गुण होंगे, वह बहुत सहज में आलोच्य ग्रंथ की बातों का मर्म समझ जायगा। आलोचक का मुख्य कार्य यह है कि वह आलोच्य ग्रंथ को उसके बिलकुल वास्तविक स्वरूप में देखे। किसी बुरे भाव अथवा पक्षपात से प्रेरित होकर वह जो कुछ कहेगा, उसकी गणना निंदा अथवा स्तुति में ही होगी; उसके उस कथन को आलोचना में स्थान न मिलेगा। समालोचक यदि विद्वान् न होगा, तो वह ग्रंथ के गुण न समझ सकेगा; यदि वह बुद्धिमान् न होगा तो नीर-क्षीर के विवेक में असमर्थ होगा; और यदि वह निष्पक्ष न होगा, तो उसका विवेचन निरर्थक और अग्राह्य होगा। समालोचक के लिये आवश्यक विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता और गुणग्राहकता तो बहुत से लोगों में हो सकती और होती है, पर राग-द्वेष या पक्षपात से बहुत

वह किसी ग्रंथ को पढ़ने के समय उसके संबंध में अपनी कोई न कोई, अच्छी या बुरी, सम्मति भी अवश्य ही स्थिर कर लेता है। जब हमारा कोई मित्र हमें कोई नई पुस्तक लाकर पढ़ने के लिये देता है, तब सबसे पहले हम उससे यही प्रश्न करते हैं कि यह पुस्तक कैसी है; और तब उसके उपरांत हम स्वयं उस पुस्तक को पढ़कर उसके संबंध में अपना भी कोई मत स्थिर करते हैं। एक बार किसी पुस्तक को पढ़कर जो मत निश्चित किया जाता है, दो तीन बार विशेष ध्यानपूर्वक उसी पुस्तक को पढ़ने पर उस मत में परिवर्तन भी हो सकता है। बल्कि ज्यों ज्यों हम किसी पुस्तक का अधिकाधिक अध्ययन करते हैं, त्यों त्यों मत स्थिर करने में हमारी असमर्थता और कठिनता बढ़ती जाती है; और इसी कठिनता को दूर करने के लिये अच्छे आलोचकों की आवश्यकता होती है। यदि हम केवल अच्छी पुस्तकें ही पढ़ना चाहें और निकम्मी या रद्दी पुस्तकों से बचना चाहें, तो अच्छे आलोचकों की सम्मतियाँ हमारे बहुत काम की हो सकती हैं।

काव्य का विवेचन करते हुए हम यह बात बतला चुके हैं कि किसी कवि की कृति को अच्छी तरह समझने के लिये यदि उस कवि के प्रति श्रद्धा नहीं तो कम से कम सहानुभूति तो अवश्य होनी चाहिए। श्रद्धा या सहानुभूति का अभाव हमें उस कवि या लेखक की आत्मा तक पहुँचने ही नहीं देता। यही कारण है कि श्रद्धा या सहानुभूति के अभाव में तथा मन

में राग-द्वेष का भाव रखकर जो आलोचना की जाती है, उसका विद्वानों में कोई आदर नहीं होता। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ऐसी आलोचना कोई आलोचना ही नहीं होती। यहाँ हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते हैं कि इस श्रद्धा और सहानुभूति के अतिरिक्त समालोचक में और किन किन गुणों की आवश्यकता होती है।

सबसे पहले समालोचक को विद्वान्, बुद्धिमान्, गुणग्राही और निष्पक्ष होना चाहिए; और जिसमें ये सब गुण न हों, उसको समालोचना के काम से दूर ही रहना चाहिए। जिस समालोचक में ये सब गुण होंगे, वह बहुत सहज में आलोच्य ग्रंथ की बातों का मर्म समझ जायगा।

आलोचक के आवश्यक गुण

आलोचक का मुख्य कार्य यह है कि वह आलोच्य ग्रंथ को उसके बिलकुल वास्तविक स्वरूप में देखे। किसी बुरे भाव अथया पक्षपात से प्रेरित होकर वह जो कुछ कहेगा, उसकी गणना निंदा अथवा स्तुति में ही होगी; उसके उस कथन को आलोचना में स्थान न मिलेगा। समालोचक यदि विद्वान् न होगा, तो वह ग्रंथ के गुण न समझ सकेगा; यदि वह बुद्धिमान् न होगा तो नीर-क्षीर के विवेक में असमर्थ होगा; और यदि वह निष्पक्ष न होगा, तो उसका विवेचन निरर्थक और अग्राह्य होगा। समालोचक के लिये आवश्यक विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता और गुणग्राहकता तो बहुत से लोगों में हो सकती और होती है, पर राग-द्वेष या पक्षपात से बहुत

वह किसी ग्रंथ को पढ़ने के समय उसके संबंध में अपनी कोई न कोई, अच्छी या बुरी, सम्मति भी अवश्य ही स्थिर कर लेता है। जब हमारा कोई मित्र हमें कोई नई पुस्तक लाकर पढ़ने के लिये देता है, तब सबसे पहले हम उससे यही प्रश्न करते हैं कि यह पुस्तक कैसी है; और तब उसके उपरांत हम स्वयं उस पुस्तक को पढ़कर उसके संबंध में अपना भी कोई मत स्थिर करते हैं। एक बार किसी पुस्तक को पढ़कर जो मत निश्चित किया जाता है, दो तीन बार विशेष ध्यानपूर्वक उसी पुस्तक को पढ़ने पर उस मत में परिवर्तन भी हो सकता है। बल्कि ज्यों ज्यों हम किसी पुस्तक का अधिकाधिक अध्ययन करते हैं, त्यों त्यों मत स्थिर करने में हमारी असमर्थता और कठिनता बढ़ती जाती है; और इसी कठिनता को दूर करने के लिये अच्छे आलोचकों की आवश्यकता होती है। यदि हम केवल अच्छी पुस्तकें ही पढ़ना चाहें और निकम्मी या रद्दी पुस्तकों से बचना चाहें, तो अच्छे आलोचकों की सम्मतियाँ हमारे बहुत काम की हो सकती हैं।

काव्य का विवेचन करते हुए हम यह बात बतला चुके हैं कि किसी कवि की कृति को अच्छी तरह समझने के लिये यदि उस कवि के प्रति श्रद्धा नहीं तो कम से कम सहानुभूति तो अवश्य होनी चाहिए। श्रद्धा या सहानुभूति का अभाव हमें उस कवि या लेखक की आत्मा तक पहुँचने ही नहीं देता। यही कारण है कि श्रद्धा या सहानुभूति के अभाव में तथा मन

में राग-द्वेष का भाव रखकर जो आलोचना की जाती है, उसका विद्वानों में कोई आदर नहीं होता। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ऐसी आलोचना कोई आलोचना ही नहीं होती। यहाँ हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते हैं कि इस श्रद्धा और सहानुभूति के अतिरिक्त समालोचक में और किन किन गुणों की आवश्यकता होती है।

सबसे पहले समालोचक को विद्वान्, बुद्धिमान्, गुणग्राही और निष्पक्ष होना चाहिए; और जिसमें ये सब गुण न हों, उसको समालोचना के काम से दूर ही रहना चाहिए। जिस समालोचक में ये सब गुण होंगे, वह बहुत सहज में आलोच्य ग्रंथ की बातों का मर्म समझ जायगा। आलोचक का मुख्य कार्य यह है कि वह आलोच्य ग्रंथ को उसके बिलकुल वास्तविक स्वरूप में देखे। किसी बुरे भाव अथवा पक्षपात से प्रेरित होकर वह जो कुछ कहेगा, उसकी गणना निंदा अथवा स्तुति में ही होगी; उसके उस कथन को आलोचना में स्थान न मिलेगा। समालोचक यदि विद्वान् न होगा, तो वह ग्रंथ के गुण न समझ सकेगा; यदि वह बुद्धिमान् न होगा तो नीर-क्षीर के विवेक में असमर्थ होगा; और यदि वह निष्पक्ष न होगा, तो उसका विवेचन निरर्थक और अग्राह्य होगा। समालोचक के लिये आवश्यक विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता और गुणग्राहकता तो बहुत से लोगों में हो सकती और होती है, पर राग-द्वेष या पक्षपात से बहुत

आलोचक के आवश्यक गुण

ही कम लोग बचते या बच सकते हैं। अँगरेजी के सुप्रसिद्ध विद्वान् और साहित्यज्ञ जान्सन के विषय में कहा जाता है कि जिन लेखकों के विचारों और सिद्धांतों से उनकी सहानुभूति होती थी, उनके ग्रंथों की आलोचना तो वे बहुत ठीक ढंग से करते थे; पर जिनके विचारों के साथ उनकी सहानुभूति नहीं होती थी, उनके ग्रंथों की आलोचना के समय उनकी साहित्यिक जानकारी न जाने कहाँ चली जाती थी और वे बहुत बुरी तरह से उनकी खबर लिया करते थे। पोप और एडिसन के साहित्यिक आदर्शों का जान्सन बहुत आदर करते थे, इसलिये उनके जीवनचरितों में उन्होंने उनकी कृतियों की बहुत ही योग्यतापूर्वक आलोचना की है। पर राजनीतिक विरोध के कारण मिल्टन की और व्यक्तिगत द्वेष के कारण ग्रे की कृतियों में उन्हें कुछ भी गुण न दिखाई दिए। हमारे यहाँ हिंदी में भी ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो कुछ विद्या और बुद्धि रखते हुए भी या तो पक्षपातवश ग्रंथों की आवश्यकता से अधिक प्रशंसा कर चलते हैं और या द्वेषवश उनकी धूल उड़ाने लगते हैं। बात यह है कि अनुचित पक्षपात और द्वेष दोनों ही मनुष्य की आँखों के आगे एक ऐसा परदा डाल देते हैं जिनके कारण या तो उन्हें दोषों और गुणों का ठीक ठीक पता ही नहीं चलता; और या वे जान बूझकर उनकी ओर ध्यान ही नहीं देते। हम इस विषय में और अधिक कुछ न लिखकर केवल यही कहना यथेष्ट

समझते हैं कि इस पक्षपात या द्वेष के कारण कभी कभी छोटे मोटे अनर्थ और अन्याय भी हो जाते हैं। किसी ग्रंथ की पक्षपातपूर्ण समालोचना देखकर बहुत से लोग उन पुस्तकों के पढ़ने में व्यर्थ अपना समय और धन गँवा सकते हैं; और द्वेषपूर्ण समालोचना के कारण वे किसी अच्छे ग्रंथ से लाभ उठाने से वंचित रह सकते हैं। अतः समालोचक के लिये पंडित और समझदार होने के अतिरिक्त निष्पक्ष होने की भी बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। ऐसे समालोचक की समालोचना से ही साहित्य की भी उन्नति होती है और पाठकों का भी लाभ होता है।

समालोचक होने के लिये ऊपर बतलाए हुए कतिपय प्राकृतिक गुणों की तो आवश्यकता होती ही है, पर साथ ही समालोचना के लिये एक विशेष प्रकार की बुद्धि या सामर्थ्य की भी आवश्यकता होती है। कभी कभी देखने में आता है कि अच्छे अच्छे पंडित और विद्वान् उतनी अच्छी समालोचना नहीं कर सकते जितनी अच्छी और सटीक समालोचना उनसे कम विद्या और योग्यता के लोग करते हैं। एक साधारण बुद्धिमान् पाठक भी कभी कभी किसी ग्रंथ के संबंध में बहुत ही अच्छे ढंग से और बहुत ही उपयुक्त सम्मति प्रकट कर सकता है; और उसकी वह सम्मति तथा आलोचना का ढंग देखकर अच्छे अच्छे पंडित चकित हो सकते हैं। इसका कारण कदाचित् यही होता है कि उसकी सम्मति विचारपूर्ण होने के

ही कम लोग बचते या बच सकते हैं। अँगरेजी के सुप्रसिद्ध विद्वान् और साहित्यज्ञ जान्सन के विषय में कहा जाता है कि जिन लेखकों के विचारों और सिद्धांतों से उनकी सहानुभूति होती थी, उनके ग्रंथों की आलोचना तो वे बहुत ठीक ढंग से करते थे; पर जिनके विचारों के साथ उनकी सहानुभूति नहीं होती थी, उनके ग्रंथों की आलोचना के समय उनकी साहित्यिक जानकारी न जाने कहाँ चली जाती थी और वे बहुत बुरी तरह से उनकी खबर लिया करते थे। पोप और एडिसन के साहित्यिक आदर्शों का जान्सन बहुत आदर करते थे, इसलिये उनके जीवनचरितों में उन्होंने उनकी कृतियों की बहुत ही योग्यतापूर्वक आलोचना की है। पर राजनीतिक विरोध के कारण मिल्टन की और व्यक्तिगत द्वेष के कारण ग्रे की कृतियों में उन्हें कुछ भी गुण न दिखाई दिए। हमारे यहाँ हिंदी में भी ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो कुछ विद्या और बुद्धि रखते हुए भी या तो पक्षपातवश ग्रंथों की आवश्यकता से अधिक प्रशंसा कर चलते हैं और या द्वेषवश उनकी धूल उड़ाने लगते हैं। बात यह है कि अनुचित पक्षपात और द्वेष दोनों ही मनुष्य की आँखों के आगे एक ऐसा परदा डाल देते हैं जिनके कारण या तो उन्हें दोषों और गुणों का ठीक ठीक पता ही नहीं चलता; और या वे जान बूझकर उनकी ओर ध्यान ही नहीं देते। हम इस विषय में और अधिक कुछ न लिखकर केवल यही कहना यथेष्ट

समझते हैं कि इस पक्षपात या द्वेष के कारण कभी कभी छोटे मोटे अनर्थ और अन्याय भी हो जाते हैं। किसी ग्रंथ की पक्षपातपूर्ण समालोचना देखकर बहुत से लोग उन पुस्तकों के पढ़ने में व्यर्थ अपना समय और धन गँवा सकते हैं; और द्वेषपूर्ण समालोचना के कारण वे किसी अच्छे ग्रंथ से लाभ उठाने से वंचित रह सकते हैं। अतः समालोचक के लिये पंडित और समझदार होने के अतिरिक्त निष्पक्ष होने की भी बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। ऐसे समालोचक की समालोचना से ही साहित्य की भी उन्नति होती है और पाठकों का भी लाभ होता है।

समालोचक होने के लिये ऊपर बतलाए हुए कतिपय प्राकृतिक गुणों की तो आवश्यकता होती ही है, पर साथ ही समालोचना के लिये एक विशेष प्रकार की बुद्धि या सामर्थ्य की भी आवश्यकता होती है। कभी कभी देखने में आता है कि अच्छे अच्छे पंडित और विद्वान् उतनी अच्छी समालोचना नहीं कर सकते जितनी अच्छी और सटीक समालोचना उनसे कम विद्या और योग्यता के लोग करते हैं। एक साधारण बुद्धिमान् पाठक भी कभी कभी किसी ग्रंथ के संबंध में बहुत ही अच्छे ढंग से और बहुत ही उपयुक्त सम्मति प्रकट कर सकता है; और उसकी वह सम्मति तथा आलोचना का ढंग देखकर अच्छे अच्छे पंडित चकित हो सकते हैं। इसका कारण कदाचित् यही होता है कि उसकी सम्मति विचारपूर्ण होने के

अतिरिक्त राग-द्वेष और पक्षपात आदि से बिलकुल शून्य होती है। यह ठीक है कि जिस व्यक्ति का काम ही प्रायः अध्ययन और समालोचना करना है, वह समालोचना के नियमों और रीतियों आदि से विशेष परिचित होगा और उसका ज्ञान-भांडार भी साधारण पाठकों के ज्ञान-भांडार की अपेक्षा अधिक पूर्ण होगा। पर उसकी आलोचना तभी काम की होगी जब उसमें आलोचना करने की शक्ति पूर्ण रूप से होगी और उसकी आलोचना राग-द्वेष या पक्षपात आदि से मुक्त होगी। करने को तो आलोचना सभी लोग कर लेते हैं; पर आलोचना भी एक प्रकार की कला है और उसके लिये एक विशेष प्रकार की योग्यता तथा शिक्षा की आवश्यकता होती है। साथ ही उसे अपने मन तथा विचारों पर भी अधिकार होना चाहिए। यदि उसमें इन बातों का अभाव होगा, तो वह न तो ठीक ठीक और न उदारतापूर्वक विचार कर सकेगा। उस दशा में उसकी आलोचना या सम्मति का भी कोई आदर न होगा।

अब हम एक दूसरे प्रकार की आलोचना के संबंध में, जिसे तुलनात्मक आलोचना कहते हैं, कुछ बातें बतलाना चाहते हैं।

तुलनात्मक आलोचना

किसी एक पुस्तक की आलोचना करते समय कुछ लोग उसी विषय की और भी एक, दो या अनेक पुस्तकें अपने सामने रख लेते हैं; और उन पुस्तकों से तुलना करते हुए वे आलोच्य पुस्तक की आलोचना करते

हैं। आलोचना का यह ढंग बहुत अच्छा है, क्योंकि इससे इस बात का पता लगता है कि एक ही विषय पर भिन्न भिन्न लेखकों ने किस प्रकार विचार किया है; अपने अपने विचारों को उन लोगों ने किस प्रकार प्रकट किया है; किसकी रुचि और वर्णन-शैली कैसी है; किसमें किन बातों की विशेषता और किसमें किन बातों की न्यूनता है; इत्यादि इत्यादि। हमारे यहाँ अभी इस प्रकार की आलोचना का बहुत ही सूक्ष्म रूप से आरंभ हुआ है। उदाहरण के लिये पंडित पद्मसिंह शर्मा की विहारी की आलोचना और पंडित कृष्णविहारी मिश्र की देव और विहारी की तुलनात्मक आलोचना है। अभी इस प्रकार की आलोचना के लिये बहुत ही विस्तृत क्षेत्र खाली पड़ा है। जिस समय हमारे यहाँ इस प्रकार की यथेष्ट आलोचनाएँ हो जायँगी, उस समय हमारे साहित्य की केवल मनोरंजकता ही नहीं बढ़ जायगी, बल्कि और भी अनेक प्रकार से उसकी उन्नति होगी; क्योंकि ऐसी आलोचनाएँ हमें विचार और रचना आदि के नए नए मार्ग दिखलाती हैं और साहित्य में कूड़ा-कर्कट नहीं इकट्ठा होने देतीं।

इस प्रकार के आलोचनात्मक साहित्य का अध्ययन भी बड़े काम का होता है। जब इस प्रकार का साहित्य प्रस्तुत हो जाता है, तब दूषित और अनुचित आलोचनाओं का मार्ग भी बंद हो जाता है। ज्यों ज्यों इस प्रकार का साहित्य तैयार होता जाता है, त्यों त्यों उसकी मनोरंजकता और उपयोगिता भी

अतिरिक्त राग-द्वेष और पक्षपात आदि से बिलकुल शून्य होती है। यह ठीक है कि जिस व्यक्ति का काम ही प्रायः अध्ययन और समालोचना करना है, वह समालोचना के नियमों और रीतियों आदि से विशेष परिचित होगा और उसका ज्ञान-भांडार भी साधारण पाठकों के ज्ञान-भांडार की अपेक्षा अधिक पूर्ण होगा। पर उसकी आलोचना तभी काम की होगी जब उसमें आलोचना करने की शक्ति पूर्ण रूप से होगी और उसकी आलोचना राग-द्वेष या पक्षपात आदि से मुक्त होगी। करने को तो आलोचना सभी लोग कर लेते हैं; पर (आलोचना भी एक प्रकार की कला है और उसके लिये एक विशेष प्रकार की योग्यता तथा शिक्षा की आवश्यकता होती है। साथ ही उसे अपने मन तथा विचारों पर भी अधिकार होना चाहिए।) यदि उसमें इन बातों का अभाव होगा, तो वह न तो ठीक ठीक और न उदारतापूर्वक विचार कर सकेगा। उस दशा में उसकी आलोचना या सम्मति का भी कोई आदर न होगा।

अब हम एक दूसरे प्रकार की आलोचना के संबंध में, जिसे तुलनात्मक आलोचना कहते हैं, कुछ बातें बतलाना चाहते हैं।

तुलनात्मक आलोचना

किसी एक पुस्तक की आलोचना करते समय कुछ लोग उसी विषय की और भी एक, दो या अनेक पुस्तकें अपने सामने रख लेते हैं; और उन पुस्तकों से तुलना करते हुए वे आलोच्य पुस्तक की आलोचना करते

हैं। आलोचना का यह ढंग बहुत अच्छा है, क्योंकि इससे इस बात का पता लगता है कि एक ही विषय पर भिन्न भिन्न लेखकों ने किस प्रकार विचार किया है; अपने अपने विचारों को उन लोगों ने किस प्रकार प्रकट किया है; किसकी रुचि और वर्णन-शैली कैसी है; किसमें किन बातों की विशेषता और किसमें किन बातों की न्यूनता है; इत्यादि इत्यादि। हमारे यहाँ अभी इस प्रकार की आलोचना का बहुत ही सूक्ष्म रूप से आरंभ हुआ है। उदाहरण के लिये पंडित पद्मसिंह शर्मा की बिहारी की आलोचना और पंडित कृष्णबिहारी मिश्र की देव और बिहारी की तुलनात्मक आलोचना है। अभी इस प्रकार की आलोचना के लिये बहुत ही विस्तृत क्षेत्र खाली पड़ा है। जिस समय हमारे यहाँ इस प्रकार की यथेष्ट आलोचनाएँ हो जायँगी, उस समय हमारे साहित्य की केवल मनोरंजकता ही नहीं बढ़ जायगी, बल्कि और भी अनेक प्रकार से उसकी उन्नति होगी; क्योंकि ऐसी आलोचनाएँ हमें विचार और रचना आदि के नए नए मार्ग दिखलाती हैं और साहित्य में कूड़ा-कर्कट नहीं इकट्ठा होने देतीं।

इस प्रकार के आलोचनात्मक साहित्य का अध्ययन भी बड़े काम का होता है। जब इस प्रकार का साहित्य प्रस्तुत हो जाता है, तब दूषित और अनुचित आलोचनाओं का मार्ग भी बंद हो जाता है। ज्यों ज्यों इस प्रकार का साहित्य तैयार होता जाता है, त्यों त्यों उसकी मनोरंजकता और उपयोगिता भी

२३

बढ़ती जाती है; और अंत में ऐसे साहित्य का एक अलग इतिहास तैयार हो जाता है, जो साहित्य के इतिहास के परिशिष्ट का काम देता है। बात यह है कि ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है और ऐसी आलोचनाएँ तैयार होती जाती हैं, त्यों त्यों लोगों की विचार-शैली और मत भी बदलते जाते हैं। इस उत्तरोत्तर परिवर्तन और परिवर्धन के कारण आलोचनात्मक साहित्य को जो रूप प्राप्त होता है, वह शुद्ध साहित्य के अध्ययन और मनन में बहुत बड़ा सहायक होता है। यदि ऐसे साहित्य को हम शुद्ध साहित्यिक क्रमागत इतिहास की कुंजी कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। अतः हिंदीवालों को अब इस प्रकार की आलोचना की ओर भी ध्यान देना चाहिए और तुलनात्मक आलोचना के साहित्य की सृष्टि करनी चाहिए।

आलोचना और साहित्य-वृद्धि

यह तो स्वतः सिद्ध बात है कि आलोचना उन्हीं ग्रंथों की होती है जो प्रस्तुत और प्रकाशित हो चुकते हैं। जो ग्रंथ बने ही न हों, भला उनकी क्या आलोचना होगी। इसलिये कुछ विद्वानों का मत है कि आलोचना से केवल पुराने ग्रथों के गुण दोष ही प्रकट होते हैं, नवीन साहित्य उत्पन्न करने में उससे कोई विशेष सहायता नहीं मिलती। कुछ लोगों का तो यहाँ तक मत है कि आलोचना से नए साहित्य की सृष्टि में बाधा होती है। पर यह मत ठीक नहीं है। यदि हम थोड़ी देर के लिये आलोचना को साहित्य की सृष्टि में बाधक भी मान लें, तो भी हम इस संसार-

व्यापी नियम को दबा नहीं सकते कि बाधक तत्व भी प्रकारांतर से साधक ही सिद्ध होते हैं। संसार में सभी जगह हम देखते हैं कि सदा स्वतंत्रता और शासन, व्यक्तित्व और नियम, पुराने और नए तथा लकीर पीटने और नई बात निकालने में एक प्रकार का विरोध चलता रहता है। पर फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि शासन कभी स्वतंत्रता में बाधक होता है; अथवा लकीर पीटनेवालों के कारण कोई नई बात नहीं उत्पन्न होने पाती। दोनों पक्षों का झगड़ा सदा कुछ न कुछ चलता ही रहता है; और जिस समय यह झगड़ा बहुत बढ़ जाता है, उसी समय से नए सिरे से विकास और उन्नति होने लगती है। जिस समय स्वतंत्रता की मात्रा बढ़ते बढ़ते उच्छृंखलता का रूप धारण करने लगती है, उस समय कुछ कठोर शासन की आवश्यकता आ खड़ी होती है; और जिस समय शासन की कठोरता, भयंकरता और उद्दंडता बढ़ जाती है, उस समय नए सिरे से स्वतंत्रता की स्थापना होती है। साहित्य क्षेत्र में यही दशा नए ग्रंथों की रचना और आलोचना की है। जिस समय लेखक मनमाने ढंग से कलम चलाने लगते हैं और जी में जो कुछ ऊटपटाँग आता है, सब लिख चलते हैं, जैसा कि आजकल हिंदी में हो रहा है, उस समय आलोचक के अंकुश की आवश्यकता होती है। आलोचना का अंकुश लोगों को मनमाने रास्ते पर चलने से रोकता और उन्हें ठीक मार्ग पर चलने के लिये बाध्य करता है। कुछ दिनों तक

लोग आलोचकों के बतलाए हुए मार्ग पर चलते हैं; पर आगे चलकर उस मार्ग से उकता जाते हैं और आलोचक के शासन से निकलकर नए नए मार्ग ढूँढ़ने लगते हैं। जब वे कोई नया मार्ग ढूँढ़ लेते हैं, तब आलोचक उस मार्ग से कंटक आदि दूर करके उसे परिष्कृत करने लगते हैं और लोगों को गड्ढे में गिरने से बचाने का उद्योग करते हैं। बस यही क्रम, संसार के अन्यान्य क्षेत्रों के क्रम के अनुसार, सदा चलता रहता है। ऐसी दशा में यह कहना कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता कि आलोचना साहित्य की सृष्टि में बाधक होती है। यदि वह एक प्रकार से बाधक भी होती हो, तो भी प्रकारांतर से वह उस काम में अवश्य सहायक भी होती है। हाँ, यह अवश्य है कि आलोचना सदा साहित्य के पीछे पीछे चलेगी और उसका नियंत्रण तथा शासन करती रहेगी। संसार में जब कोई नया आंदोलन अथवा नई बात उत्पन्न होती है, तब उसके संबंध में बहुत कुछ विरोध, टीका-टिप्पणी और आलोचना आदि होती है। पर धीरे धीरे विरोधी अथवा आलोचक अपने आपको नए विचारों और आदर्शों के अनुकूल बना लेते हैं और उन्हीं नए विचारों और सिद्धांतों के आधार पर नई नई बातें निकालकर नए ढंग से लोगों को उनका अर्थ बतलाने लगते हैं। अतः आलोचना से डरने या घबराने की कोई बात नहीं है। उसे सदा पथप्रदर्शक और सहायक समझना चाहिए।

प्रत्येक आलोचक को किसी ग्रंथ या लेख आदि के संबंध

में अपना मत प्रकट करने का पूरा पूरा अधिकार है। साथ ही उसे इस बात की भी स्वतंत्रता है कि वह और लोगों को भी अपने मत से सहमत कराने का उद्योग करे। एक विद्वान् का मत है कि जब किसी ग्रंथ के संबंध में बराबर के दो विद्वानों के परस्पर विरोधी मत होते हैं, उस समय एक की आलोचना और सम्मति का दूसरे की आलोचना और सम्मति से आपसे आप खंडन हो जाता है और आलोचना का उद्देश्य ही सिद्ध नहीं होने पाता; क्योंकि हमें उस ग्रंथ की उपयोगिता या अनुपयोगिता का कुछ भी पता नहीं लगने पाता। इसका कारण प्रायः यही होता है कि ऐसे समालोचक बहुधा न्यायाधीश की भाँति नहीं, बल्कि वकील या प्रतिनिधि की भाँति अपना काम करते हैं और अपने पक्ष का आवश्यकता से अधिक समर्थन कर चलते हैं। यदि यह बात न भी हो, तो भी हमें यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि आलोचना में जो मत प्रकट किया जाता है, वह प्रायः आलोचक का व्यक्तिगत और निजी मत होता है। यदि आप की सम्मति में कोई पुस्तक आदर्श और हमारी समझ में बहुत ही साधारण हो, तो यही माना जायगा कि उस संबंध में आपकी और हमारी सम्मति बिलकुल व्यक्तिगत है। अब यदि कोई तीसरा व्यक्ति बीच में आ पड़े और हममें से किसी के अनुकूल या प्रतिकूल अपना मत प्रकट करे, तो उस समय मानों उस ग्रंथ के संबंध में एक और तीसरी

आलोचना और उपयोगिता

व्यक्तिगत सम्मति सामने आ खड़ी होगी। तात्पर्य यह कि सभी लोग अपनी अपनी योग्यता, विचार, रुचि और प्रवृत्ति आदि के अनुसार एक ही ग्रंथ के संबंध में अपना अलग अलग विचार प्रकट करेंगे; और उस दशा में इस बात का निर्णय करना बहुत ही कठिन हो जायगा कि अमुक ग्रंथ की वास्तविक महत्ता या उपयोगिता कितनी है अथवा वह कहाँ तक अच्छा या बुरा है।

लार्ड जेफ्रे ने स्काट के संबंध में जो निबंध लिखे हैं, उनमें से एक निबंध में उन्होंने कहा है—"काव्य का मुख्य उद्देश्य मन को आनंद देना है। अतः जिस काव्य से जितने ही अधिक मनुष्यों को आनंद मिले, वह उतना ही श्रेष्ठ है।" पर यह मत सर्वथा ठीक नहीं है। तुलसीदास-कृत रामायण तो लाखों करोड़ों आदमी पढ़ते हैं; और उन्हीं तुलसीदास की विनयपत्रिका से आनंद उठानेवालों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत ही कम है। यदि लार्ड जेफ्रे का उक्त मत ठीक मान लिया जाय तो फिर रामायण के आगे विनयपत्रिका का बहुत ही कम मूल्य या महत्व रह जाता है। पर जो लोग काव्य के अच्छे मर्मज्ञ हैं, वे कह सकते हैं कि तुलसीदास के समस्त ग्रंथों में काव्य की दृष्टि से विनयपत्रिका ही सर्वश्रेष्ठ है। चंद्रकांता और चंद्रकांता-संतति के आधे दरजन से ऊपर संस्करण निकल चुके हैं। पर ठाकुर जगमोहनसिंह कृत श्यामास्वप्न को, जो उससे बहुत पहले का छपा हुआ है, आज तक दूसरे

संस्करण का सौभाग्य भी नहीं प्राप्त हुआ। तो क्या इससे हम यह मान लें कि चंद्रकांता उपन्यास बहुत अच्छा है और उसके सामने श्यामास्वप्न कोई चीज ही नहीं है? यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पता चलेगा कि एक मात्र सर्वप्रियता या प्रचार ही किसी ग्रन्थ की श्रेष्ठता का कोई प्रमाण नहीं है। जो वस्तु लाखों अशिक्षितों को बहुत अच्छी जान पड़े, पर सौ दो सौ शिक्षितों की दृष्टि में उसका कुछ भी मूल्य न हो, अथवा अपेक्षा-कृत बहुत ही कम मूल्य हो, क्या उसी को आप श्रेष्ठ मानने के लिये तैयार होंगे? हमारी समझ में कदापि नहीं। अतः यह सिद्धांत निकलता है किसी ग्रन्थ की श्रेष्ठता, महत्ता या उपयोगिता आदि का ठीक ठीक पता लगाने के लिये हमें इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके संबंध में शिक्षितों और परिष्कृत रुचिवाले समझदारों की क्या सम्मति है। यदि हम केवल सर्वप्रियता और प्रचार पर जायँगे, तो बहुत संभव है कि साहित्य के अमूल्य रत्न हमारे हाथ ही न लगें और झूठे पत्थर या शीशे के टुकड़े ही हमारे पल्ले पड़ें। हमारे इस कथन का मुख्य तात्पर्य केवल यही है कि लोग अनेक प्रकार की आलोचनाओं के रहते हुए भी इस बात का निर्णय कर सकें कि कौन सा ग्रंथ कहाँ तक श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण है।

ऊपर हमने जो विवेचन किया है, उसका मुख्य तात्पर्य यही है कि आलोचनाओं में जो मत प्रकट किए जाते हैं, वे व्यक्तिगत रुचि के आधार पर होते हैं। इसी व्यक्तिगत रुचि

व्यक्तिगत सम्मति सामने आ खड़ी होगी। तात्पर्य यह कि सभी लोग अपनी अपनी योग्यता, विचार, रुचि और प्रवृत्ति आदि के अनुसार एक ही ग्रंथ के संबंध में अपना अलग अलग विचार प्रकट करेंगे; और उस दशा में इस बात का निर्णय करना बहुत ही कठिन हो जायगा कि अमुक ग्रंथ की वास्तविक महत्ता या उपयोगिता कितनी है अथवा वह कहाँ तक अच्छा या बुरा है।

लार्ड जेफ्रे ने स्काट के संबंध में जो निबंध लिखे हैं, उनमें से एक निबंध में उन्होंने कहा है—"काव्य का मुख्य उद्देश्य मन को आनंद देना है। अतः जिस काव्य से जितने ही अधिक मनुष्यों को आनंद मिले, वह उतना ही श्रेष्ठ है।" पर यह मत सर्वथा ठीक नहीं है। तुलसीदास-कृत रामायण तो लाखों करोड़ों आदमी पढ़ते हैं; और उन्हीं तुलसीदास की विनयपत्रिका से आनंद उठानेवालों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत ही कम है। यदि लार्ड जेफ्रे का उक्त मत ठीक मान लिया जाय तो फिर रामायण के आगे विनयपत्रिका का बहुत ही कम मूल्य या महत्व रह जाता है। पर जो लोग काव्य के अच्छे मर्मज्ञ हैं, वे कह सकते हैं कि तुलसीदास के समस्त ग्रंथों में काव्य की दृष्टि से विनयपत्रिका ही सर्वश्रेष्ठ है। चंद्रकांता और चंद्रकांता-संतति के आधे दरजन से ऊपर संस्करण निकल चुके हैं। पर ठाकुर जगमोहनसिंह कृत श्यामास्वप्न को, जो उससे बहुत पहले का छपा हुआ है, आज तक दूसरे

संस्करण का सौभाग्य भी नहीं प्राप्त हुआ। तो क्या इससे हम यह मान लें कि चंद्रकांता उपन्यास बहुत अच्छा है और उसके सामने श्यामास्वप्न कोई चीज ही नहीं है? यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पता चलेगा कि एक मात्र सर्वप्रियता या प्रचार ही किसी ग्रन्थ की श्रेष्ठता का कोई प्रमाण नहीं है। जो वस्तु लाखों अशिक्षितों को बहुत अच्छी जान पड़े, पर सौ दो सौ शिक्षितों की दृष्टि में उसका कुछ भी मूल्य न हो, अथवा अपेक्षा-कृत बहुत ही कम मूल्य हो, क्या उसी को आप श्रेष्ठ मानने के लिये तैयार होंगे? हमारी समझ में कदापि नहीं। अतः यह सिद्धांत निकलता है किसी ग्रन्थ की श्रेष्ठता, महत्ता या उपयोगिता आदि का ठीक ठीक पता लगाने के लिये हमें इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके संबंध में शिक्षितों और परिष्कृत रुचिवाले समझदारों की क्या सम्मति है। यदि हम केवल सर्वप्रियता और प्रचार पर जायँगे, तो बहुत संभव है कि साहित्य के अमूल्य रत्न हमारे हाथ ही न लगें और झूठे पत्थर या शीशे के टुकड़े ही हमारे पल्ले पड़ें। हमारे इस कथन का मुख्य तात्पर्य केवल यही है कि लोग अनेक प्रकार की आलोचनाओं के रहते हुए भी इस बात का निर्णय कर सकें कि कौन सा ग्रंथ कहाँ तक श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण है।

ऊपर हमने जो विवेचन किया है, उसका मुख्य तात्पर्य यही है कि आलोचनाओं में जो मत प्रकट किए जाते हैं, वे व्यक्तिगत रुचि के आधार पर होते हैं। इसी व्यक्तिगत रुचि

का एक और अंग है, जिसका विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है। हम आज कोई ग्रंथ पढ़ते हैं और उसके संबंध में अपनी रुचि के अनुसार कोई मत स्थिर करते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या हमारा वही मत अंतिम और निश्चित होता है? और क्या केवल उसी मत से सदा के लिये हमारा पूरा पूरा समाधान और संतोष हो जाता है? हम किसी पुस्तक को पढ़कर कह बैठते हैं कि यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी और शिक्षाप्रद है। पर क्या इतने से ही हमारा काम चल जाता है? कदाचित् नहीं चलता। यदि हम किसी ग्रन्थ का अवलोकन करके प्रसन्न हो जायँ, तो केवल हमारी वह प्रसन्नता ही उस पुस्तक के उत्तम होने के संबंध में प्रमाण का काम नहीं दे सकती। उस पुस्तक को श्रेष्ठता का प्रमाणपत्र देने से पहले हमें इस बात की जाँच कर लेनी चाहिए कि उस पुस्तक से हमारा प्रसन्न होना न्यायसंगत था या नहीं। हमारी प्रसन्नता का वास्तविक कारण तो हमारी रुचि थी; और हमारी रुचि से भिन्न रुचि रखनेवालों को उस पुस्तक से कुछ भी आनंद नहीं मिल सकता। बहुधा लोग पुस्तकों की उत्तमता की कसौटी अपना मत ही समझते हैं और रुचि-वैचित्र्य का कोई ध्यान ही नहीं रखते। पर यदि एक बार उनके ध्यान में रुचि-वैचित्र्य का यह तत्व आ जाय, तो फिर उनके लिये उचित रूप से विचार करने का मार्ग प्रशस्त हो जायगा; और उस दशा में विचार संबंधी उनकी संकीर्णता और

मत-परिवर्त्तन

दुराग्रह बहुत कुछ कम हो जायगा। जब हम किसी पुस्तक के संबंध में यह न कहकर कि यह पुस्तक ऐसी है, यह कहेंगे कि यह पुस्तक हमारी सम्मति में ऐसी है, तब मानों हम उस पुस्तक के संबंध में कोई विचार नहीं प्रकट करेंगे, बल्कि अपनी रुचि के संबंध में विचार प्रकट करेंगे। पर हाँ, इसके लिये कुछ उदारता और साहस की आवश्यकता होगी। अच्छे ग्रन्थ के गुण समझना कोई सहज काम नहीं है, और यही कारण है कि उसके अध्ययन से बहुत ही कम लोग प्रसन्न होते हैं; और जो लोग थोड़ा बहुत प्रसन्न होते भी हैं, वे बहुधा उनके छोटे मोटे गुणों को ही देखकर प्रसन्न होते हैं। इनमें भी बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो यह मानने के लिये जल्दी तैयार ही नहीं होते कि हममें इस ग्रंथ को समझने की योग्यता नहीं है; अथवा उसके विषय से हमारा परिचय नहीं है। परंतु उचित यही है कि हम किसी ग्रंथ के छोटे मोटे गुणों से ही संतुष्ट होकर न रह जायँ और उसमें भली भाँति अवगाहन करके उसके उत्कृष्ट गुणों से परिचित होने का उद्योग करें। केवल इसी दशा में हम उस ग्रन्थ के विषय में ठीक तरह से विचार कर सकेंगे और उसके संबंध में अपना ऐसा मत स्थिर कर सकेंगे जिसका सब लोग आदर करें। यहाँ हम किसी ग्रन्थ की उत्तमता की एक और परीक्षा बतला देना चाहते हैं, साधारण पाठकों के लिये जिसका ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। किसी पुस्तक के संबंध में अपना विचार या मत स्थिर करने के

लिये हमें वह पुस्तक कई बार पढ़नी चाहिए। यदि प्रत्येक बार पढ़ने में कुछ और अधिक आनंद आवे, यदि प्रत्येक बार के पारायण में हमें उसके कुछ विशेष गुणों और उत्तमताओं का परिचय मिले, तो हमें समझ लेना चाहिए कि वह ग्रंथ बहुत अच्छा और ध्यानपूर्वक पढ़ने के योग्य है। इसके विपरीत यदि उसे दूसरी या तीसरी बार पढ़ने में कम अथवा कुछ भी आनंद न आवे, तो हमें समझ लेना चाहिए कि कम से कम हमारे लिये उस पुस्तक में कोई सार की बात नहीं है। पर यदि हम केवल अपनी ही रुचि को सर्वोपरि मान लें, तो फिर हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि हम किसी ग्रंथ की आलोचना करने के अधिकारी नहीं हैं। सबसे पहले हमें यह जानना चाहिए कि पुस्तकों से किस प्रकार आनंद प्राप्त किया जाता है; और जब हमें यह बात मालूम हो जायगी, तब हम कभी अपने मत के संबंध में कोई आग्रह न करेंगे; क्योंकि उस दशा में हम स्वयं अपनी ही त्रुटियों से भली भाँति परिचित रहेंगे। इससे दूसरा लाभ यह होगा कि हम अपनी वे त्रुटियाँ भी दूर कर सकेंगे। पर ये सब बातें उन्हीं लोगों के काम की हैं जो अच्छी तरह और ध्यानपूर्वक साहित्य का अध्ययन करना चाहते हों। इस प्रकार के अध्ययन में वे लोग जितना परिश्रम करेंगे, उनको उतना ही लाभ होगा। पर जो लोग यह समझते हों कि हमें तो सब कुछ पहले से ही आता है और इस पुस्तक की क्या सामर्थ्य है जो हमें कोई नई

बात बतला सके, उन्हें अपने सुधार और उन्नति की आशा छोड़ देनी चाहिए।

मान लीजिए कि हमने कोई पुस्तक पढ़ी और उसके संबंध में अपना कोई मत भी स्थिर किया। अब हम जानना चाहते हैं कि जो मत हमने स्थिर किया है, वह कहाँ तक ठीक है। इस काम के लिये हम उस पुस्तक की कुछ प्रतियाँ लेकर अपने कुछ ऐसे मित्रों में बाँट देते हैं जिनकी रुचि या योग्यता एक दूसरी से बहुत भिन्न है; और उन लोगों से उस पुस्तक के संबंध में सम्मति माँगते हैं। जब उन सब की सम्मतियाँ आ जायँगी, तब हम देखेंगे कि उन सबमें आपस में बहुत बड़ा अंतर और मतभेद है। यद्यपि वे सब मित्र भिन्न भिन्न दृष्टियों से उस पुस्तक पर विचार करेंगे, पर फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उस पुस्तक के महत्व या गुणों आदि के संबंध में उनमें से अधिकांश की सम्मति अनेक अंशों में एक दूसरे की सम्मति से मिलती जुलती होगी। यदि वह पुस्तक अच्छी होगी, तो हमारे अधिकांश मित्र भी उसकी प्रशंसा ही करेंगे। पर यदि वह पुस्तक साधारण कोटि की हुई, तो वे लोग भी उसे साधारण ही बतलावेंगे। उस समय हम कह सकेंगे कि हमारे मित्रों ने किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया है और उनकी सम्मतियों का साधारण व्यक्तिगत सम्मतियों की अपेक्षा अधिक आदर होना चाहिए, क्योंकि वह सम्मति अधिक मत से स्थिर हुई है। अब जिस पुस्तक की हमारे दस पाँच मित्रों ने प्रशंसा की है, उसी की

यदि कोई मित्र कुछ निंदा भी करे तो हमारा कर्तव्य है कि हम उसकी सम्मति पर भी कुछ विचार करें और यह जानने का उद्योग करें कि उसने ऐसी सम्मति क्यों और किन आधारों पर दी है। और यदि भली भाँति विचार करने के उपरांत भी हमें उसके मत की पुष्टि करनेवाली कोई बात न मिले अथवा बहुत ही कम बातें मिलें, तो हमें समझ लेना चाहिए कि या तो उसने किसी प्रकार के द्वेष के कारण और या किसी प्रकार की अज्ञानता के कारण वह सम्मति दी है। आप पूछ सकते हैं कि हमारे इस उदाहरण से क्या सिद्धांत निकला। इससे यह सिद्धांत निकला कि किसी ग्रंथ का महत्व या उपयोगिता आदि किस प्रकार प्रमाणित होती है। इसका तात्पर्य यही है कि किसी ग्रंथ की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता आदि के संबंध में बहुत से शिक्षितों और समझदारों की जो सम्मति हो, वही मान्य होनी चाहिए। और यदि थोड़े से लोग उसके विपरीत अपनी सम्मति प्रकट करें, तो पहले हमें उनकी सम्मति पर विचार करना चाहिए; और यदि उनकी सम्मति में हमें कोई तत्व की बात न मिले तो हमें वह सम्मति अग्राह्य समझकर छोड़ देनी चाहिए; क्योंकि जो ग्रंथ अनेक आलोचकों की परीक्षा में ठीक उतरा हो और जिसके संबंध में बहुत कुछ वाद-विवाद के उपरांत भी लोगों की अनुकूल सम्मति हो, उसे उत्तम ग्रंथ मानने में हमें कोई आना-कानी न होनी चाहिए। सारांश यह है कि बहुत कुछ विकट परीक्षाओं के उपरांत भी जो ग्रंथ अच्छा

ही ठहरे तो अच्छा है ही; और जो उन विकट परीक्षाओं में अच्छा न ठहरे, वह साधारण या निकम्मा है।

स्थायी साहित्य के गुण

एक बहुत प्रसिद्ध सिद्धांत है कि जो वस्तु सबसे अच्छी या उपयुक्त होती है, वही संसार में बच रहती है; और जो अनावश्यक या अनुपयुक्त होती है, वह नष्ट हो जाती है। साहित्यिक क्षेत्र में भी इस सिद्धांत की सत्यता बहुत भली भाँति प्रमाणित हो जाती है। आज यदि कोई अच्छा ग्रंथ प्रकाशित होता है, तो सर्वसाधारण में उसका बहुत आदर होता है; और जब तक लोगों का उससे मनोरंजन होता रहता है, तब तक वह पुस्तक बराबर चलती रहती है, उसका अस्तित्व बराबर बना रहता है। पर जब उस पुस्तक से लोगों का मनोरंजन होना बंद हो जाता है, तब उसकी उपयोगिता जाती रहती है और उसका अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है। जिस समय उसका स्थान ग्रहण करने के लिये उससे अच्छी कोई नई पुस्तक साहित्य-क्षेत्र में आ जाती है, उस समय लोग उसका पढ़ना सर्वथा बंद कर देते हैं। यही नहीं बल्कि कुछ दिनों के उपरांत लोगों को इस बात का आश्चर्य होने लगता है कि किसी समय उस पुस्तक का जो आदर हुआ था, वह क्यों हुआ था। पर जो पुस्तकें केवल सामयिक नहीं होतीं, जिनमें बहुत दिनों तक काम आनेवाली बातें अथवा और कोई स्थायी गुण होते हैं, वे सैकड़ों और कभी कभी हजारों वर्षों तक बनी रहती हैं और लोगों के विचारों, सभ्यता और

रुचि आदि के बहुत कुछ बदल जाने पर भी उनका अध्ययन निरंतर होता चलता है। इसका कारण यही है कि हमारे नैतिक और मानसिक जीवन में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाने पर भी उनमें प्रकट किए हुए विचार आदि हमारे लिये अनुकूल, लाभदायक और ग्राह्य बने रहते हैं। जिस समय वे पुस्तकें रची जाती हैं, उस समय की दृष्टि से तो वे उपयोगी होती ही हैं, उसके पीछे भी बहुत दिनों तक उनकी उपयोगिता बनी रहती है। बहुत समय बीत जाने पर भी उनमें लोगों को उत्साहित और प्रसन्न करनेवाले तत्व वर्तमान रहते हैं। जब इस प्रकार किसी पुस्तक का बहुत दिनों तक अस्तित्व बना रहता है और सैकड़ों हजारों वर्ष बीत जाने पर भी लोग बड़े चाव से उसे पढ़ते चलते हैं, तब मानों वह पुस्तक व्यक्तिगत सम्मतियों और आक्षेपों आदि के क्षेत्र से बाहर निकल आती है और उसकी उपयोगिता तथा उत्तमता सर्वमान्य हो जाती है। फिर उसके संबंध में किसी प्रकार का मतभेद या विवाद नहीं रह जाता। इसी कोटि के ग्रंथ साहित्य-क्षेत्र में रत्न कहलाने के अधिकारी होते हैं और सभी देशों तथा सभी कालों में उनका समान आदर होता है।

साहित्य की महत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण उसका स्थायी होना है। पर यह प्रमाण हमें उन्हीं ग्रंथों के संबंध में मिल सकता है, जो आज से दो चार सौ या हजार दो हजार वर्ष पहले के बने हों। अब जो ग्रंथ बहुत थोड़े दिनों के बने हों, उनकी

उपयोगिता की परीक्षा किस प्रकार हो सकती है ? ऐसे किसी ग्रंथ को देखकर हम यह नहीं कह सकते कि तुलसी-कृत रामायण की भाँति तीन सौ वर्ष बीत जाने पर उस ग्रंथ की क्या दशा होगी। फिर भी हम अपने ज्ञान और अनुभव की सहायता से किसी ग्रंथ के विषय में यह कह सकते हैं कि वह स्थायी होगा या नहीं। पर हमारा वह कथन बिलकुल ठीक और निश्चित नहीं हो सकता; क्योंकि हम यह नहीं कह सकते कि आगे चलकर पाठकों की रुचि में कहाँ तक परिवर्तन हो जायगा और शीघ्र ही इससे भी अच्छे और स्थायी ग्रंथों की रचना हो जायगी या नहीं। अतः आधुनिक साहित्य की उपयोगिता जानने के लिये हमें आलोचकों की सम्मतियों का ही सहारा लेना पड़ेगा। एक विद्वान् का मत है कि यदि तुम अच्छी और पढ़ने योग्य पुस्तक देखना चाहो, तो बाजार में जाकर कोई पुस्तक देखो; और बारह वर्ष के उपरांत फिर बाजार में जाओ। उस समय यदि वही पुस्तक फिर तुम्हें बिकती हुई दिखाई दे, तो जान लो कि वह पुस्तक अच्छी और पढ़ने के योग्य है। इससे भी यही सिद्धांत निकलता है कि जो पुस्तक जितने ही अधिक समय तक बनी रहे, वह उतनी ही अच्छी है। पर इन सिद्धांतों से साधारण पाठकों का काम नहीं चल सकता। आप सब लोगों से यह आशा नहीं कर सकते कि वे किसी पुस्तक के प्रकाशित होने के उपरांत बारह वर्षों तक उसकी उपयोगिता के प्रमाण की प्रतीक्षा करें और तब

उसके उपरांत वे उसे लेकर पढ़ें। आजकल तो पुस्तकों के तैयार होते ही लोग उनको पढ़कर उनके विषय की सब बातें जानना चाहते हैं। ऐसे लोग यदि यह जानना चाहें कि कौन सी पुस्तक पढ़ने योग्य अथवा अच्छी है और कौन सी न पढ़ने योग्य और निकम्मी है, तो उनको यही देखना चाहिए कि किसी पुस्तक के संबंध में अधिकांश विद्वानों और आलोचकों की क्या सम्मति है।

अंत में हम यही कहना चाहते हैं कि पुस्तकों के महत्व और उपयोगिता आदि का निर्णय करना बहुत ही कठिन है।

उपसंहार

किसी पदार्थ को देखकर उसका वास्तविक स्वरूप समझना केवल कठिन ही नहीं, प्रायः असंभव भी है। हम तो अपनी योग्यता, संस्कार और रुचि आदि के अनुसार ही उसका स्वरूप समझेंगे। साहित्य के महत्व का निर्णय करने के लिये चाहे हम कितने ही निष्पक्ष क्यों न बन जायँ, पर हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि (साहित्य की सृष्टि सदा व्यक्तियों से होती है; और उसमें जो कुछ कहा जाता है, वह भी व्यक्तियों के उद्देश्य से ही। उसमें अनेक विषयों पर अनेक प्रकार से विचार होते हैं। उससे लोगों में उत्तेजना भी फैलती है, सहानुभूति भी उत्पन्न होती है, मनोराग भी उत्पन्न होते हैं और इसी प्रकार की और न जाने कितनी बातें होती हैं। इसके अतिरिक्त साहित्य का प्रभाव बहुत कुछ रुचि पर भी अवलंबित रहता है, और इसी लिये सब कठिनाइयों

को पार करने के उपरांत भी यहाँ आकर साहित्य का विवेचन करनेवाले को हार माननी पड़ती है। आलोचना से हम व्यक्तित्व और रुचि-वैचित्र्य को कभी अलग नहीं कर सकते और हमें मानना पड़ता है कि इसमें मतभेद का होना सर्वथा अनिवार्य है। इससे किसी को दुःखी नहीं होना चाहिए; बल्कि यह तो एक प्रकार से प्रसन्नता और संतोष की बात है। अंत में फिर वही रुचि की प्रधानता का प्रश्न हमारे सामने आता है। पर इस संबंध में भी हम इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि शिक्षा और संयम आदि की सहायता से हम अपनी रुचि में भी बहुत कुछ सुधार करके उसे संस्कृत कर सकते हैं। यदि हम साहित्य के अध्ययन से पूरा पूरा लाभ उठाना और आनंद प्राप्त करना चाहें, तो हमें विद्वानों के दिखलाए हुए मार्ग पर आप से आप चलने का उद्योग करना चाहिए। बिलकुल दूसरों के भरोसे न तो कभी कोई काम हो सकता है और न होना ही चाहिए।

उसके उपरांत वे उसे लेकर पढ़ें। आजकल तो पुस्तकों के तैयार होते ही लोग उनको पढ़कर उनके विषय की सब बातें जानना चाहते हैं। ऐसे लोग यदि यह जानना चाहें कि कौन सी पुस्तक पढ़ने योग्य अथवा अच्छी है और कौन सी न पढ़ने योग्य और निकम्मी है, तो उनको यही देखना चाहिए कि किसी पुस्तक के संबंध में अधिकांश विद्वानों और आलोचकों की क्या सम्मति है।

अंत में हम यही कहना चाहते हैं कि पुस्तकों के महत्व और उपयोगिता आदि का निर्णय करना बहुत ही कठिन है।

उपसंहार

किसी पदार्थ को देखकर उसका वास्तविक स्वरूप समझना केवल कठिन ही नहीं, प्रायः असंभव भी है। हम तो अपनी योग्यता, संस्कार और रुचि आदि के अनुसार ही उसका स्वरूप समझेंगे। साहित्य के महत्व का निर्णय करने के लिये चाहे हम कितने ही निष्पक्ष क्यों न बन जायँ, पर हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य की सृष्टि सदा व्यक्तियों से होती है; और उसमें जो कुछ कहा जाता है, वह भी व्यक्तियों के उद्देश्य से ही। उसमें अनेक विषयों पर अनेक प्रकार से विचार होते हैं। उससे लोगों में उत्तेजना भी फैलती है, सहानुभूति भी उत्पन्न होती है, मनोराग भी उत्पन्न होते हैं और इसी प्रकार की और न जाने कितनी बातें होती हैं। इसके अतिरिक्त साहित्य का प्रभाव बहुत कुछ रुचि पर भी अवलंबित रहता है, और इसी लिये सब कठिनाइयों

को पार करने के उपरांत भी यहाँ आकर साहित्य का विवेचन करनेवाले को हार माननी पड़ती है। आलोचना से हम व्यक्तित्व और रुचि-वैचित्र्य को कभी अलग नहीं कर सकते और हमें मानना पड़ता है कि इसमें मतभेद का होना सर्वथा अनिवार्य है। इससे किसी को दुःखी नहीं होना चाहिए; बल्कि यह तो एक प्रकार से प्रसन्नता और संतोष की बात है। अंत में फिर वही रुचि की प्रधानता का प्रश्न हमारे सामने आता है। पर इस संबंध में भी हम इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि शिक्षा और संयम आदि की सहायता से हम अपनी रुचि में भी बहुत कुछ सुधार करके उसे संस्कृत कर सकते हैं। यदि हम साहित्य के अध्ययन से पूरा पूरा लाभ उठाना और आनंद प्राप्त करना चाहें, तो हमें विद्वानों के दिखलाए हुए मार्ग पर आप से आप चलने का उद्योग करना चाहिए। बिलकुल दूसरों के भरोसे न तो कभी कोई काम हो सकता है और न होना ही चाहिए।

अनुक्रमणिका

अंक (रूपक का भेद) २७० ।
अंतःकरण, पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार २७६; उत्पत्ति २७५; वृत्तियाँ २७५-७७ ।
अंबिकादत्त व्यास २२३ ।
अग्निमित्र २०० ।
अजा-गीत २०६-०७ ।
अध्ययन का ढंग ४५; निर्माणकाल के क्रम से ४५ ।
अध्याय २२६-२७ ।
अनुप्रास (शब्दालंकार) ३३३-३४ ।
अनुभव ३३; उसका विषय ३२ ।
अनुभाव २९६; उसके प्रकार ३११ ।
अभिधा ३२६-२७ ।
अभिधा-वृत्ति ६५ ।
अभिनय १७०-७१ । दे० 'नाटक' ।
अमरचंद्र १८७ ।
अमानत २३५ ।
अयोध्यासिंह उपाध्याय ९९, १०१ ।
अरिस्टाटल २५० ।
अर्थ की रमणीयता ६ ।
अर्थालंकार ३३३, ३३४ ।
अलंकार ३१; शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म ३३३; उसकी रचना का सिद्धांत ३३५-३६; सौंदर्य-विधायक अलंकार २६; हिंदी कविता में अलंकार ३३३; उनका विवेचन और प्रकार ३३३-३४; उनका स्थान ३३२ ।
अवधारण, वाक्यों में ३२६ ।
अश्राव्य (दृश्य वस्तु का भाग) २४२ ।
अश्वघोष (नाटककार) २०० ।
असुर मय १८८ ।
अहंकार (अंतःकरण की वृत्ति) २७५ ।
आकाश-भाषित २४५-४६ ।
आख्यान, छंदोबद्ध ११३; वेदों में आख्यान १८१ ।
आख्यायिका १५७-५९; उसका रूप १५९-६०; उद्देश्य १६४-६५; उस की रचना के सिद्धांत १६१-६४ ।
आख्यायिकाएँ २९ ।
आत्मचिंतन २८ ।

आलंवन २९५; आलंबन और भाव २९५; उसके प्रकार २९२; आलंबन या विभाव १९६।
आलोचक का कर्तव्य ४०; उसका मत ३४५; उसके आवश्यक गुण ३४९।
आलोचना और उपयोगिता ३७५; आलोचना और साहित्य-वृद्धि ३५४-५६; आलोचना का उद्देश्य ३४६; उपयोग ३४४; कार्य ३४३-४४-४५; व्याख्या ३४३-४४; उसके लिये बुद्धि और सामर्थ्य ३५१; तुलनात्मक आलोचन ३४६, ३५२-५३; उसका हिंदी में अभाव ३५३; आलोचना व्यक्तिगत मत है ३५९-६० आलोचना में द्वेष और पक्षपात ३५०-५१; मत-परिवर्तन ३६०-६४; रुचिवैचित्र्य और व्यक्तित्व ३६९; आलोचना में श्रद्धा और सहानुभूति ३४८।
आल्हा ११२।
इंदरसभा २३५।
इंद्रिय-जनित भाव २८५, २८६-८८, २९६।
इतिहास २९; इतिहास और साहित्य ५१।
इहामृग २७०।
ईलियड २०७।
उपन्यास २९, ११५; उपन्यास और नाटक ११४, उपन्यास और नाटक में भेद ११४; ऐतिहासिक उपन्यास १४३-४५; उपन्यास का उद्देश्य ११६, ११८, १४९-५०; तुलनात्मक अध्ययन ११८; महत्ता ११८; वस्तु ११६, ११७; वस्तु की महत्ता ११९; वस्तु का विन्यास १२२; वस्तु के संबंध में विचारने योग्य बातें १२८; शैली ११६; तत्व ११६; उनकी संख्या ११६; उपन्यास के दो भेद, वस्तु विन्यास के विचार से १२२; नायक १२४; पात्र ११६, १२६; कथन के तीन ढंग १२५; कथा कहने के ढंग १२९-३०; कथोपकथन ११६, १३४-३५; चरित्र-चित्रण के दो प्रकार १२९; उपन्यास में जीवन की व्याख्या १५०-५१; तीन आवश्यक गुण १२४; देश-काल ११६, १४२-४७; नीति १५५-५७; नैतिक शिक्षा १४८-४९; पात्र और वस्तु का संबंध १२२-२४; रस १३७-४१; पात्रों की वास्तविकता

१२६; उपन्यास में वास्तविकता १५४-५५; उपन्यास में सत्यता १५१-५३; शिथिल कथात्मक वस्तु १२४; सम्बद्ध घटनात्मक वस्तु १२४; लेखक का अनुभव १२०, १२१।
उपदेश और कविता ९७।
उपयोगिता और सौंदर्य ३।
उपरूपक के भेद २७१।
उभयालंकार ३३३।
उल्लाप्य २७१।
ऋग्वेद १८१।
एस्किमो १७९।
एल्यूसिस १७५।
एडिसन ३५०।
ओज ३३०; ओज गुण और रस ३३१।
कंसवध १८३।
कठपुतली, कथाकोष में १८७; बाल रामायण में १८८; कठपुतली का नाच १८६-१८८; महाभारत में १८७; कथा-सरित सागर में १८७।
कथावस्तु के भाग २२३।
कनिष्क २००।
करुण और हास्य रस ११३। दे० 'रस'।
कविपुत्र (नाटककार) २००।
कला २, १३१; कला और सभ्यता ३; उपयोगी कला २, ३; ललित कला ३-४; कला का विवेचन १; विभाग २; उसमें व्यक्तिगत सत्ता ३२; कला-विवेचक रचनाएँ २८।
कलिंगसेन १८७।
कल्पना, ज्ञान की अवस्था २७२; कल्पना और स्मरण शक्ति २८०; कल्पना का आनंद २८१-८२; कल्पना की पराकाष्ठा २८१; कल्पना के तत्व ३०, २७३-७४, २७९-८३; विधायक कल्पना २८१; कल्पना शक्ति १४, २८२; इस शक्ति की पराकाष्ठा १२८।
कल्पसूत्र १८४, १९७।
कवि ३७; कवि और दार्शनिक ९६, कवि और वैज्ञानिक ८१; कवि और वैज्ञानिक खोज ९५; कवि और शब्दभांडार ३१८; कवि-कल्पना में विज्ञान का स्थान ९८; कवि-कल्पना में सत्यता ८३; कवि का काम १०८; उसका कौशल ३०; उसका जीवन-चरित्र ३८; उसका बड़प्पन ९५; उसका महत्व १०८; उसकी कृतियों में तुलना ३७; उसकी संचित सामग्री ३०; उसके कौशल

आलंबन २९५; आलंबन और भाव २९५; उसके प्रकार २९२; आलंबन या विभाव १९६।
आलोचक का कर्तव्य ४०; उसका मत २४५; उसके आवश्यक गुण २४९।
आलोचना और उपयोगिता २७५; आलोचना और साहित्य-वृद्धि २५४-५६; आलोचना का उद्देश्य २४६; उपयोग २४४; कार्य २४३-४४-४५; व्याख्या २४३-४४; उसके लिये बुद्धि और सामर्थ्य २५१; तुलनात्मक आलोचन २४६, २५२-५३; उसका हिंदी में अभाव २५२; आलोचना व्यक्तिगत मत है २५९-६० आलोचना में द्वेष और पक्षपात २५०-५१; मत-परिवर्तन २६०-६४; रुचिवैचित्र्य और व्यक्तित्व २६९; आलोचना में श्रद्धा और सहानुभूति २४८।
आल्हा ११२।
इंदरसभा २२५।
इंद्रिय-जनित भाव २८५, २८६-८८, २९६।
इतिहास २९; इतिहास और साहित्य ५१।
इहामृग २७०।
ईलियड २०७।
उपन्यास २९, ११५; उपन्यास और नाटक ११४, उपन्यास और नाटक में भेद ११४; ऐतिहासिक उपन्यास १४३-४५; उपन्यास का उद्देश्य ११६, ११८, १४९-५०; तुलनात्मक अध्ययन ११८; महत्ता ११८; वस्तु ११६, ११७: वस्तु की महत्ता ११९; वस्तु का विन्यास १२२; वस्तु के संबंध में विचारने योग्य बातें १२८; शैली ११६; तत्व ११६; उनकी संख्या ११६; उपन्यास के दो भेद, वस्तु विन्यास के विचार से १२२; नायक १२४; पात्र ११६, १२६; कथन के तीन ढंग १२५; कथा कहने के ढंग १२९-३०; कथोपकथन ११६, १२४-२५; चरित्र-चित्रण के दो प्रकार १२९; उपन्यास में जीवन की व्याख्या १५०-५१; तीन आवश्यक गुण १२४; देश-काल ११६, १४२-४७; नीति १५५-५७; नैतिक शिक्षा १४८-४९; पात्र और वस्तु का संबंध १३२-३४; रस १३७-४१; पात्रों की वास्तविकता

१२६; उपन्यास में वास्तविकता १५४-५५; उपन्यास में सत्यता १५१-५३; शिथिल कथात्मक वस्तु १२४; सम्बद्ध घटनात्मक वस्तु १२४; लेखक का अनुभव १२०, १२१।

उपदेश और कविता ९७।

उपयोगिता और सौंदर्य ३।

उपरूपक के भेद २७१।

उभयालंकार ३३३।

उल्लाप्य २७१।

ऋग्वेद १८१।

एस्किमो १७९।

एल्यूसिस १७५।

एडिसन ३५०।

ओज ३३०; ओज गुण और रस ३३१।

कंसवध १८३।

कठपुतली, कथाकोष में १८७; बाल रामायण में १८८; कठपुतली का नाच १८६-१८८; महाभारत में १८७; कथा-सरित सागर में १८७।

कथावस्तु के भाग २२३।

कनिष्क २००।

करुण और हास्य रस ११३। दे० 'रस'।

कविपुत्र (नाटककार) २००।

कला २, १३१; कला और सभ्यता ३; उपयोगी कला २, ३; ललित कला ३-४; कला का विवेचन १; विभाग २; उसमें व्यक्तिगत सत्ता ३२; कला-विवेचक रचनाएँ २८।

कलिंगसेन १८७।

कल्पना, ज्ञान की अवस्था २७२; कल्पना और स्मरण शक्ति २८०; कल्पना का आनंद २८१-८२; कल्पना की पराकाष्ठा २८१; कल्पना के तत्व ३०, २७३-७४, २७९-८२; विधायक कल्पना २८१; कल्पना शक्ति १४, २८२; इस शक्ति की पराकाष्ठा १२८।

कल्पसूत्र १८४, १९७।

कवि ३७; कवि और दार्शनिक ९६, कवि और वैज्ञानिक ८१; कवि और वैज्ञानिक खोज ९५; कवि और शब्दभांडार ३१८; कवि-कल्पना में विज्ञान का स्थान ९८; कवि-कल्पना में सत्यता ८३; कवि का काम १०८; उसका कौशल ३०; उसका जीवन-चरित्र ३८; उसका बड़प्पन ९५; उसका महत्व १०८; उसकी कृतियों में तुलना ३७; उसकी संचित सामग्री ३०; उसके कौशल

के तत्व ३०; उसके प्रति श्रद्धा ४१; उसके प्रति सहानुभूति ४१, ४५; कवि पर काल का प्रभाव ५६; जाति का प्रभाव ५६; परिस्थिति का प्रभाव ५५; स्थिति का प्रभाव ५६; प्रतिभाशाली कवि ९६; कविप्रथा का अनुसरण ८६; प्रारंभ में हिंदी कवि ५३।
कविता ७०; आत्माभिव्यंजक कविता १०९; कविता और जीवन १०६; कविता और नीति १०७; कविता और पद्य ६८, ६९; कविता और प्रकृति ९९; कविता और विज्ञान ७७, ७८; कविता और विज्ञान में विरोध ९५; कविता और वृत्त ७५; कविता और संगीत ७५; कविता का उद्देश्य १०६; प्रभाव ७१; लक्षण ६९; लक्ष्य ७१; विवेचन ६८; स्वरूप ७२; उपयोगिता १०४; कविता की दशा, मुसलमानों के समय में ५४; कविता की विशेषता ७२; उसकी व्यंजनशक्ति १०४; कविता के विभाग १०९; कविता पर आर्नल्ड १०७; कारथाय ६९; कारलायल ६९; जानूसन ६९; वाट्स डंटन ६९; मिल्टन ६९; रस्किन ६९ कविता जीवन की व्याख्या १०५; जीवन की कवितामय व्याख्या ७३; बाह्यविषयात्मक कविता १०९; उसके विभाग ११३; उसकी विशेषता ११०; भारतीय कविता ११२; भावात्मक कविता १०९; उसकी विशेषता १०९; कविता में उपदेश ९६, ९७; कविता में प्रकृति का प्रयोग १०१, १०३; उस प्रयोग के प्रकार ९९, १००; कविता में प्रकृति के विरुद्ध बातों का समावेश ८५, ८६; कविता में रागात्मक भाव तथा कल्पनात्मक तत्व ७३; व्यक्तिसंबंधिनी कविता १०९।
कवियों की कृतियों में समता ५१।
कवियों के महत्व का आदर्श १०५।
कहानी दे० 'आख्यायिका'।
काल की प्रकृति ५२; काल की प्रकृति तथा कवि ५५।
कालिदास १९९।
काव्य १७, १८, २०, २३, ३१, ६४, ६८; काव्य (उपरूपक) २७१; काव्य और मनोवृत्ति २५; काव्य और मानव जीवन २३; काव्य

और व्यक्तित्व २१; काव्य में आत्माभिव्यंजन की वासना २५; काव्य का अर्थ १९; काव्य-शैली का तत्व, २१२; काव्य का प्रधान गुण २४; प्रयोजन १७; महत्व १८; विवेचन १९; उत्पत्ति का कारण २४; परिभाषा १९; मानव व्यापार में अनुरक्ति २५; श्रेणियाँ २८; काव्य के उपादान ३०; गुण ३२९; तत्व २७३-७४; लक्षण २०; विभाग २८; विषय २७; विषयों के विभाग २८; गीतात्मक काव्य ११२, ११३; पश्चिमी विद्वानों के अनुसार काव्य २१; प्रकृत काव्य २९; वर्णनात्मक काव्य २५, २९; काव्य के अंतर्गत पुस्तकें ६८।

काव्य-कला २, ४, ६, १२, १७, १०६; काव्य-कला और संगीत-कला का संबंध १२; काव्य-कला का आधार १२; काव्य-कला की विशेषता १५; उसमें पुस्तकों का महत्व १७; उसमें सिद्धांतों का अनुसरण ६५।

कीथ १८१।

कृशाश्व १८३, १८५।

कृष्णमिश्र २०१।

कृष्णलीला ५४, १७७।

केशवदास ५३।

केशवराम भट्ट २२३।

कौटिल्य १९२।

कौबेरंभाभिसार १८४।

गद्य और कविता ७४ गद्य और पद्य ७४।

गद्य काव्य ६८; गद्यकाव्य का विवेचन ११४।

गल्प दे० 'आख्यायिका'।

गिरधरदास २२३।

गिरीश घोष १३१।

गीति—काव्य का आरंभ १७४; भारत में गीति काव्य १८५; वेद में गीति काव्य १८०।

गुणाढ्य १८७।

गुणात्मक भाव २८६, २९१-९२।

गोपालचंद्र २२३।

गोष्ठी (उपरूपक) २७१।

गौड़ी रीति ३३०।

ग्रंथ और ग्रंथकर्ता ३४।

ग्रंथ और लेखक की शक्ति ३१८।

ग्रंथ की उत्तमता का प्रमाण २६२—६४; ग्रंथ की सर्वप्रियता और श्रेष्ठता ३५९।

ग्रंथकार का वास्तविक स्वरूप, उसके ग्रंथ में ३४; ग्रंथकार का परिचय ३४; उसके पत्रों का संग्रह ३६; प्रतिभाशाली ग्रंथकार ४७, ५८; उसकी स्थिति ४६; ग्रंथकार के सामान्य गुण ५२।

ग्रे ३५०।

चंद्रकांता-संतति ३५८।

चित्त (अंतःकरण की वृत्ति) २७५; पंचदशी के अनुसार २७५; वेदांत के अनुसार २७५।

चित्तवृत्ति और भाव २९८।

चित्र में मूर्त आधार १६।

चित्र-कला २, ५, ९; आधार ९; चित्र-कला में मानसिकता १०; चित्र-कला में मूर्तता १०।

चित्रालंकार २३३-३४।

छंद या वृत्त २४०।

छाया नाटक १९०-९१।

जगन्नाथदास रत्नाकर ९०।

जगमोहन सिंह ३५८।

जयशंकर प्रसाद २२४–२५।

जाति ५६; शक्तिशालिनी जाति का प्रभाव ५९; संबंधी जातियों के साहित्य का अध्ययन ६२।

जातीय भाव ४९।

जातीय साहित्य ४७, ४८; अर्थ ४८; अध्ययन ५८; तुलनात्मक अध्ययन ५९; अध्ययन की प्रणाली ५८; जातीय साहित्य के इतिहास का अध्ययन ५०; जातीयता और साहित्य ४६।

जान्सन ३५०।

जीवनचरित्र ३८, ३९; उसका उपयोग ४५।

जीवन में संगीत का स्थान ७५।

जेफ्रे (लार्ड) ३५८।

ज्ञान की अवस्थाएँ २७९।

डिम २७०।

डेमिटर १७५।

तुलनात्मक जाँच ५१; उसकी प्रणाली ३७, ३८, ४२।

तुलसीदास ४०, ५२, ८५, ९४, ९७, ३५८।

तोताराम २२३।

त्रोटक (उपरूपक) २७१।

दशरूपक २०१।

दीनदयाल गिरि ९१।

दुर्मल्लिका २५४।

दुर्मल्लिका (उपरूपक) २७१।

दुष्यंत २५३, ३००।

दृश्य (कथावस्तु का विभाग) २३३–३४।

दृश्य काव्य ४, १११; दृश्य काव्य तथा श्रव्य काव्य ११५। दे० 'नाटक'।

देव ८७।

द्विजेंद्रलाल राय २२४।

धनंजय २०१।

धार्मिक उत्सव, चीन, जापान, भारत, यूनान आदि में १७५।

धीरोदात्त (नायक) २३१।

नट और रस ३०५।

नाटक २९; नाटक के लक्षण ग्रंथ १८३, १९२, व्युत्पत्ति १७१; परिभाषा १७०; उत्पत्ति १७१-७३; आरंभ १७४-७६; वीरपूजा से आरंभ १७७; नृत्यों से आरंभ १७८; ऋग्वेद में नाटक १८२; हरिवंश पुराण में उल्लेख १८५; कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णन १९२; कृष्ण के समय में नाटक १८५; भारतवर्ष में नाटक का आरंभ १८१; अरब में २१९; चीन के नाटक २१३-१८; पेरू और मेक्सिको में २२०; मलय और स्याम में २१९; मिस्र में २१६; युरोप में २१३-१४; अँग्रेजी नाटक २१४-१५; आधुनिक भारतीय नाटक २२०-२२; हिंदी में नाटक २२२-२५; उसका पहला अभिनय २२६; उर्दू, गुजराती, बँगला, मराठी आदि नाटक २६५; यूनानी नाटक २०४-०९; यूनानी सुखांत नाटक २०४-०९; रोमन नाटक २११-१२; संस्कृत नाटक १९९-२०२; छाया-नाटक १९०; नाटक की चार प्राचीन रीतियाँ १९६; नाटक पर साहित्य का अनुशासन १७३; नाटक में अङ्क और कथावस्तु २६६; अंक-विभाग २६५; अलंकार २७१; उद्देश्य २५६; उपन्यास से तुलना २२८-२९; दोनों का चरित्रचित्रण २३६; कथावस्तु २३१-३६; कथावस्तु के पाँच (पाश्चात्य) विभाग २६२; आरंभ, विकास, चरम सीमा, विगति या उतार और समाप्ति या अंत २६२; कथावस्तु के पाँच (भारतीय) विभाग २६३; आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम २६३; दोनों की तुलना २६४; कथावस्तु के भेद, अधि-

कारिक और प्रासंगिक २४९; कथावस्तु का निर्वाह २६४-६९; कथोपकथन के प्रकार २४०-४६; गुप्त भेद या रहस्य २६८-६९; घटना-क्रम २६८; चरित्रचित्रण २३४-२३; छः तत्व २३१; देश-काल २४७-४८; धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि २६०; नायक नायिका २७१; नैतिक आदर्श २५८-६०; पात्र २३४; रचना के सिद्धान्त २६१-६४; रूपक और उपरूपक २६९; उनके भेद २६९-७२; वर्जित विषय २७१; विरोध २६१; विशेषता २२९-३१; विस्तार २३२; वृत्तिभेद २७१; संकलन त्रय २४७-४९; संकलन का ठीक अर्थ २४७-४८; काल-संकलन २५०-५५, स्थल-संकलन २५५-५६; संकलन और अरिस्टाटल २५०; संकलन और शेक्सपियर २४८; संकलन यूनानी है २४७; सूत्रधार और स्थापक १८८-९४; स्वगत कथन २४२-४५ ।

नाटक-मंडली, पारसी २४९ ।

नाटककार के उद्गार २५८; नाटककार और उपन्यासकार १३६ ।

नाटिका (उपरूपक) २७१ ।

नाट्य के तत्व २३१ ।

नाट्य-कला (भारतीय) १९५-९६; उसपर यूनानी प्रभाव २०२-०४; यूनानी नाट्यकला का विकास २०४-०९; नाट्यकला (भारतीय) का विकास १९८-२०२ ।

नाट्य शास्त्र १८५, २९७; उसकी प्राचीनता १९६-९८; भारतीय नाट्य शास्त्र का विकास १९१-९३; नाट्यशास्त्र संबंधी ग्रंथ १८५।

नाट्य साहित्य (भारतीय) की सृष्टि १८०-८६ ।

नाट्य रासक (उपरूपक) २७१ ।

नायक, नाट्य का एक तत्व २३१ ।

नायिका-भेद ५४ ।

नारायणप्रसाद बेताब २२७ ।

निबंध १६५-१६९ ।

नियत श्राव्य २४२ ।

नीति और कविता १०७ ।

नृत्य १७७ ।

नेपथ्य १९४ ।

नो (जापानी नाटक) १७९ ।

पंचदशी २७५ ।

पतंजलि १८२ ।

पद-विन्यास ३३६ ।
पदों का विवेचन ३६२ ।
पद्य और कविता ६८, ७४ ।
परिच्छेद ३३६-३७ ।
परिज्ञान (ज्ञान की अवस्था) २७९ ।
परुषा वृत्ति ३३० ।
पाणिनि १८२ ।
पाश्चात्य काव्य-कला ६ ।
पिशल १९१
पीठमर्द २५४ ।
पोप ३५० ।
प्रकरण २६९ ।
प्रकरणिका (उपरूपक) २७१ ।
प्रकृति और कविता ९९; प्रकृति का कवितामय चित्रण ९३; प्रकृति में कविता का उपयोग १००; प्रकृति का कविता में प्रयोग १०१; प्रकृति-दर्शन-जनित भावों में भिन्नता ९९; प्रकृति-वर्णन पर मनोवृत्तियों का प्रभाव १०३ ।
प्रज्ञात्मक भाव २८५, ५८८-९१, २९३, २९६ ।
प्रज्ञात्मक शक्तियों का प्रभाव ३३४ ।
प्रतिभा ३२ ।
प्रतिभावान् की भाषा ४३ ।
प्रसाद गुण ३३०, प्रसाद गुण और रस ३३१ ।
प्रस्थान (उपरूपक) २७१ ।
प्रहसन (रूपक का भेद) २७१ ।
प्राचीन साहित्य में सूत्र और कारिका २१ ।
प्रेंखण (उपरूपक) २७१ ।
प्रेक्षागृह दे० 'रंगशाला' ।
प्रेमान् रस ३०६ ।
प्रौढ़ा वृत्ति ३३० ।
बदरीनारायण चौधरी २२३, २३२ ।
बलिबंधन नाटक १८३ ।
बालरामायण २६५ ।
बिहारीलाल ८६ ।
बुद्धि (अन्तःकरण की वृत्ति) २७५; बुद्धि का काम ३१५, बुद्धि की निश्चयात्मकता २७६; मन की चेतन शक्ति २७८ ।
बुद्धितत्व ३०, २७३-७४-२७८-७९ ।
बृहत्कथा १८७ ।
ब्राह्मण ग्रंथ १९७ ।
भगवद्भक्ति ५३ ।
भक्ति रस ३०७ ।
भट्ट नारायण (नाटककार) २०१ ।
भद्रबाहु १८४ ।
भरत मुनि १८४, २९७ ।

कारिक और प्रासंगिक २४९; कथावस्तु का निर्वाह २६४-६९; कथोपकथन के प्रकार २४०-४६; गुप्त भेद या रहस्य २६८-६९; घटना-क्रम २६८; चरित्रचित्रण २३४-२३; छः तत्व २३१; देश-काल २४७-४८; धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि २६०; नायक नायिका २७१; नैतिक आदर्श २५८-६०; पात्र २३४; रचना के सिद्धान्त २६१-६४; रूपक और उपरूपक २६९; उनके भेद २६९-७२; वर्जित विषय २७१; विरोध २६१; विशेपता २२९-३१; विस्तार २३२; वृत्तिभेद २७१; संकलन त्रय २४७-४९; संकलन का ठीक अर्थ २४७-४८; काल-संकलन २५०-५५, स्थल-संकलन २५५-५६; संकलन और अरिस्टाटल २५०; संकलन और शेक्सपियर २४८; संकलन यूनानी है २४७; सूत्रधार और स्थापक १८८-९४; स्वगत कथन २४२-४५।

नाटक-मंडली, पारसी २४९।

नाटककार के उद्गार २५८; नाटककार और उपन्यासकार १३६।

नाटिका (उपरूपक) २७१।

नाट्य के तत्व ३३१।

नाट्य-कला (भारतीय) १९५-९६; उसपर यूनानी प्रभाव २०२-०४; यूनानी नाट्यकला का विकास २०४-०९; नाट्यकला (भारतीय) का विकास १९८-२०२।

नाट्य शास्त्र १८५, २९७; उसकी प्राचीनता १९६-९८; भारतीय नाट्य शास्त्र का विकास १९१-९३; नाट्यशास्त्र संबंधी ग्रंथ १८५।

नाट्य साहित्य (भारतीय) की सृष्टि १८०-८६।

नाट्य रासक (उपरूपक) २७१।

नायक, नाट्य का एक तत्व २३१।

नायिका-भेद ५४।

नारायणप्रसाद बेताब २२७।

निबंध १६५-१६९।

नियत श्राव्य २४२।

नीति और कविता १०७।

नृत्य १७७।

नेपथ्य १९४।

नो (जापानी नाटक) १७९।

पंचदशी २७५।

पतंजलि १८२।

पद-विन्यास ३३६ ।
पदों का विवेचन ३६२ ।
पद्य और कविता ६८, ७४ ।
परिच्छेद ३३६-३७ ।
परिज्ञान (ज्ञान की अवस्था) २७९ ।
परुषा वृत्ति ३३० ।
पाणिनि १८२ ।
पाश्चात्य काव्य-कला ६ ।
पिशल १९१
पीठमर्द २५४ ।
पोप ३५० ।
प्रकरण २६९ ।
प्रकरणिका (उपरूपक) २७१ ।
प्रकृति और कविता ९९; प्रकृति का कवितामय चित्रण ९३; प्रकृति में कविता का उपयोग १००; प्रकृति का कविता में प्रयोग १०१; प्रकृति-दर्शन-जनित भावों में भिन्नता ९९; प्रकृति-वर्णन पर मनोवृत्तियों का प्रभाव १०३ ।
प्रज्ञात्मक भाव २८५, ५८८-९१, २९३, २९६ ।
प्रज्ञात्मक शक्तियों का प्रभाव ३३४ ।
प्रतिभा ३२ ।
प्रतिभावान् की भाषा ४३ ।
प्रसाद गुण ३३०, प्रसाद गुण और रस ३३१ ।
प्रस्थान (उपरूपक) २७१ ।
प्रहसन (रूपक का भेद) २७१ ।
प्राचीन साहित्य में सूत्र और कारिका २१ ।
प्रेंखण (उपरूपक) २७१ ।
प्रेक्षागृह दे० 'रंगशाला' ।
प्रेमान् रस ३०६ ।
प्रौढ़ा वृत्ति ३३० ।
बदरीनारायण चौधरी २२३, २३२ ।
बलिबंधन नाटक १८३ ।
बालरामायण २६५ ।
बिहारीलाल ८६ ।
बुद्धि (अन्तःकरण की वृत्ति) २७५; बुद्धि का काम ३१५, बुद्धि की निश्चयात्मकता २७६; मन की चेतन शक्ति २७८ ।
बुद्धितत्व ३०, २७३-७४-२७८-७९ ।
बृहत्कथा १८७ ।
ब्राह्मण ग्रंथ १९७ ।
भगवद्भक्ति ५३ ।
भक्ति रस ३०७ ।
भट्ट नारायण (नाटककार) २०१ ।
भद्रबाहु १८४ ।
भरत मुनि १८४, २९७ ।

भरत का समय १९२।
भवभूति (नाटककार) ९३, २०१।
भाण २७०।
भाणिका (उपरूपक) २७१।
भारतसौभाग्य २३२।
भारतीय काव्य-कला ६।
भाव २९४-३०३; अन्तःकरण के धर्म हैं २९९; इन्द्रिय-जनित २८५; गुणात्मक २८६; प्रज्ञात्मक २८५, २९३, २९६; रागात्मक २९६; भाव और चित्तवृत्ति १९८; भाव के प्रकार २९६; भाव या मनोवेग २८३-८४; व्यभिचारी भाव ३०८-१०; संचारी भाव २९६; सौंदर्यविवेकी भाव २९३; स्थायी भाव३०३-०४, ३०७; भावाभास तथा रसाभास ३०८; भावों का काम ६१५; भावों का विनिमय ५९; भावों के प्रकार २८४-८६; भावों की प्रधानता२९७; व्याख्या ३१६; श्रेणियाँ २८५; शैली में भावों की प्रौढ़ता २२३।
भास १९९।
भिखारीदास ८४।
भूगर्भ शास्त्र २४७।
मधुरा वृत्ति।
मन (अन्तःकरण की वृत्ति) २७५; मन का परिचालन २८३४; मन की तरंग २८१; व्याख्या, पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार २७६-७७; संशयात्मक वृत्ति है २७६।
मनोराग दे० 'मनोवेग'।
मनोवृत्ति, मनुष्य की ३६; विभाग २६; उनका संमिश्रण २७।
मनोवेग या भाव २८३-८४।
मस्तिष्क की बनावट २७६।
महाकवियों की विशेषता ५७।
महाकाव्य ११२, ११३, १८१।
महानाटक २६५।
महाभारत १८४, १९०।
महावीर स्वामी १८४।
माधुर्य गुण ३२०; माधुर्य गुण और रस ३२१; माधुर्य शैली ३३८।
मानव व्यापार की अनुरक्ति ११४।
मिल्टन ३५०।
मुद्राराक्षस २४६।
मूर्ति-कला २, ५, ८, ९, उद्देश्य ९।
मेक्डानल १८१।
मैथ्यू आर्नल्ड ३१, ७९।
यति (छंद) ३४०।
यमक (शब्दालंकार) ३३३-३४।

युरोप में मध्यकालिक शिक्षा का आदर्श ४९।
रंगभूमि, यूनानी २५५।
रंग-रस १७९।
रंगशाला, अंग्रेजी ढंग की २२२; चीनी रंगशाला २१८; भारतीय १९३-९२; यूनानी २११; रामगढ़ की १९७; बँगला, गुजराती, मराठी, हिंदी २२५-२७; रंगशाला का प्रकार १९३; रचना १९४।
रचना और रचयिता ३२; रचना पर लेखक की व्यक्तिगत छाप ६३; रचना-शैली ४२; रचना शैली से सहायता ४२।
रचना-चमत्कार, शैली का ३१३।
रचयिता और रचना ३२।
रस, नाट्य का तत्व २३१; रस और नट ३०५; रस और नाटक ३०६; रस और स्थायी भाव ३०४; रस का अनुभव ३०१-०२; रस की निष्पत्ति २९७; रस की प्रधानता ३२९; रस की प्रधानता, शास्त्रों में २९७; रस की व्याख्या ३००; रस-निरूपण, साहित्यिकों के अनुसार २९७-३०३; रसाभास ३०८; रसों का वर्गीकरण ३०६; रसों के संचार का उद्देश्य ११३
रसगंगाधर २०।
राखालदास बंदोपाध्याय १४३-४४।
रागात्मक तत्व ३०, २७३-७४।
रागात्मक भाव २९६।
राजशेखर १८८, २०१, २६५।
राधाकृष्ण दास २२४।
रामचंद्र शुक्ल ८८।
रामलीला १७७।
रामानंद ५३।
रासायण १८०, १९०, २३३, २५८।
रासक (उपरूपक) २७१।
रिजवे तथा उसके मत का खंडन १८१।
रीति ४३; रीति और समास ३३०; रचना-शैली में रीति ३३०।
रुचि-वैचित्र्य ४१; आलोचना में ३६०; लेखकों में ३१९; रुचि-वैचित्र्य और व्यक्तित्व ३६९।
रूपक ११३; भेद २६९-७०। दे० 'नाटक'।
रूपसौंदर्य ३०।
लक्षणा ३२६-२७।
लक्षणा वृत्ति ६५।
लक्ष्मणसिंह २२३।
ललित कला २, ४, ६, ७; ललित

भरत का समय १९२।
भवभूति (नाटककार) ९३, २०१।
भाण २७०।
भाणिका (उपरूपक) २७१।
भारतसौभाग्य २३२।
भारतीय काव्य-कला ६।
भाव २९४-३०२; अन्तःकरण के धर्म हैं २९९; इन्द्रिय-जनित २८५; गुणात्मक २८६; प्रज्ञात्मक २८५, २९३, २९६; रागात्मक २९६; भाव और चित्तवृत्ति १९८; भाव के प्रकार २९६; भाव या मनोवेग २८३-८४; व्यभिचारी भाव ३०८-१०; संचारी भाव २९६; सौंदर्यविवेकी भाव २९३; स्थायी भाव३०३-०४, ३०७; भावाभास तथा रसाभास ३०८; भावों का काम ६१५; भावों का विनिमय ५९; भावों के प्रकार २८४-८६; भावों की प्रधानता२९७; व्याख्या ३१६; श्रेणियाँ २८५; शैली में भावों की प्रौढ़ता २२३।
भास १९९।
भिखारीदास ८४।
भूगर्भ शास्त्र ३४७।
मधुरा वृत्ति।
मन (अन्तःकरण की वृत्ति) २७५; मन का परिचालन २८३४; मन की तरंग २८१; व्याख्या, पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार २७६-७७; संशयात्मक वृत्ति है २७६।
मनोराग दे० 'मनोवेग'।
मनोवृत्ति, मनुष्य की ३६; विभाग ३६; उनका संमिश्रण ३७।
मनोवेग या भाव २८३-८४।
मस्तिष्क की बनावट २७६।
महाकवियों की विशेषता ५७।
महाकाव्य ११२, ११३, १८१।
महानाटक २६५।
महाभारत १८४, १९०।
महावीर स्वामी १८४।
माधुर्य गुण ३३०; माधुर्य गुण और रस ३३१; माधुर्य शैली ३३८।
मानव व्यापार की अनुरक्ति ११४।
मिल्टन ३५०।
मुद्राराक्षस २४६।
मूर्ति-कला २, ५, ८, ९, उद्देश्य ९।
मैक्डानल १८१।
मैथ्यू आर्नल्ड ३१, ७९।
यति (छंद) ३४०।
यमक (शब्दालंकार) ३२३-२४।

युरोप में मध्यकालिक शिक्षा का आदर्श ४९।
रंगभूमि, यूनानी २५५।
रंग-रस १७९।
रंगशाला, अंग्रेजी ढंग की २२२; चीनी रंगशाला २१८; भारतीय १९३-९२; यूनानी २११; रामगढ़ की १९७; बँगला, गुजराती, मराठी, हिंदी २२५-२७; रंगशाला का प्रकार १९२; रचना १९४।
रचना और रचयिता ३२; रचना पर लेखक की व्यक्तिगत छाप ६३; रचना-शैली ४२; रचना शैली से सहायता ४२।
रचना-चमत्कार, शैली का ३१३।
रचयिता और रचना ३२।
रस, नाट्य का तत्व २३१; रस और नट ३०५; रस और नाटक ३०६; रस और स्थायी भाव ३०४; रस का अनुभव ३०१-०२; रस की निष्पत्ति २९७; रस की प्रधानता ३२९; रस की प्रधानता, शास्त्रों में २९७; रस की व्याख्या ३००; रस-निरूपण, साहित्यिकों के अनुसार २९७-३०३; रसाभास ३०८; रसों का वर्गीकरण ३०६; रसों के संचार का उद्देश्य ११३
रसगंगाधर २०।
राखालदास बंदोपाध्याय १४३-४४।
रागात्मक तत्व ३०, २७३-७४।
रागात्मक भाव २९६।
राजशेखर १८८, २०१, २६५।
राधाकृष्ण दास २२४।
रामचंद्र शुक्ल ८८।
रामलीला १७७।
रामानंद ५३।
रामायण १८०, १९०, २२३, २५८।
रासक (उपरूपक) २७१।
रिजवे तथा उसके मत का खंडन १८१।
रीति ४२; रीति और समास ३३०; रचना-शैली में रीति ३३०।
रुचि-वैचित्र्य ४१; आलोचना में ३६०; लेखकों में ३१९; रुचि-वैचित्र्य और व्यक्तित्व ३६९।
रूपक ११३; भेद २६९-७०। दे० 'नाटक'।
रूपसौंदर्य ३०।
लक्षणा ३२६-२७।
लक्षणा वृत्ति ६५।
लक्ष्मणसिंह २२३।
ललित कला २, ४, ६, ७; ललित

कलाओं का आधार ४, उनका ज्ञान १३; श्रेणियाँ ४; तत्व ६; भेद २, ४; मूर्त आधार ४।
लल्लूलाल ६३।
लेखक और शब्दभांडार ३१८।
लेखन-शैली ४१, ६२।
लोलट्ट भट्ट २९८-९९।
लोलंबिराज २२।
वक्रोक्ति (शब्दालंकार) ३३४-३४।
वत्सल रस ३०६।
वर्णन, सजीवन १२८; वर्णन-शैली १२३;
वर्षा पर कवि और वैज्ञानिक ८२।
वल्लभाचार्य ५३।
वस्तु, नाटक और उपन्यास का एक तत्व २३१।
वाक्य ३२१; वाक्य और विषय-विवेचन ३२२; वाक्य और व्यंग्यार्थ ३२९; वाक्य और शैली ३२१; वाक्य में अवधारण का संस्थान ३२६; वाक्य की सुंदरता ३२६; वाक्यों की रचना ३३१; पारस्परिक संबंध ३३७; विस्तार ३२२, संक्रमण ३२७; जटिलता ३२४; विशेषता ३२१; प्रकार ३२१; वाक्योच्चय ३२१, समीकृत वाक्य ३२४।
वाक्योच्चय ३२१।
वास्तु-कला ४, ५, ७, ८; वास्तु-कला में मानसिक भावों की प्रधानता ८; वास्तु-कला में मूर्त आधार ७।
विचार, ज्ञान की अवस्था २७९।
विज्ञान का उद्देश्य ७७; विज्ञान का स्थान कविकल्पना में ९८; विज्ञान और कविता ७७; विज्ञान और कविता में विरोध ९५।
विट २५४।
विदूषक २५४; विदूपक और क्लौन १९१।
विदेशी शब्दों का प्रयोग और ग्रहण ३८४
विधायक कल्पना २८३।
विनयपत्रिका ३५८।
विभाव या आलंबन २९६; विभाव के प्रकार ३१०।
विराम (छंद) ३४०।
विरोध ३३४-३५।
विलासिका (उपरूपक) २७१।
विशारद १८८।
विश्राम (छंद) ३४०।
विश्वनाथ पंडितराज ३०६।
विषय का अनुभव ३२।
वीथी २७१।
वीरपूजा १७६-८०।

वृत्त ३३९-४०; मात्रा-मूलक ३४०; वर्ण-मूलक ३४० ।
वृत्ति ३३०; अन्तःकरण की वृत्ति ३७५-७७; शब्दों की वृत्ति ३१०
वेदांतसार २७५ ।
वैज्ञानिक और कवि ८१; वैज्ञानिक खोज और कवि ५९ ।
वैज्ञानिक बातों का उपयोग ९३ ।
वैदर्भी रीति ३३० ।
वैद्यजीवन २२ ।
वैद्यावतंस २२ ।
व्यंग्य (शब्दालंकार) ३२९; वाक्य में व्यंग्य ३२९ ।
व्यंजन ३२६-२७ ।
व्यंजना वृत्ति ६५ ।
व्यभिचारी भाव ३०८-१० ।
व्यायोग २५४, २७० ।
शकुंतला २५३, ३०० ।
शक्ति, शब्दों की ३२० ।
शब्द की शक्तियाँ ३२०, ३२९; गुण ३२४; योजना ३२; महत्व ३१६; गिनती ३१८; वृत्ति ३२०; सामर्थ्य ३२०; संघटन ३२३ ।
शब्दालंकार ३३३; शब्दार्थालंकार ३३८ ।
शिलालिन् १८३, १८५ ।
शिल्पक (उपरूपक) २७१ ।
शीतलाप्रसाद त्रिपाठी २२६ ।
शेक्सपियर २१५, २४८ ।
शैली २५९ ।
शैली ४३, ३१५; शैली और अनुभव ३१६; शैली और शब्दभंडार ३१८; शैली और साहित्य ६२; कठिन और सरल शैली ३४२; कलात्मक विवेचन शैली ३३८; शैली का अनुशीलन ४५; मूल तत्व ३१६; रूप ३१३; काव्य और विचारों का बाह्य रूप ३१४; व्याख्या ३१३; कवि की उत्तरावस्था में शैली ४४, मध्यावस्था में ४४; प्रारंभावस्था में ४४; शैली के गुण ३३८; उनका तुलनात्मक विवेचन ३३८; शैली के अध्ययन से साहित्य की स्थिति-विवेचना ६४; प्रज्ञात्मक शैली ३३८; भारतीय शैली के आधार ३२६; रागात्मक शैली ३३८; शैली पर विशेषता की छाप ४४; शैली में माधुर्य ३३८; शैली में परिवर्तन ६२; शैली में सस्वरता ३३८; विषय-प्रतिपादन शैली ३२ ।
श्यामास्वप्न २५८ ।

कलाओं का आधार ४, उनका ज्ञान १३; श्रेणियाँ ४; तत्व ६; भेद २, ४; मूर्त आधार ४ ।
लल्लूलाल ६३ ।
लेखक और शब्दभांडार ३१८ ।
लेखन-शैली ४१, ६२ ।
लोलट्ट भट्ट २९८-९९ ।
लोलंबिराज २२ ।
वक्रोक्ति (शब्दालंकार) ३३४-३४ ।
वत्सल रस ३०६ ।
वर्णन, सजीवन १२८; वर्णन-शैली १२३;
वर्षा पर कवि और वैज्ञानिक ८२ ।
वल्लभाचार्य ५३ ।
वस्तु, नाटक और उपन्यास का एक तत्व २३१ ।
वाक्य ३२१; वाक्य और विषय-विवेचन ३२३; वाक्य और व्यंग्यार्थ ३२९; वाक्य और शैली ३२१; वाक्य में अवधारण का संस्थान ३२६; वाक्य की सुंदरता ३२६; वाक्यों की रचना ३३१; पारस्परिक संबंध ३३७; विस्तार ३२३, संक्रमण ३३७; जटिलता ३२४; विशेषता ३२१; प्रकार ३२१; वाक्योच्चय ३२१, समीकृत वाक्य ३२४ ।
वाक्योच्चय ३२१ ।
वास्तु-कला ४, ५, ७, ८; वास्तु-कला में मानसिक भावों की प्रधानता ८; वास्तु-कला में मूर्त आधार ७ ।
विचार, ज्ञान की अवस्था २७९ ।
विज्ञान का उद्देश्य ७७; विज्ञान का स्थान कविकल्पना में ९८; विज्ञान और कविता ७७; विज्ञान और कविता में विरोध ९५ ।
विट २५४ ।
विदूषक २५४; विदूषक और क्लौन १९१ ।
विदेशी शब्दों का प्रयोग और ग्रहण ३८४
विधायक कल्पना २८३ ।
विनयपत्रिका ३५८ ।
विभाव या आलंबन २९६; विभाव के प्रकार ३१० ।
विराम (छंद) ३४० ।
विरोध ३३४-३५ ।
विलासिका (उपरूपक) २७१ ।
विशारद १८८ ।
विश्राम (छंद) ३४० ।
विश्वनाथ पंडितराज ३०६ ।
विषय का अनुभव ३२ ।
वीथी २७१ ।
वीरपूजा १७६-८० ।

वृत्त ३३९-४०; मात्रा-मूलक ३४०; वर्ण-मूलक ३४० ।
वृत्ति ३२०; अन्तःकरण की वृत्ति ३७५-७७; शब्दों की वृत्ति ३१०
वेदांतसार २७५ ।
वैज्ञानिक और कवि ८१; वैज्ञानिक खोज और कवि ५९ ।
वैज्ञानिक बातों का उपयोग ९३ ।
वैदर्भी रीति ३३० ।
वैद्यजीवन २२ ।
वैद्यावतंस २२ ।
व्यंग्य (शब्दालंकार) ३२९; वाक्य में व्यंग्य ३२९ ।
व्यंजन ३२६-२७ ।
व्यंजना वृत्ति ६५ ।
व्यभिचारी भाव ३०८-१० ।
व्यायोग २५४, २७० ।
शकुंतला २५३, ३०० ।
शक्ति, शब्दों की ३२० ।
शब्द की शक्तियाँ ३२०, ३२९; गुण ३२४; योजना ३२; महत्व ३१६; गिनती ३१८; वृत्ति ३२०; सामर्थ्य ३२०; संघटन ३२३ ।
शब्दालंकार ३३३; शब्दार्थालंकार ३३८ ।
शिलालिन् १८३, १८५ ।
शिल्पक (उपरूपक) २७१ ।
शीतलाप्रसाद त्रिपाठी २२६ ।
शेक्सपियर २१५, २४८ ।
शैली २५९ ।
शैली ४३, ३१५; शैली और अनुभव ३१६; शैली और शब्दभंडार ३१८; शैली और साहित्य ६२; कठिन और सरल शैली ३४२; कलात्मक विवेचन शैली ३३८; शैली का अनुशीलन ४५; मूल तत्व ३१६; रूप ३१३; काव्य और विचारों का बाह्य रूप ३१४; व्याख्या ३१३; कवि की उत्तरावस्था में शैली ४४, मध्यावस्था में ४४; प्रारंभावस्था में ४४; शैली के गुण ३३८; उनका तुलनात्मक विवेचन ३३८; शैली के अध्ययन से साहित्य की स्थिति-विवेचना ६४; प्रज्ञात्मक शैली ३३८; भारतीय शैली के आधार ३३६; रागात्मक शैली ३३८; शैली पर विशेषता की छाप ४४; शैली में माधुर्य ३३८; शैली में परिवर्तन ६२; शैली में सस्वरता ३३८; विषय-प्रतिपादन शैली ३२ ।
श्यामास्वप्न २५८ ।

श्रद्धा ४१।
श्रव्य काव्य ४; श्रव्य काव्य तथा दृश्य काव्य ११५।
श्रीगदित (उपरूपक) २७१।
श्रीधर पाठक ८९, ९०।
श्रीनिवास दास २२३।
श्रीपति कवि ८४।
श्रृंगार रस का आधिक्य ६१।
श्रृंगार सतसई ८६।
श्लेष ३३३-३२।
संकलन दे० 'नाटक'।
संकल्प का काम ३१५।
संगीत ५; संगीत का आधार ११; संगीत का उद्देश्य ११; संगीत की विशेषता ११; भावव्यंजना में संगीत ७६; जीवन में संगीत का स्थान ७५।
संगीत-कला, २, ११; संगीत-कला और काव्य-कला में संबंध १२।
संगीत-रत्नाकर ३०५।
संचारी भाव २९६, ३०९।
संलापक (उपरूपक) २७१।
सत्यनारायण कविरत्न २२४।
सत्यहरिश्चन्द्र २४५-४६।
सभ्यता और सौंदर्य ३।
समवकार २५४, २७०।
समयानुक्रम रचना-प्रणाली ३६।
समरूप वाक्य ३२५।
समास और रीति ३३०।
समीकृत वाक्य ३२४।
सर्वदमन २५३।
सर्वश्राव्य २४२।
सरलता (शैली में) ३३८।
सट्टक २७१।
सहज ज्ञान २७९।
सांसारिक पदार्थों का अनुभव १३; सांसारिक पदार्थों का आंतरिक ज्ञान १४; सांसारिक पदार्थ का बाह्य ज्ञान १४; सांसारिक पदार्थों की उपयोगिता और सुंदरता २।
सान्निध्य ३३४-३५।
साम्य ३३४-३३५।
साहित्य १४, १७, ६४; आत्माभिव्यंजन संबंधी साहित्य २८; साहित्य और इतिहास में अन्योन्याश्रय संबंध ४६; साहित्य और काव्य २२; साहित्य और जातीयता ४६; साहित्य और शैली ६२; साहित्य का अध्ययन ५०; साहित्य का अर्थ १९; साहित्य का क्रमप्राप्त इतिहास ४६; साहित्य का प्रभाव १६; साहित्य का

श्रद्धा ४१।
श्रव्य काव्य ४; श्रव्य काव्य तथा दृश्य काव्य ११५।
श्रीगदित (उपरूपक) २७१।
श्रीधर पाठक ८९, ९०।
श्रीनिवास दास २२३।
श्रीपति कवि ८४।
श्रृंगार रस का आधिक्य ६१।
श्रृंगार सतसई ८६।
श्लेष २३३-३२।
संकलन दे० 'नाटक'।
संकल्प का काम ३१५।
संगीत ५; संगीत का आधार ११; संगीत का उद्देश्य ११; संगीत की विशेषता ११; भावव्यंजना में संगीत ७६; जीवन में संगीत का स्थान ७५।
संगीत-कला, २, ११; संगीत-कला और काव्य-कला में संबंध १२।
संगीत-रत्नाकर ३०५।
संचारी भाव २९६, ३०९।
संलापक (उपरूपक) २७१।
सत्यनारायण कविरत्न २२४।
सत्यहरिश्चन्द्र २४५-४६।
सभ्यता और सौंदर्य ३।
समवकार २५४, २७०।
समयानुक्रम रचना-प्रणाली ३६।
समरूप वाक्य ३२५।
समास और रीति ३३०।
समीकृत वाक्य ३२४।
सर्वदमन २५३।
सर्वश्राव्य २४२।
सरलता (शैली में) ३३८।
सट्टक २७१।
सहज ज्ञान २७९।
सांसारिक पदार्थों का अनुभव १३; सांसारिक पदार्थों का आंतरिक ज्ञान १४; सांसारिक पदार्थ का बाह्य ज्ञान १४; सांसारिक पदार्थों की उपयोगिता और सुंदरता २।
सान्निध्य ३३४-३५।
साम्य ३३४-३३५।
साहित्य १४, १७, ६४; आत्माभिव्यंजन संबंधी साहित्य २८; साहित्य और इतिहास में अन्योन्याश्रय संबंध ४६; साहित्य और काव्य २२; साहित्य और जातीयता ४१; साहित्य और शैली ६२; साहित्य का अध्ययन ५०; साहित्य का अर्थ १९; साहित्य का क्रमप्राप्त इतिहास ४६; साहित्य का प्रभाव १६; साहित्य का

विकास ५६; साहित्य का विवेचन ४६; साहित्य की उपयोगिता १८; साहित्य के भेद १५२; साहित्य पर अंग्रेजों का प्रभाव ६१; साहित्य पर जातीय स्थिति की छाप ५६; साहित्य पर मुसलमानों का प्रभाव ६०; साहित्य पर यूनानियों का प्रभाव ६०; साहित्य पर विदेशी प्रभाव ५९, ६०; साहित्य की विवेचना ६१; साहित्य में मूर्त आधार १७; साहित्य संबंधी शास्त्र ६४।

साहित्यदर्पण २०।

साहित्य शास्त्र २०, ६५; साहित्य शास्त्र का काम २१५; साहित्य शास्त्र का स्वतंत्र अध्ययन ६५; साहित्य शास्त्र और काव्य ६६।

साहित्यालोचन २८।

साहित्यिक यात्रा ५०।

सीताराम २२४।

सुंदरता का आदर्श ३-४; सुंदरता का आविर्भाव ३।

सुतनुका नर्त्तकी १९७।

सूच्य (कथावस्तु का भेद) २३३-३४।

सृष्टि की उपयोगिता और सुंदरता १; सृष्टि में सापेक्षिक गुण १।

सेनापति ८७।

सौंदर्य का अनुराग २६।

सौंदर्य-विवेकी भाव २९३।

स्काट २५८।

स्थायी भाव ३०३-०४; स्थायी भाव और रस ३०४; स्थायी भावों की संख्या ३०४-०८।

स्थायी साहित्य के गुण ३६५ ६८।

स्मरण, ज्ञान की अवस्था २७९; स्मरण शक्ति और कल्पना २८०।

स्वगत कथन २४२-४५।

हरिवंश पुराण १८४।

हरिश्चंद्र ६३, २०१, २२३।

हर्ष (नाटककार) २०१।

हल्लीश (उपरूपक) २७१।

हिंदी कविता का पतन ५४।

हिंदी साहित्य में भावव्यंजना ५४; हिंदी साहित्य का इतिहास ५२; हिंदी साहित्य की गति ५२।

हिंदी के प्राचीन ग्रंथों का प्रकाशन ३७

हृदयोद्गार, आत्मनिवेदन विषयक २८

होली १९६; होली के स्वाँग २०९।

श्रद्धा ४१।
श्रव्य काव्य ४; श्रव्य काव्य तथा दृश्य काव्य ११५।
श्रीगदित (उपरूपक) २७१।
श्रीधर पाठक ८९, ९०।
श्रीनिवास दास २२३।
श्रीपति कवि ८४।
शृंगार रस का आधिक्य ६१।
शृंगार सतसई ८६।
श्लेष ३३३-३२।
संकलन दे० 'नाटक'।
संकल्प का काम ३१५।
संगीत ५; संगीत का आधार ११; संगीत का उद्देश्य ११; संगीत की विशेषता ११; भावव्यंजना में संगीत ७६; जीवन में संगीत का स्थान ७५।
संगीत-कला, २, ११; संगीत-कला और काव्य-कला में संबंध १२।
संगीत-रत्नाकर ३०५।
संचारी भाव २९६, ३०९।
संलापक (उपरूपक) २७१।
सत्यनारायण कविरत्न २२४।
सत्यहरिश्चन्द्र २४५-४६।
सभ्यता और सौंदर्य ३।
समवकार २५४, २७०।
समयानुक्रम रचना-प्रणाली ३६।
समरूप वाक्य ३२५।
समास और रीति ३३०।
समीकृत वाक्य ३२४।
सर्वदमन २५३।
सर्वश्राव्य २४२।
सरलता (शैली में) ३३८।
सट्टक २७१।
सहज ज्ञान २७९।
सांसारिक पदार्थों का अनुभव १३; सांसारिक पदार्थों का आंतरिक ज्ञान १४; सांसारिक पदार्थ का बाह्य ज्ञान १४; सांसारिक पदार्थों की उपयोगिता और सुंदरता २।
सान्निध्य ३३४-३५।
साम्य ३३४-३३५।
साहित्य १४, १७, ६४; आत्माभिव्यंजन संबंधी साहित्य २८; साहित्य और इतिहास में अन्योन्याश्रय संबंध ४६; साहित्य और काव्य २२; साहित्य और जातीयता ४१; साहित्य और शैली ६२; साहित्य का अध्ययन ५०; साहित्य का अर्थ १९; साहित्य का क्रमप्राप्त इतिहास ४६; साहित्य का प्रभाव १६; साहित्य का

विकास ५६; साहित्य का विवेचन ४६; साहित्य की उपयोगिता १८; साहित्य के भेद १५२; साहित्य पर अंग्रेजों का प्रभाव ६१; साहित्य पर जातीय स्थिति की छाप ५६; साहित्य पर मुसलमानों का प्रभाव ६०; साहित्य पर यूनानियों का प्रभाव ६०; साहित्य पर विदेशी प्रभाव ५९, ६०; साहित्य की विवेचना ६१; साहित्य में मूर्त आधार १७; साहित्य संबंधी शास्त्र ६४।

साहित्यदर्पण २०।

साहित्य शास्त्र २०, ६५; साहित्य शास्त्र का काम २१५; साहित्य शास्त्र का स्वतंत्र अध्ययन ६५; साहित्य शास्त्र और काव्य ६६।

साहित्यालोचन २८।

साहित्यिक यात्रा ५०।

सीताराम २२४।

सुंदरता का आदर्श ३-४; सुंदरता का आविर्भाव ३।

सुतनुका नर्त्तकी १९७।

सूच्य (कथावस्तु का भेद) २२३-२४।

सृष्टि की उपयोगिता और सुंदरता १; सृष्टि में सापेक्षिक गुण १।

सेनापति ८७।

सौंदर्य का अनुराग २६।

सौंदर्य-विवेकी भाव २९३।

स्काट २५८।

स्थायी भाव ३०२-०४; स्थायी भाव और रस ३०४; स्थायी भावों की संख्या ३०४-०८।

स्थायी साहित्य के गुण ३६५ ६८।

स्मरण, ज्ञान की अवस्था २७९; स्मरण शक्ति और कल्पना २८०।

स्वगत कथन २४२-४५।

हरिवंश पुराण १८४।

हरिश्चंद्र ६३, २०१, २२३।

हर्ष (नाटककार) २०१।

हल्लीश (उपरूपक) २७१।

हिंदी कविता का पतन ५४।

हिंदी साहित्य में भावव्यंजना ५४; हिंदी साहित्य का इतिहास ५२; हिंदी साहित्य की गति ५२।

हिंदी के प्राचीन ग्रंथों का प्रकाशन २७

हृदयोद्गार, आत्मनिवेदन विषयक २८

होली १६, होली के स्वाँग २०९।

साहित्य-रत्न-माला की दूसरी पुस्तक

भाषा-विज्ञान

[लेखक—राय बहादुर बा० श्यामसुन्दरदास बी० ए०]

मनुष्य किस प्रकार भाषण करता है, उसके भाषण का किस प्रकार विकास होता है, उसके भाषण और भाषा में कब, किस प्रकार और कैसे कैसे परिवर्त्तन होते हैं, किसी भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्द आदि किन किन नियमों के अधीन होकर मिलते हैं, कैसे तथा क्यों समय पाकर किसी भाषा का रूप ही और का और हो जाता है, आदि अनेकानेक प्रश्नों का बहुत ही सरल, स्पष्ट और मनोहर निराकरण इस भाषा-विज्ञान नामक पुस्तक में किया गया है। यदि आप भाषा-विज्ञान तथा भारत की प्राचीन और आधुनिक भाषाओं का और विशेषतः हिन्दी भाषा का वास्तविक स्वरूप और पुराना इतिहास जानना चाहते हों तो यह ग्रन्थ पढ़ें। मूल्य ३)

साधारण पाठकों और विद्यार्थियों के सुभीते के लिये हमने "हिंदी भाषा का विकास" नाम की एक छोटी पुस्तक अलग भी छपवा ली है। इसमें भाषा-विज्ञान के दसवें अध्याय की तो सब बातें लिखी ही गई हैं, पर साथ ही आरंभ में विषय को स्पष्ट करने के लिये प्राचीन भारतीय आर्य्यों के भारत-आगमन तथा संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का संक्षिप्त इतिहास भी दे दिया गया है। हिंदी भाषा का इतिहास और स्वरूप समझने में आपको जितनी अधिक सहायता इस पुस्तक से मिलेगी, उतनी शायद ही किसी और हिंदी पुस्तक से मिल सकेगी।

रामचन्द्र वर्म्मा,
साहित्य-रत्न-माला कार्य्यालय,
बनारस सिटी।

नीचे लिखे स्थानों से यह पुस्तक मिल सकती है—

(१) रामचन्द्र वर्म्मा, साहित्य-रत्न-माला कार्य्यालय, काशी।

(२) हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्य्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई।

(३) हिन्दी मन्दिर, प्रयाग।

(४) गंगा पुस्तकमाला कार्य्यालय, अमीनाबाद, लखनऊ।

(५) नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, चौक, बनारस।